वाक्यपदीयम्

(ब्रह्मकाण्डम्)





चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-१

THE

KASHI SANSKRIT SERIES.

124



(Vyākaraṇa Section, No. 15)



THE

VĀKYAPADĪYA

A TREATISE ON THE PHILOSOPHY OF SANSKRIT GRAMMAR

BY

BHARTRĪ HARI

(BRAHMA KĀNDA)

with the

BHĀVAPRADĪPA SANSKRIT COMMENT..RY & NOTES

BY

Nyāya–Vyākaraṇāchārya

Pt. S'rī Sūryanārāyana S'ukla

Professor. Govt. Sanskrit College, Varanasi

EDITED WITH HINDI COMMENTARY ETC.,

By

Nyāya-Vyākaraṇa-Sāhityāchārya

Pt. S'rī Rāmagovinda S'ukla



THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

POST BOX 8, VARAṆASI-1 (INDIA)

1961

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

किञ्चिन्निवेदनम्

अयि श्रद्धेया विपश्चिदपश्चिमा दार्शनिकशिरोमणयो वैयाकरणाः !

सुविदितमेवेदं तत्र भवतां भवतां यद् व्याकरणसिद्धान्तभूतस्य शब्दब्रह्मवादस्य निरूपणाय प्रवृत्तं श्रीमतो महावैयाकरणस्य भर्तृहरेः कृतिर्वाक्यपदीयं नाम, यन्महावैयाकरणैः कैयटनागेशादिभिः स्वस्वनिबन्धेषु भूयस्समादृतम्, दर्शनान्तराचार्यैः कुमारिलशङ्कराचार्यवाचस्पतिमिश्रादिभिर्भूयः समालोचितं च । तस्य परमोपादेयतामालोच्य तत्तत्परीक्षाध्यक्षैर्व्याकरणाचार्यपरीक्षायां निवेशिततया तस्य यथार्थमर्थावबोधाय सरलव्याख्यामन्विष्यद्भिश्छात्रैस्तदलाभेन प्रार्थितेन मया *वाक्यपदीयभावप्रदीप*नाम्नी व्याख्या विरच्य विश्वेश्वरचरणकमलयोः समर्प्य भवतां करकमलयोरुपहारीक्रियत इति ।

भवदीयस्य

सूर्यनारायणशुक्लशर्मणः ।

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१२४





(व्याकरणविभागे (१५) पञ्चदशं पुष्पम्)



महावैयाकरणश्रीभर्तृहरिविरचितं

वाक्यपदीयम्

(ब्रह्मकाण्डम्)

भूतपूर्वकाशीस्थराजकीयप्रधानपाठशालाध्यापक-
न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्यपण्डितश्रीसूर्यनारायणशुक्लेन
स्वप्रणीतेन भावप्रदीपाख्यव्याख्यानेन टिप्पणेन च
समलंकृतम्

तत्पुत्रेण
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयपण्डितेन
न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्यश्रीरामगोविन्दशुक्लेन
हिन्दीव्याख्यया विशिष्टया भूमिकया च
समलंकृत्य सम्पादितम्



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, संवत् २०१८.

मूल्य : ४–५०

Phone 3145



प्राक्कथन

(द्वितीय संस्करण)

व्याकरणशास्त्र के ज्ञाताओं को यह सदा स्मरण है कि जैसे व्याकरण एक वेदाङ्ग है वैसे वह एक दर्शन भी है। हमने व्याकरण के **'रक्षोहागमलघ्व-संदेहाः प्रयोजनम्'** के द्वारा पाँच प्रयोजनों की जानकारी प्राप्त की। इन पाँचों प्रयोजनों की पूर्ति व्याकरण से होती है। प्रकृति-प्रत्यय, प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थ, और उनका सम्बन्ध जान लेने से वेदाङ्ग होने का कार्य पूरा हो जाता है। किन्तु इसका केवल प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थ आदि के ज्ञान द्वारा वेदार्थज्ञान मात्र प्रयोजन नहीं है, व्याकरणशास्त्र शब्दों के साधुत्वज्ञान द्वारा साक्षात् मोक्षप्रद भी है—**'इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः'** यह व्याकरण विद्या ही मुक्ति चाहने वालों के लिए एक उत्तम मार्ग है।

ऊपर हमने कहा कि व्याकरण वेदाङ्ग के अतिरिक्त एक दर्शन भी है। हम यहाँ उसके वेदाङ्ग होने के विषय में विशेष नहीं कहेंगे किन्तु दोनों धाराओं को स्पष्ट करने के विचार से सामान्य रूप में विचार करना आवश्यक है।

व्याकरण के सूत्रों के रचयिता पाणिनि ने प्राचीन व्याकरणों की अपेक्षा यही एक विशेषता लाई कि व्याकरण किसी दार्शनिक आधार पर बना है। उसकी व्याख्या अनेक व्याख्याकारों ने की किन्तु कात्यायन के वार्तिकों में व्याकरणदर्शन की झलक रही जिसे व्याडि ने अपने एक लक्ष श्लोकों के संग्रह में बड़ी व्यवस्था से वर्णित किया। यही संग्रह वास्तव में व्याकरण का दर्शनस्रोत है।

यद्यपि अपनी विशाल आकृति के कारण ही वह वैयाकरणों में बहुत दिन नहीं टिक सका तथा आज उसका नाम मात्र ही अवशिष्ट है फिर भी महर्षि पतञ्जलि ने उन सिद्धान्तों के वीज की अपने महाभाष्य में रक्षा की और उनके वाद के विद्वानों ने उन्हें विस्तृत किया। उन्हीं में महावैयाकरण भर्तृहरि भी हैं जिन्होंने वाक्यपदीय ग्रन्थ में पूरे 'व्याकरणदर्शन' का उत्तम रीति से चित्रण किया। यह ग्रन्थ समस्त उपलब्ध है या नहीं यह कहना भी कठिन है फिर भी ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड और पदकाण्ड में जो कारिकाएँ उपलब्ध हैं उनकी कुल संख्या दो सहस्र के मध्य में ही है। हमारी अपनी धारणा है कि यह ग्रन्थ दो हजार श्लोकों से अधिक न रहा होगा। आज जो १४० के लगभग कारिकायें कम हैं वे ही कहीं इधर-उधर नष्ट हो गई हैं।

इस अनुमान की पुष्टि में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि व्याकरण-दर्शन जो एक लक्ष श्लोकों में बिखरा था आचार्य भर्तृहरि ने उसे दो हजार श्लोकों में किया हो और व्याकरण के इस अगाध सागर को क्रीडा-पुष्करिणी बनाया हो, क्योंकि इनके परवर्ती विद्वान् आचार्य सायण ने 'जैमिनीय-न्यायमाला' का दो हजार श्लोकों में संग्रह किया है और आरम्भ में ही लिख दिया है—

'सर्वथापि सहस्रे द्वे नातिक्रामति संग्रहः।
मीमांसासागरस्तेन क्रीडापुष्करिणी भवेत् ॥'

सम्भव है वाक्यपदीय के श्लोकों की संख्या दो सहस्र देख कर ही उनकी यह प्रवृत्ति हुई हो। कुछ भी हो, यह वाक्यपदीय व्याकरण के दर्शनस्रोत का आज उपलब्ध आधारभूत है। हम व्याकरण की अष्टाध्यायी से जैसे शब्दों के साधुत्व का ज्ञान करते हैं—काशिका अथवा सिद्धान्तकौमुदी व्याख्याओं के आधार पर, वैसे ही इस वाक्यपदीय के द्वारा ही हमें व्याकरण के दर्शनरूप का प्रत्यक्ष होता है। वैयाकरणभूषणसार, वैयाकरणलघुसिद्धान्तमंजूषा, वैयाकरणसिद्धान्त-सुधानिधि आदि किसी भी ग्रन्थ में व्याकरण के दर्शन रूप का हम जो प्रत्यक्ष करते हैं उसका आधार हमें वाक्यपदीय में ही मिलता है।

इन सब स्थितियों के रहते हुए भी यह अत्यन्त खेद का विषय है कि इस युग के वैयाकरणों में इस ग्रन्थ के प्रति आकर्षण नहीं है। आज कम वैयाकरण हैं जिन्हें पूरा वाक्यपदीय ग्रन्थ देखने को प्राप्त हो। आश्चर्य होगा यह सुनकर भी कि कुछ कारिकायें शैवागम की हैं, जैसे **'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी'**। इस कारिका को वाक्यपदीय की कारिका समझ कर इस युग के कुछ प्रकाण्ड वैयाकरणों ने पिताजी द्वारा लिखित वाक्यपदीय भावप्रदीप टीका की **'वैखर्या मध्यमायाश्च'** इत्यादि कारिका की व्याख्या पर क्षोदक्षेम करके परा वाक् सिद्ध करने का पूरा दुःसाहस भी कर डाला है। स्वयं तो नहीं किन्तु एक पण्डित ने पुत्र के नाम से एक लेख भी 'सारस्वती-सुषमा' में मुद्रित कराया है।

इस प्रकार व्याकरणदर्शन का जीवनभूत यह ग्रन्थ लोगों की दृष्टि से परे रहा फिर भी पूज्य पिता श्रीसूर्यनारायण शुक्लजी ने चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष श्री बाबू जयकृष्णदासजी की प्रार्थना पर वाक्यपदीय ग्रन्थ पर भावप्रदीप नाम की टीका रच डाली। इस टीका के रचने में उन्होंने कितना परिश्रम किया है यह तो टीका देखने से ही पता चलेगा। किन्तु इतना बता देना अनुचित नहीं है कि व्याकरण के दर्शनरूप का प्रत्यक्ष होने में बाधा नहीं रहेगी।

इस हिन्दीकरण के युग में छात्र हिन्दी टीका की विशेष माँग करने लगे, अतः मैंने इसकी संक्षिप्त हिन्दी व्याख्या लिख दी है जो पिताजी के वाक्यों का संक्षिप्त हिन्दी भाषान्तर मात्र है। 'वाक्यपदीय ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के विषय में एक लेख भी प्रस्तुत है जिसे पढ़ने पर इस ग्रन्थ के मन्थन से निकले रत्नों का परिचय प्राप्त होगा।

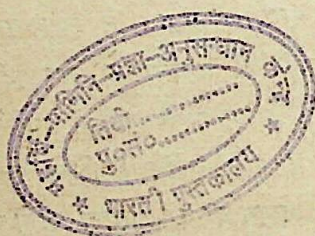
इस अवसर पर मैं श्री बाबू जयकृष्णदासजी (अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी) को विशेष शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ पर कुछ लिखने का अवसर प्रदान किया है।

अन्त में भगवान् विश्वनाथ के करकमलों में इस ग्रन्थरत्न को अर्पण करता हुआ विज्ञजनों से अपनाने की प्रार्थना करता हूँ। यदि मेरे इस परिश्रम से किसी भी विद्वान् को कुछ सन्तोष होगा तो मैं आनन्दित होऊँगा।

पाठकों से निवेदन है कि प्रेस की असावधानी से अथवा मेरे ही नेत्रदोष या बुद्धिदोष से कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो सुधार कर मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे।

विजयादशमी }
२०१८ विक्रम }

विद्वानों के स्नेह का पात्र
रामगोविन्द शुक्ल





भूमिका

आचार्य भर्तृहरि और उनका वाक्यपदीय

वैयाकरणों की परम्परा में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के बाद जिनका नाम बड़े आदर और सम्मान से लिया जाता है वे भर्तृहरि हैं। इन्होंने किस समय भारतभूमि को अलंकृत किया अथवा इनके द्वारा भारत भू और भारती ने कब अपना गौरव बढ़ाया यह कहना अत्यन्त कठिन है। इन्होंने अपने परिचय के लिये भी कुछ नहीं लिखा है। केवल इनके परवर्ती विद्वानों ने जहाँ कहीं इनका नाम ग्रहण किया है उसी से इनके पूर्ववर्ती होने का अनुमान किया जा सकता है।

परिचय

आचार्य भर्तृहरि ने अपने परिचय के लिये जो लिखा है वह वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में ही कुछ है।

जैसे—

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्। संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्। तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थित निश्चयः॥
वैजिसौभवहर्य्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः। आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः। काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्। प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः॥

जब व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थियों में आलस्य आ गया, वे संक्षिप्त अध्ययन और अल्प विद्या से ही सन्तुष्ट होने लग गए तब व्याडि रचित एक लक्ष श्लोक का संग्रह ग्रन्थ लुप्त हो गया। उस समय भगवान् पतञ्जलि को दया आई और तीर्थदर्शी इस विद्वान् ने समस्त न्याय बीजों का संग्रह करके व्याकरण शास्त्र पर महाभाष्य की रचना की, जो इतना गम्भीर है कि थाह लगाना कठिन है और इतना सरस और मनोरम है कि छिछला लगता है। अकुशल विद्वानों के लिए तो उसके स्वरूप का ठीक परिज्ञान ही नहीं हो सकता। बैजि, सौभव और हर्य्यक्ष आदि ने व्याकरणागम के रहस्य को न समझ कर केवल शुष्क तर्क द्वारा आर्ष ग्रन्थ की छीछालेदर कर डाली। इस प्रकार पतञ्जलि के शिष्यों से व्याकरणागम भ्रष्ट होकर दाक्षिणात्यों के घर में केवल ग्रन्थ के रूप में आलमारी की शोभा बढ़ाने लगा। फिर चन्द्राचार्य प्रभृति विद्वानों ने (त्रिकूट पर्वत पर स्थिर त्रिलिंग देश से रावण रचित मूलभूत व्याकरणागम जिसे किसी ब्रह्म राक्षस ने चन्द्राचार्य और वसुरात प्रभृति विद्वानों को दिया था प्राप्त करके) प्रचार किया तथा उसमें अनेक शाखायें बनीं। मेरे गुरुजी ने, जो वाक्यपदीय टीका के आधार पर वसुरात कहे जा सकते हैं, आगम संग्रह बनाया।'

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि के बहुत दिनों के बाद आचार्य भर्तृहरि का जन्म माना जाना चाहिए तथा वसुरात के शिष्य भर्तृहरि ने यह ग्रन्थ रचा।

काल

आचार्य भर्तृहरि किस काल में हुए यह कहना तो अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव है। आजकल के विद्वानों ने चीनी यात्री इत्सिंग के कथनानुसार भर्तृहरि का समय विक्रम के सप्तम शतक का अन्त अथवा अष्टम शतक का आरम्भ स्वीकार किया है। इत्सिंग ने लिखा है कि 'उस भर्तृहरि की मृत्यु हुए चालीस वर्ष बीत चुके थे।' किन्तु यह कथन असत्य सिद्ध हो जाता है जब काशिका के ४।३।८८ सूत्र के उदाहरण में वाक्यपदीय ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यह संवत् ६८० से ७०१ के मध्य लिखा गया है। कातन्त्र व्याकरण की दुर्गसिंह कृत वृत्ति काशिका से प्राचीन सिद्ध हो चुकी है क्योंकि सायण ने काशिका के ७।४।९३ सूत्र पर दुर्गसिंह की वृत्ति के खण्डन की बात लिखी है। दुर्गसिंह ने वाक्यपदीय की एक कारिका ३।२।४१ सूत्र पर उद्धृत की है जिससे भर्तृहरि की दुर्गसिंह से भी प्राचीनता सिद्ध होती है।

शतपथ ब्राह्मण की टीका में हरि स्वामी ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उत्तरार्ध उद्धृत किया है। इनका समय इनके निम्नलिखित श्लोक से परिज्ञात होता है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

इसके अनुसार हरिस्वामी का समय ३७४० कलिगताब्द अथवा वि० सं० ६९५ में पड़ता है। जैसा मीमांसकजी ने अपने इतिहास में लिखा है वह खींचातानी न भी की जाय तो कोई कठिनाई न होगी।

तन्त्रवार्तिक के अ० १ पा० ३ अ० ८ में वाक्यपदीय की २।१३ कारिका को उद्धृत कर कुमारिल भट्ट ने भर्तृहरि को अपना पूर्ववर्ती सिद्ध किया है।

अष्टाङ्ग संग्रह के टीकाकार वाग्भट्ट का शिष्य इन्दु उत्तर तन्त्र अ० ५० की टीका में लिखता है—

तासु च तत्र भवतो हरेः श्लोको—
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ इत्यादि

यह कारिका वाक्यपदीय के २।३१५-३१६ में उपलब्ध है। काशी संस्करण में दूसरा भाग त्रुटित है जो अशुद्धि पत्र में छपा है। वाग्भट्ट का काल ऐतिहासिकों ने चन्द्रगुप्त का काल माना है। पाश्चात्य ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल वि० सं० ४३७–४७० तक स्थिर करते हैं। इस प्रकार भर्तृहरि का समय वि० सं० ४०० के पश्चात् मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

जनश्रुति

विक्रमादित्य, जिन्हें उज्जैन मालवगण राज्य का राजा कहा जाता है, उनके भाई के रूप में भर्तृहरि का स्मरण लोग करते हैं। भर्तृहरि के योगी होने की बात प्रायः अधिक प्रसिद्ध हैं। उज्जैन के किले में भर्तृहरि की गुफा है जिसकी सरकार ने खुदाई की है। चुनार के किले में भी भर्तृहरि गुफा प्रसिद्ध है। यह किला भी विक्रमादित्य का बनवाया हुआ कहा जाता है। इससे यह तो सिद्ध होने लगता है कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य में कोई सम्बन्ध अवश्य है। कुछ भी हो एक उच्चकोटि का वैदिक विद्वान् भर्तृहरि अवश्य बहुत प्राचीन विद्वान् है।

इत्सिंग का मत

चीनी यात्री इत्सिंग ने—जिसने सप्तमी शती ई० के अन्त में भारत यात्रा की थी, लिखा है कि 'हमारे भारत पहुँचने के ४० वर्ष पूर्व लगभग ६५१ ई० में भर्तृहरि नामक एक वैयाकरण की मृत्यु हो गई थी जो निश्चय ही भारतीय व्याकरणशास्त्र की अन्तिम मौलिक कृति वाक्यपदीय का लेखक था।' इनके सम्बन्ध में इत्सिंग कहता है कि 'उसका मन विरक्त तथा गृहस्थ जीवन में सदा दोलायमान रहता था और वह सात बार मठ और संसार के बीच में आता जाता रहा। जैसा कि बौद्धों के लिए अनुज्ञात है। एक अवसर पर जब वह बौद्ध विहार में प्रवेश कर रहा था उसने एक विद्यार्थी से अपने लिए बाहर रथ सज्जित रखने के लिए कहा जिससे कि उसके दुःसाध्य निश्चय पर यदि सांसारिक इच्छायें काबू पा जाँय तो वह रथ पर चढ़ कर जा सके।' (संस्कृत साहित्य का इतिहास, कीथ)

इत्सिंग को भले ही किसी ने भुलावा में डाल दिया हो अथवा किसी भर्तृहरि नाम के वैयाकरण की उस समय मृत्यु भी भले ही हो गई हो और वह बौद्ध तथा जैसा इत्सिंग ने समझा वैसा ही रहा हो। किन्तु वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के विषय में इत्सिंग का कहना अत्यन्त असत्य है, क्योंकि जैसा मैं आगे भर्तृहरि को वैदिक सिद्ध करने चल रहा हूँ उन युक्तियों से भर्तृहरि को कथमपि बौद्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता।

किसी पाठक के लेख का हवाला देकर श्रीकीथ ने लिखा है कि 'बड़े ठोस साक्ष्य के आधार पर यह दिखाया जा चुका है कि इत्सिंग का कथन भ्रम पूर्ण नहीं है।' हमने बड़ा प्रयत्न किया कि पाठक का लेख मिले और उसमें देखा जाय कि किन तर्कों पर उन्होंने आचार्य भर्तृहरि को बौद्ध सिद्ध किया है किन्तु पत्रिका 'सरस्वतीभवन पुस्तकालय' में भी उपलब्ध न हो सकी।

भर्तृहरि रचित ग्रन्थ

आचार्य भर्तृहरि के रचित निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते हैं—

(१) महाभाष्यदीपिका (महाभाष्यटीका)
(२) वाक्यपदीय (३ काण्ड)
(३) वाक्यपदीयटीका (१–२ काण्ड)
(४) भट्टिकाव्य
(५) भागवृत्ति
(६) सुभाषितत्रिशती



इनके अतिरिक्त तीन ग्रन्थों के नाम और उपलब्ध हैं जो भर्तृहरि रचित कहे जाते हैं—

(१) मीमांसाभाष्य।

(२) वेदान्तसूत्रवृत्ति।

(३) शब्दधातुसमीक्षा।

इन ग्रन्थों के भर्तृहरि रचित होने के लिए कुछ कहना आवश्यक है जो हम आगे कह रहे हैं।

युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में प्रथम तीन तथा चार और द्वितीय तीन ग्रन्थों को भर्तृहरि रचित सिद्ध किया है। भट्टिकाव्य और भागवृत्ति किसी अन्य भर्तृहरि की रचित हैं कहा जा सकता है। मीमांसक जी ने अनेक उदाहरणों के द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि भर्तृहरि और भागवृत्तिकार एक नहीं हो सकते। एक तो भाषा भिन्न है दूसरे सिद्धान्त भी भिन्न हैं। कहीं-कहीं भर्तृहरि का खण्डन भी है अतः दोनों का एक मानना अयुक्त है। यह भी सम्भावना हो सकती है कि आचार्य भर्तृहरि के नाम से कई विद्वान् प्रसिद्ध हुए हों।

क्या भर्तृहरि बौद्ध थे ?

चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि 'वाक्यपदीय और महाभाष्य व्याख्या का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था, उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी।'

किन्तु वाक्यपदीय ग्रन्थ के देखने से पता चलता है कि 'वाक्यपदीयकार और महाभाष्य की टीका का रचयिता आचार्य भर्तृहरि वैदिकधर्म का अनुयायी था और उसने कभी भी बौद्धधर्म नहीं स्वीकार किया था।' इसे हम सप्रमाण सिद्ध कर रहे हैं—

(१) वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के आरम्भ में लिखा है कि—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ १॥
एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥ २॥
प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्॥ ३॥

इन कारिकाओं द्वारा जिसने अनादि और अनन्त शब्दब्रह्म का विवर्त जगत् को स्वीकार किया और उस ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय महर्षियों के अभ्यस्त वेद को स्वीकारा वह क्षणिक विज्ञानवादी और वेदबाह्य बौद्ध कैसे कहा जा सकता है।

(२) आचार्य भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म तथा काल शक्ति उसकी स्वतन्त्र शक्ति को स्वीकार किया है—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥ १।३॥
तमस्य लोकतन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते॥ ३।४॥ (कालसमुद्देश)

इन कारिकाओं से ब्रह्म को शक्ति से अभिन्न और शक्ति का आश्रय भी स्वीकार किया है। यह सिद्धान्त बौद्धों का कभी भी नहीं है।

(३) आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण को स्मृति और ब्रह्मप्राप्ति का साधन स्वीकार किया है—

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ १।२२ ॥

(४) स्मृतियों को वेद मूलक स्वीकार किया है—

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ १७ ॥

(५) व्याकरण को वेद का मुख्य अंग स्वीकार किया गया है—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामंगं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ १।११ ॥

(६) शब्द ब्रह्म को छन्दोमयी तनु कहा गया है—

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्माछन्दोमयीं तनुम् ॥ १।१७ ॥

(७) वेद शब्द से ही जगत् की उत्पत्ति है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ १।१२० ॥

(८) प्राणियों में चेतना शक्ति भी शब्द ही है—

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥ १।१२६ ॥

(९) समस्त आगम कर्तृक है उनका विनाश भी ध्रुव है । किन्तु समस्त आगमों का मूल त्रिवेदी सदा व्यवस्थित और नित्य है—

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते ।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता ॥ १।१३३ ॥

(१०) वेद और शास्त्र मूलक तर्क ही नेत्र है—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् ।
रूपमात्रद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते ॥ १।१३६ ॥

(११) भर्तृहरि ने आत्मा को नित्य स्वीकार किया है—

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि ।
द्रव्यामित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ॥ द्रव्यसमुद्देशः ॥

इन समस्त प्रमाणों को देखकर तथा वाक्यपदीय की दार्शनिक पृष्ठभूमि को देखकर कोई भी नहीं स्वीकार कर सकता कि आचार्य भर्तृहरि बौद्ध थे अथवा उनके हृदय में बौद्धधर्म के प्रति कोई आस्था या राग रहा हो । अतः आचार्य भर्तृहरि को बौद्धधर्मावलम्बी कहने में इत्सिंग ने भूल की है । सम्भवतः उसने किसी बौद्ध भर्तृहरि के विषय में कुछ सुना हो और वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों का उसीसे सम्बन्ध जोड़ दिया हो, क्योंकि कोई भी विद्वान् वाक्यपदीय ग्रंथ को देखकर अथवा शतकत्रय देखकर भर्तृहरि को बौद्ध कहने का साहस नहीं करेगा ।

वाक्यपदीय

आचार्य भर्तृहरि रचित अनेक ग्रन्थों का नाम पीछे बतलाया जा चुका है। हम इस प्रकरण में उनके समस्त ग्रन्थों का न तो परिचय देंगे न उन पर कुछ विचार ही करेंगे किन्तु प्रकृत ग्रन्थ वाक्यपदीय के विषय में कुछ परिचयात्मक विचार व्यक्त करने चल रहे हैं।

वाक्यपदीय नाम

आचार्य भर्तृहरि ने इस ग्रंथ का नाम वाक्यपदीय रखा जिसका अर्थ है कि वाक्य और पद के विषय में विचार के लिए आरम्भ ग्रन्थ (**वाक्यं च पदं च वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम्**)। इस वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं इसीलिए इसे त्रिकाण्डी भी कहा गया है।

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गङ्गाधर शास्त्री मानवल्ली ने काशी संस्करण की भूमिका में लिखा है कि 'वाक्य और पद विचारक ग्रन्थ होने के कारण दो काण्ड की ही 'वाक्यपदीय' संज्ञा है, यह बात द्वितीय काण्ड के अन्तिम श्लोकों से ही व्यक्त हो जाती है जो ग्रन्थ-समाप्ति में लिखे गये हैं। तृतीय काण्ड तो कारक आदि विचार परक है अतः आरम्भ के दो काण्डों को ही 'वाक्यपदीय' स्वीकार करना चाहिए।' इधर जो वाक्यपदीय पर स्वोपज्ञ टीका प्राप्त हुई है वह भी दो काण्डों पर ही है, यह भी सिद्ध करता है कि आचार्य भर्तृहरि ने प्रथम और द्वितीय काण्ड को ही 'वाक्यपदीय' के रूप में स्वीकार किया हो। द्वितीय काण्ड की—

वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद् वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥ २।४८४ ॥

कारिका में आचार्य भर्तृहरि ने स्वयं तृतीय काण्ड रचने की प्रतिज्ञा भी की है। इससे तृतीय काण्ड के भर्तृहरि रचित होने में कोई विवाद नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि वाक्यपदीय पूर्ण है किन्तु तृतीय काण्ड में उन्हीं सिद्धान्तों पर विशद विचार है। अतः यह कहना कि 'वाक्यपदीय' दो काण्डों में पूर्ण नहीं है असंगत है। तृतीय काण्ड के बिना दो काण्ड अधूरे हैं यह कहना संगत हो सकता है। इसीलिए प्राचीन विद्वानों ने (स्वयं हेलाराज तथा वाक्यपदीयकार ने) तृतीय काण्ड को 'वाक्यपदीय' का पूरक माना है और इसीलिए उसे प्रकीर्ण काण्ड भी कहा जाता है। अतः हम श्री चारुदत्त शास्त्री के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि 'तृतीय काण्ड वाक्यपदीय का मुख्य अंग है, प्रकीर्ण नहीं।'

वाक्यपदीय कारिकायें

वाक्यपदीय की प्रत्येक कारिका भाष्य के किसी न किसी वाक्य को आधार मानकर रची गई है। जैसे भाष्य के त्रिपादी में 'यथाऽम्बाम्बेति शिक्षमाणो बालोऽन्यथोच्चारयति' इसको आधार मानकर—

अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणो प्रभाषते ।
अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्तं भवति निश्चयः ॥ इत्यादि ॥

इस पर विशेष रूप से अनुसन्धान अपेक्षित है कि भाष्य के किन सिद्धान्तों के आधार पर किस कारिका का निर्माण हुआ है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'वाक्यपदीय' की समस्त कारिकायें आचार्य भर्तृहरि रचित नहीं हैं किन्तु बहुत सी कारिकायें संग्रह ग्रन्थ से ले ली गई हैं। यह कोई असम्भव नहीं है। सम्भवतः व्याकरणागम की रक्षा को ध्यान में रखकर ग्रन्थ निर्माण प्रवृत्त ग्रन्थकार ने अपने पूर्ववर्ती संग्रह अथवा गुरु रचित आगम संग्रह के श्लोकों का संग्रह किया हो। कुछ भी हो वाक्यपदीय की कारिकायें व्याकरण शास्त्र की दर्शन शाखा के लिए आधार स्तम्भ हैं।

आज जो वाक्यपदीय कारिकायें उपलब्ध हैं उनकी तालिका इस प्रकार है। ब्रह्मकाण्ड १५६, वाक्यकाण्ड ४८६, पदकाण्ड १२१८, वाक्यपदीय के कई संस्करणों में कुछ कारिकायें अधिक उपलब्ध होती हैं किन्तु हमने जो अभी तक वाक्यपदीय कारिकाओं का संग्रह किया है वह कुल १८६० है। हमारी अपनी राय है कि वाक्यपदीय की लगभग १४० कारिकायें नष्ट हो गई हैं। यह ग्रन्थ दो सहस्र श्लोकों से अधिक का न रहा होगा। हम यह भी सोच सकते हैं कि जैसे व्याकरणसागर को आचार्य भर्तृहरि ने दो सहस्र श्लोकों मेंसंगृहीत किया वैसे ही आचार्य सायण ने 'जैमिनीयन्याय माला' संग्रह किया हो और सायण को वाक्यपदीय से प्रेरणा मिली हो।

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड की कारिका ७९ में पुष्पराज ने लिखा है कि **'एतेषां वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।'** इस उद्धरण से पता चलता है कि लक्षणसमुद्देश्य नाम का कोई प्रकरण वाक्यपदीय का अभी अनुपलब्ध है।

इसी कारिका की व्याख्या में पुण्यराज लिखते हैं कि **'यस्मादुक्तम्। सेयमपरिमाणविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते'** यह बाधा समुद्देश भी अभी तक अनुपलब्ध है। इसी प्रकार—

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम्। ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते॥
पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ। तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते॥

इत्यादि कारिकाओं को भर्तृहरि के नाम से आचार्य भट्टोजी दीक्षित प्रभृति ने स्मरण किया है किन्तु ये ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं। इससे यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ की खोज अभी बन्द नहीं होनी चाहिये।

वाक्यपदीय टीकायें

आचार्य भर्तृहरि की वृत्ति

वाक्यपदीय ग्रन्थ में व्याकरणागम का यथार्थ रूप प्रकट है। यह शुद्ध कारिका के रूप में रचा गया है। कारिकायें कण्ठ करने में सरल तो पड़ती हैं किन्तु पूर्ण विषय का विवेचन उनमें नहीं हो पाता इसीलिए सर्वप्रथम वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने ही आरम्भ के दो काण्डों पर विवरण लिखा है। आचार्य मम्मट, न्यायमञ्जरीकार जयन्त आदि ने वृत्ति सहित कारिकाओं को वाक्यपदीय स्वीकारा है। मम्मट ने 'नहि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति' इस वाक्यपदीय पंक्ति का उल्लेख अपने काव्य प्रकाश में किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वाक्यपदीय पर सर्वप्रथम स्वयं ग्रन्थकार ने ही विवरण लिखा है।

यह वृत्ति अभी तक अमुद्रित थी किन्तु कुछ विद्वानों के प्रयत्न से ब्रह्मकाण्ड तथा

वाक्यकाण्ड का कुछ भाग मुद्रित हुआ है। इस वृत्ति के प्राप्त हो जाने से 'वाक्यपदीय' की कारिकाओं का आशय लगाना सरल तो हो ही गया साथ में अगले पण्डितों की व्याख्या में प्रामाण्य भी आ गया है।

प्रथम काण्डवृत्ति

यह एक विवाद का विषय बन गया है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय पर दो वृत्तियाँ रची थीं। एक लघुविवरण दूसरी बृहतीवृत्ति। दोनों वृत्तियाँ अब मुद्रित हैं। प्रथम वृत्ति चौखम्बा सीरीज़ में मुद्रित है, जिसके अन्त में लिखा है कि 'इति महावैयाकरणहरिवृषभविरचित-वाक्यपदीयप्रकाशे आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं प्रथमं समाप्तम्।' दूसरी वृत्ति लाहौर से मुद्रित है जिसके अन्त में लिखा है कि 'इति श्रीहरिवृषभमहावैयाकरणविरचिते वाक्यपदीये आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं समाप्तम्।'

इस प्रकार हरिवृषभकृत दो वृत्तियाँ ब्रह्मकाण्ड पर मुद्रित हैं। दोनों में यत्र तत्र अवतरण आदि में भेद भी है। लाहौर मुद्रित वृत्ति विशद है तथा उस पर एक वृषभदेव की टीका भी मुद्रित है, जिससे लाहौर संस्करण की अत्यधिक उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

पुण्यराज

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका भी चौखम्बा वाराणसी और लाहौर से मुद्रित है। यह टीका भर्तृहरि की वृत्ति के आधार पर रची गई है तथा वृत्ति से कुछ विशद है, वाक्यपदीय के तात्पर्य मात्र का निर्देश करती है। फिर भी टीका अत्यन्त उत्तम है।

इनका जन्मकाल क्या होगा यह कहना कठिन है क्योंकि इन्होंने अपने जन्म के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। केवल किसी काश्मीर के राजा राजानकशूरवर्म के समय में शशाङ्क के शिष्य से इन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया तथा यह टीका लिखी, यह इन्हीं की टीका के अन्तिम श्लोक से पता चलता है—

तत उपसृत्य विरचिता राजानकशूरवर्मनाम्ना वै।
शशाङ्कशिष्याच्छ्रुत्वैतद्वाक्यकाण्डं समासतः॥

वामन रचित अलंकार सूत्रवृत्ति के प्राचीनतम टीकाकार सहदेव ने अपने विषय में लिखा है कि—

चतुर्दशानामपि यः प्रसिद्धो विद्यास्थितीनां परपारदृश्वा।
शशाङ्कपूर्वधर इत्युदारं यन्नामलोके नितरां प्रसिद्धम्॥
तदीयशिष्यः सहदेवनामा कुले प्रसूतः खलु तोमराणाम्।
व्याख्यामिमां काव्यविचारशास्त्रे व्यधत्त लघ्वीमिह वामनीये॥
काश्मीरदेशादपशर्पतो मे शब्दानुशुद्धिं त्रिमुनिं निशम्य।

इससे पता चलता है कि कश्मीर के शशाङ्कधर के शिष्य सहदेव से ही पुण्यराज ने व्याकरण शास्त्र सीखा हो।

हेलाराज

वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड पर जो अभी तक मुद्रित है एक ही टीका हेलाराज की है। हेलाराज ही इस भाग पर प्रथम टीकाकार हैं यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वयं हेलाराज

ने ही अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। इनके भी समय का ठीक परिज्ञान नहीं हो सका है फिर भी इन्होंने जो कुछ अपने विषय में लिखा है उसीसे पर्याप्त प्रकाश मिलता है।

हेलाराज ने तृतीय काण्ड के अन्त में लिखा है कि—

मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमगमत्कश्मीरदेशे नृपः
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोच्छ्रीभूतिराजात्मजः॥

इससे पता चलता है कि कश्मीर देश के राजा मुक्तापीड के प्रधान मन्त्री लक्ष्मण के वंश में भूतिराज के पुत्र के रूप में हेलाराज ने जन्म लिया था। इससे लक्ष्मण के कितनी पीढ़ी के बाद हेलाराज ने जन्म लिया यह सन्दिग्ध ही रह जाता है। फिर भी बूहलर महोदय (जो अनेक प्राचीन पुस्तकों की खोज ही किया करते थे) ने अभिनव गुप्त रचित गीताभाष्य पुस्तक प्राप्त की, जिसमें अभिनव गुप्त ने भूतिराज के पुत्र भट्टेन्दुराज को अपना गुरु स्वीकार किया है। भूतिराज के पुत्र होने के कारण यह स्वीकार करना पड़ता है कि भट्टेन्दुराज और हेलाराज सोदर भाई थे। अभिनव गुप्त के काल के आधार पर हेलाराज का काल खीस्तीय दशम शतक का उत्तरार्ध स्वीकार किया जा सकता है।

राजतरंगिणीकार महाकवि कल्हण ने हेलाराज की एक श्लोक में चर्चा की है—

बद्धा द्वादशभिर्ग्रन्थसहस्रैः पार्थिवावलिः। प्राज्ञहाव्रतिना येन हेलाराजद्विजन्मना॥

डा० कीथ ने कल्हण का समय ई० की ११वीं शताब्दी स्वीकार किया है इससे भी स्पष्ट है कि हेलाराज उनसे पूर्ववर्ती रहे हैं।

हेलाराज ने सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर टीका रची है। इन्होंने स्वयं लिखा है कि **'काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः'**। प्रथम काण्ड की टीका का नाम इन्होंने **'शब्दप्रभा'** रक्खा था जैसा कि इन्होंने लिखा है कि **'विस्तारेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतम्।'**

हेलाराज ने वाक्यपदीय टीका रचने के पूर्व 'क्रियाविवेक' और 'वार्तिकोन्मेष' नाम के दो ग्रन्थों का भी निर्माण कर लिया था। जैसा कि उन्होंने तृतीय काण्ड की कई कारिकाओं की व्याख्या में निर्देश किया है।

१. तृतीय काण्ड जाति समुद्देश ५० कारिका की व्याख्या में लिखा है कि **'क्रियाविवेके विस्तरेणास्माभिरभिहितमिति तत एवावधार्यताम्।'**

२. क्रियासमुद्देश की १ कारिका की टीका के अन्त में **'फलतस्तु सामर्थ्याद्भवति क्रियाविवेके क्रियैव प्रधानभूता वाक्यार्थ इति निर्णीतं तत एवावधार्यम्।'**

इन अंशों तथा इसी प्रकार अनेक स्थानों पर अपनी कृति का क्रियाविवेक के नाम से स्मरण किया है।

३. वार्तिकोन्मेष की चर्चा तो लिंगसमुद्देश के अन्त में **'सिद्धान्तस्तु यथाभाष्यं गुणावस्थारूपं लिङ्गमित्यस्माभिः वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातं तत एवावधार्यम्।'**

४. द्रव्यसमुद्देश की १५वीं कारिका की टीका में इन्होंने अपने **'अद्वयसिद्धि'** नाम के ग्रन्थ की सूचना दी है। जैसे—**'कारणान्तरव्युदासश्चाद्वयसिद्धावभिहित इति सत्यर्थिस्वे तत एवावगन्तव्यः।'**

हेलाराज की टीका जो केवल तृतीय काण्ड की उपलब्ध है वह भी पूर्ण नहीं है। काशी से मुद्रित संस्करण में कई स्थलों पर लिखा है **'इतो ग्रन्थपातसन्धानाय फुल्लराजकृतिर्लिख्यते'**।

फुल्लराज

फुल्लराज ने वाक्यपदीय के कितने भाग पर टीका की यह अभी तक गवेषणा का विषय है। हाँ, टीका के कुछ भागों के देखने से पता चलता है कि वह टीका भी 'वाक्यपदीय' को सुबोध बनाने में अवश्य सहायक है। इनका क्या समय रहा होगा यह तो कहना असम्भव है तबतक जबतक उनके विषय में विशेष गवेषणा न हो।

सूर्यनारायण शुक्ल

वाक्यपदीय जैसा दार्शनिक ग्रन्थ है और उस पर जिस प्रकार की विवेचनापूर्ण टीका की आवश्यकता है उस प्रकार की एक भी टीका अभी तक नहीं रची गई है। जो टीकायें अभी तक बनी थीं वे किसी समय के लिए भले ही मार्गदर्शक रही हों किन्तु इस युग में जब 'वाक्यपदीय' का पठन-पाठन बन्द है और विद्वानों में 'बहुश्रुत' होने की प्रवृत्ति कम हो गई है वाक्यपदीय पर विशद टीका की आवश्यकता थी। आचार्य भर्तृहरि ने ही कहा है—

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वाशक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥

इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रख कर मेरे पूज्य पिता श्री शुक्ल जी ने 'भावप्रदीप' नाम की टीका रचनी आरम्भ की जो अनेक कारणवश ब्रह्मकाण्ड के आगे नहीं छप सकी।

श्रीशुक्लजी का जन्म १९५२ विक्रम में फैजाबाद जिले की अकबरपुर तहसील के निमदीपुर ग्राम में श्री पं० रामेश्वरदत्त शुक्ल के घर में हुआ था। इनके पिता अवध की रियासत दियरा के राजा रुद्रप्रतापशाहि के राजपण्डित थे। इन्होंने आरम्भिक शिक्षा अपने पिता से प्राप्त की और तदनन्तर राजगोपाल पाठशाला अयोध्या में श्री पं० चन्द्रधर पाण्डेय से व्याकरण-साहित्य, श्रीरामानुजाचार्य से शांकर, रामानुज वेदान्त तथा मीमांसा और श्रीश्रीदत्तजी पाण्डेय से नव्यन्याय का अध्ययन किया था। आपने काशी के जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में ४ वर्ष तक व्याकरण पढ़ाया और उसके बाद गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज वाराणसी में १४ वर्ष न्यायशास्त्र का अध्यापन किया तदनन्तर १९४४ के चैत्र (मार्च) में इस जगत् को छोड़ दिया।

आपके रचित ग्रन्थ—

१. बादरत्न (न्यास भाग) व्याकरण
२. बादरत्न (परिष्कार भाग) "
३. माध्वभ्रान्तिनिरास वेदान्त
४. माध्वमुखभंग "
५. निर्विकल्पतावाद निबन्ध
६ आशौचसंकरव्यवस्था धर्मशास्त्र

आपकी रचित टीकायें

१. मुक्तावलीमयूख — न्याय
२. तत्त्वचिन्तामणि (मंगलवाद) — ,,
३. तर्कसंग्रहदीपिकामयूख — ,,
४. वाक्यपदीय भावप्रदीप — व्याकरण
५. लघुमंजूषा (आकांक्षायोग्यता प्रकरण) — ,,
६. भाट्टचिन्तामणिमयूख — मीमांसा
७. खण्डनरत्नमालिका (खण्डनखाद्य टीका) — वेदान्त

इनके अतिरिक्त प्रायः १५ ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया जो चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय अथवा सरस्वतीभवन पुस्तकालय से मुद्रित हैं। ऊपर लिखे हुए ग्रन्थों में प्रायः समस्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज में मुद्रित हैं।

वाक्यपदीय पर अन्य टीकायें

वाक्यपदीय पर कुछ लोगों ने केवल छात्रों के लिए कुछ टीकायें रची हैं जो इतनी संक्षिप्त हैं कि इन्हें महत्त्व देना आवश्यक नहीं है। इनमें श्रीद्रव्येश झा तथा श्रीनारायणदत्त शास्त्री (नृसिंह) जी की टीका अवश्य उल्लेखनीय है।

इधर श्री पं० रघुनाथ शास्त्रीजी ने समस्त वाक्यपदीय पर टीका लिखना आरम्भ किया है जो भर्तृहरि की वृत्ति के आधार पर रची जा रही है तथा भावबोध के लिए बड़ी सरल भी है। यदि इस महाविद्वान् को संस्कृत विश्वविद्यालय ने इस कार्य में रत रखने की व्यवस्था की तथा इस ग्रन्थरत्न का मुद्रण किया तो वाक्यपदीय का सचमुच उद्धार हो जायगा।

अब हम आगे वाक्यपदीय ग्रन्थ का कुछ संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं जिसमें प्रकृत काण्ड का विशेष तथा शेष काण्डों का सामान्य परिचय होगा।

वाक्यपदीय

वाक्यपदीय के तीन काण्ड में से प्रथम काण्ड अथवा ब्रह्मकाण्ड आगमसमुच्चय काण्ड है। इस काण्ड में आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के दार्शनिक आधार का चित्रण किया है।

प्रथम काण्ड का प्रतिपाद्य विषय

प्रथम काण्ड मुख्यतः आगमकाण्ड कहा जाता है। इस काण्ड में शब्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द को अनादिनिधन, अक्षर, जगत्कारण, नित्य और चेतन स्वीकार किया है। शब्द ब्रह्म अपनी स्वतन्त्र शक्ति 'कालशक्ति' के द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति को नियन्त्रित मानता है। इसीलिए इनके यहाँ एक ही शब्द से एक काल में अनेक कार्य नहीं उत्पन्न होते। उस ब्रह्म का स्वरूप और प्राप्ति का मुख्य उपाय 'वेद' है, जो एक है, किन्तु महर्षियों के द्वारा विभिन्न रूप में अभ्यस्त होने के कारण अनेक रूप का हो गया है। वह वेद अनेक अंगों और उपाङ्गों से युक्त है, जिसमें व्याकरण वेद का प्रधान अंग है और व्याकरण के द्वारा प्रत्यगात्म स्वरूप शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार होता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्धी भी नित्य है, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना उनके साधुत्वरूप के साक्षात्कार के लिए

की गई हैं। शब्दों के नित्य होने के ही कारण व्याकरण शास्त्र बनाना सार्थक है अन्यथा शब्दों की अनित्यता से सुस्थिर व्याकरण का बनाना सम्भव न होता। अतः साधु शब्दों के परिज्ञान के लिए व्याकरणागम की रचना वेद के आधार पर की गई।

आगम प्रामाण्य

आगम समस्त प्रमाणों में श्रेष्ठ है। अनुमान प्रमाण में आगम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि आषाढ़ में बोया गेहूँ और कार्तिक में बोये हुए धान से फल उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अतः शक्ति के भेद से वस्तुस्थिति में भेद हो जाता है। धर्माधर्म निर्णय के लिए भी आगम ही प्रमाण है। शंख की पवित्रता की भाँति मनुष्य के शिर का कपाल अनुमान द्वारा पवित्र सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अनुमान में सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह किसी वस्तु को एक तर्क से सिद्ध करता है फिर विपरीत तर्क से खण्डित हो जाता है।

अभ्यास—भी अनुमान में अन्तर्हित नहीं हो सकता। मणि के मूल्य में तारतम्य का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता।

अदृष्ट भी प्रत्यक्ष और अनुमान से परे ही है। पितरों, राक्षसों और पिशाचों की सिद्धियाँ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान नहीं हैं।

वाक्यपदीयकार के मत में प्रमाण

इन विवेचनों से प्रतीत होता है कि वाक्यपदीयकार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अभ्यास और अदृष्ट इस प्रकार ५ प्रमाण मानते हैं।

प्रत्यक्ष

वाक्यपदीयकार के मत में प्रत्यक्ष दो प्रकार का है एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष तो हम लोगों का है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष ऋषियों का है जो बिना इन्द्रिय की सहायता के ही होता है और लोक उसे अपने प्रत्यक्ष से कम महत्त्व नहीं देता। का० ॥ ३७-४० ॥

अनुमान

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण की विशेष सिद्धि के उपाय तो नहीं वर्णित हैं किन्तु उसका खण्डन भी नहीं किया है अतः **'अप्रतिषिद्धं ह्यनुमतं भवति'** न्याय के आधार पर स्वीकार किया जाता है कि वाक्यपदीयकार अनुमान प्रमाण स्वीकार करते हैं।

शब्द (आगम)

शब्द को प्रमाण स्वीकार करने के लिए वाक्यपदीयकार ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी हैं। ऊपर कहे गए समस्त तर्क आगम को प्रमाण ही सिद्ध कर रहे हैं।

अभ्यास

वाक्यपदीयकार ने अपनी ३५वीं कारिका के आधार पर अभ्यास नाम के प्रमाण की चर्चा की तथा कहा कि 'जो मणि आदि के मूल्यों के तारतम्य का ज्ञान है वह दूसरों को बताया नहीं जा सकता किन्तु अभ्यास से ही होता है, इससे पता चलता है कि इनको अभ्यास नाम का प्रमाण भी स्वीकृत रहा होगा। दूसरे दार्शनिकों का कहना है—'कल मेरा भाई आएगा

यह मेरा हृदय कहता है' इस ज्ञान की भाँति अभ्यास भी प्रत्यक्ष ही है जैसे आर्ष ज्ञान।

अदृष्ट

वाक्यपदीय की ३६ वीं कारिका के आधार पर अदृष्ट प्रमाण की भी चर्चा की गई है। प्रेत अथवा पितर भीत से विना छिद्र बनाये हाथ बाहर निकाल देते हैं ये सिद्धियाँ अदृष्टजन्य ही हैं। दूसरे दार्शनिक इसे भी आर्ष ज्ञान की भाँति प्रत्यक्ष ही मानते हैं। जैसे तपःसाध्य आर्षज्ञान है वैसे ही पितरों की सिद्धियाँ भी हैं।

वाक्यपदीयकार ने उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य नाम के प्रमाणों की कोई चर्चा भी नहीं की है। सम्भवतः उन्होंने इन प्रमाणों को नगण्य माना हो। श्री म० म० तात्याशास्त्रि प्रभृति वैयाकरणों ने व्याकरण सिद्धान्त में सांख्य सिद्ध प्रमाण मान्य कहे हैं। अत एव यह भी एक पक्ष प्रामाणिक प्रतीत होता है कि व्याकरण सिद्धान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण मान्य रहे हैं।

इस प्रकार नित्य चेतन शब्द ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उसकी प्राप्ति के साधन वेद के प्रधान अंग व्याकरण का अध्ययन आवश्यक, प्रामाणिक और आभ्युदयिक सिद्ध है। फिर भी सर्वदा शब्द का प्रतिभास न होने में कोई कारण अवश्य होगा। इत्यादि अनेक शंकाओं के समाधान के लिए शब्द के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

शब्द के दो रूप

वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप स्वीकार किये हैं। एक निमित्त और दूसरा अर्थबोधक। स्फोट और वैखरी रूप से दो प्रकार के शब्दों में कार्यकारणभाव माना गया है।

स्फोट

स्फोट वह शब्द है जहाँ अन्य शब्द छिपकर बैठे रहते हैं और जिसके अनुग्रह से शब्द सुनाई पड़ते हैं तथा अर्थ का बोध होता है। स्फोट निमित्त और अर्थ बोधक भी है। श्रोता के लिए वैखरी निमित्त है और स्फोट अर्थबोधक है क्योंकि पूर्वपूर्ववर्णों के नाश हो जाने से उत्तर-उत्तर वर्ण के एक साथ न रहने से अर्थबोध नहीं हो सकता था। अतः स्फोट ही अर्थबोधक माना गया है। वक्ता के तात्पर्य से स्फोट वैखरी का निमित्त है और वैखरी ही अर्थबोध (स्फोट प्रकाशन) के लिए उच्चरित होती है। इन दोनों पक्षों में स्फोट ही अर्थबोधक स्वीकृत है।

यद्यपि ध्वनियों के क्रम से जन्म लेने के कारण स्फोट सक्रम प्रतीत होता है तथापि वह सक्रम नहीं है किन्तु जैसे मयूर के अण्डे के रस में मयूर के अंग प्रत्यंग अक्रम रहते हैं किन्तु क्रम से ही विकसित होते हैं वैसे स्फोट भी अक्रम है किन्तु ध्वनि के क्रम से उच्चरित होने से स्फोट में सक्रमता प्रतीत होती है। इसी प्रकार शब्द में वर्ण, पद, वर्णावयव, पदावयव, जाति, व्यक्ति, सखण्ड आदि प्रतीतियाँ भ्रम हैं। वस्तुतः एक तथा सत्य वाक्य ही स्फोट है।

जगत् शब्द का विवर्त है

वाक्यपदीयकार ने जगत् को शब्द का विवर्त और परिणाम दोनों माना है यह **'शब्दस्य परिणामोऽयम्'–'एतद्विश्वं व्यवर्तत'** इस कारिका से सिद्ध होता है। कुछ ऐसे वचन मिले हैं जिनसे परिणाम और विवर्त शब्द में पर्यायता प्रतीत होती है जैसे भवभूति ने

'आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्' कहा है। विकार और परिणाम पर्याय शब्द हैं। बुद्बुद पानी का विवर्त है विकार नहीं। फिर भी दोनों शब्दों के व्यवहार में सांकर्य कहा है। स्फोट सिद्धि के प्रारम्भ में गोपालिका टीकाकार ने शब्द को जगत् का विवर्त और विकार दोनों माना है। उनका कहना है कि स्फोट का विवर्त जगत् है किन्तु ध्वनि अथवा वैखरी का परिणाम है। यह उचित भी प्रतीत होता है। जब 'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे' 'सभूरिति व्याहरत् भुवमसृजत्' श्रुतियाँ भूव्याहार को जगत् सृष्टि में कारण मानती हैं तब वैखरीका परिणाम जगत् मान लेने में कोई हानि नहीं प्रतीत होती।

शब्द से सृष्टि प्रक्रिया

वैयाकरणों के मत से सृष्टि का क्रम इस प्रकार मान्य है। सृष्टि के आरम्भ में पश्यन्ती वाग्रूपी शब्द ब्रह्म ने अपनी अपरिमित शक्ति वाली माया के साथ होकर विभिन्न प्रकार के प्राणियों के कर्मों की सहायता से समस्त नाम-रूपात्मक जगत् को बुद्धिस्थ करके 'यह मैं करूँगा' संकल्प करता है और तब अपनी स्वतन्त्र शक्ति 'कालशक्ति' के साथ आकाशादिकों की, उसके बाद भूतों की सृष्टि करता है। कहा भी है कि—

'यः सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थितः।
तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः॥
अन्तर्यामी स भूतानामाराद् दूरे च दृश्यते।
सोऽत्यन्तमुक्तो मोक्षाय मुमुक्षुभिरुपास्यते॥
तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।
अंगाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्॥
त्रयीरूपेण तज्ज्योतिः प्रथमं परिवर्तते।
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्॥
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।'

'जो प्रलय के बाद भी स्थिर है, जिसकी तर्क, आगम और अनुमान द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की गई है, जो समस्त प्राणियों के दूर और अन्तर विद्यमान है, जो मुक्त है और मोक्षार्थी जिसकी उपासना करते हैं उसीका एक चैतन्य अनेक रूप में प्रविभक्त है। जिसकी प्रथम ज्योति त्रयी (वेद) रूप में परिणत होती है वह शब्द है और उसी की मात्रा से जगत् का विवर्त हुआ है और उसी में यह विलीन होता है।'

नागेशभट्ट ने सृष्टि का क्रम कुछ दूसरा ही स्वीकार किया है। जैसे 'प्रलय काल में समस्त प्राणियों के भोग्य कर्मों का जब प्रक्षय हो जाता है तब जगत् माया में और माया ईश्वर में लीन हो जाती है। यह लीनता नाश नहीं है किन्तु सुप्त होना है। उसके बाद जो कर्म फल देने योग्य नहीं थे काल वश फल देने के लिए उन्मुख हुए तब भगवान् की माया और पुरुष के रूप में अबुद्धिपूर्वक सृष्टि होती है फिर परमेश्वर में सृष्टि चलाने की इच्छा रूपा माया वृत्ति का उदय होता है और अव्यक्त, त्रिगुण विन्दु उत्पन्न होता है। इसे ही **'शक्तितत्त्व'** कहते हैं। इस बिन्दु में तीन अंश हैं। चिदंश (बीज) चिदचिन्मिश्र अंश नाद (परावाक्) चिदंश विन्दु। इस प्रकार उत्पन्न नाद ही परावाक् है जिसे वाक्यपदीयकार ने यावत्सृष्टिस्थिति अथवा प्रवाहनित्यता के आधारपर अनादिनिधन शब्द से कहा है। वस्तुतः शब्द अनादि और अनन्त नहीं है।'

यह ही मत 'प्रपञ्चसार' में (जो तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ है) प्रतिपादित है जैसे—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम ।
अणोरणीयसी स्थूलात्स्थूला व्याप्तचराचरा ॥
स जानाति विपाकांश्च तस्यां सम्यग्व्यवस्थितान् ।
सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा ॥
विचिकीर्षुर्घनीभूतः सा चिदभ्येति विन्दुताम् ।
काले न भिद्यमानस्तु स विन्दुर्भवति त्रिधा ॥
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ।
स विन्दुनादवीजत्वभेदेन च निगद्यते ॥
विन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ॥ इत्यादि ।

तात्पर्य यह कि घनीभूत ब्रह्म, उसकी विचिकीर्षा, अव्यक्त (कारणविन्दु), अव्यक्तरव (परावाक्), पश्यन्ती (कर्मविन्दु रूप सामान्यस्पन्दवती), मध्यमा (नादरूप स्पन्दविशेषवती), वैखरी (वीजरूपा अकारादिवर्णरूपा) ।

इस प्रकार नागेश का मत तन्त्रशास्त्र की वासना के आधार पर वाक्यपदीय कारिकाओं का अर्थ अन्यथा करने वाला है। जहाँ वाक्यपदीयकार शब्द ब्रह्म को नित्य मानते हैं तथा जगत् को शब्द ब्रह्म का विवर्त मानते हैं वहीं नागेश शब्द ब्रह्म को अनित्य मानते हैं तथा प्रवाहनित्यता को ध्यान में रखकर वाक्यपदीय की 'अनादिनिधनं ब्रह्म' कारिका का अन्यथा अर्थ करते हैं। इनका यह मत शैवागम के **'शिवदृष्टि'** ग्रन्थ तथा बौद्धदर्शन के तत्त्वसंग्रह ग्रन्थ में वैयाकरणमत के रूप में उद्धृत तथा स्वीकृत सिद्धान्त से भिन्न होने के कारण तथा वाक्यपदीय के सर्वथा विपरीत होने के कारण असंगत है। यह अन्य ग्रन्थकार (जैसे न्यायमंजरीकार जयन्त और शारदातिलक) के द्वारा ज्ञात वैयाकरण मत से भी विरुद्ध है।

सिद्धान्तशैव, शांकर और वैयाकरण मत में भेद

सिद्धान्तशैव का मत है कि 'शिव और शक्ति (ज्ञानरूपा) एक तत्त्व, शिव की परिग्रह शक्ति 'विन्दु' जो 'क्रियाशक्ति' भी कही जाती है द्वितीय तत्त्व, आत्मा तृतीय तत्त्व, इस प्रकार तीन 'रत्न' हुए। विन्दु के दो भेद एक शुद्ध (महामाया) दूसरा अशुद्ध (माया)। विन्दु की शक्ति का नाम विकल्प है। उसे ही आश्रय बनाकर शिव शुद्धविन्दु को क्षुब्ध करते हैं। उससे शब्द और अर्थ सृष्टि की धारा उत्पन्न होती है। वह शब्दधारा क्रम से परा. पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में है फिर अशुद्ध विन्दु क्षुब्ध होकर अशुद्ध शब्द धारा उत्पन्न करता है। वह भी क्रम से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप है। इस प्रकार दोनों प्रकार के विन्दुओं से उत्पन्न धाराएँ जड़ हैं। उनका परिणाम वाणी भी जड है। उसका अतिक्रम ही मोक्ष है। वाक् तादात्म्य मोक्ष नहीं है।' यह मत शैव सिद्धान्त के अष्टप्रकरण में प्रतिपादित है। विशेष वहीं देखना चाहिए।

अभिनव गुप्त का मत है कि प्रकाश और विमर्श दो ही वस्तु हैं। प्रकाश ही शिव है और विमर्श ही उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति उमा कही जाती है। फिर भी प्रकाश के विना विमर्श और विमर्श के बिना प्रकाश नहीं रह सकता अतः दोनों एक ही हैं। इसीलिए इन्हे

'अद्वैती' कहा जाता है। विमर्श को परावाक् और प्रकाश को अर्थ माना है। यही सिद्धान्त कालिदास ने 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।' में वर्णित किया है। जब सर्वस्वतन्त्र शिव अपनी स्वतन्त्र शक्ति का संकोच करते हैं तब 'मैं यह जानता हूँ' भेद बुद्धि होती है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य शक्ति रहित अंश जडवर्ग है और शक्ति सहित अंश चेतन वर्ग है।

शांकरमत में विशेषता यह है कि 'प्रकाश को स्वप्रकाश मान लेने से कार्य चल जाता है प्रकाशक के रूप में विमर्श मानना आवश्यक नहीं है। प्रकाश ही ब्रह्म है जो अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनेक रूप में प्रतीत होता है।'

शब्द ब्रह्मवादियों का मत है कि विमर्श (पश्यन्ती) ही ब्रह्म है। वह अविद्या के द्वारा अनेक रूप में भासित होता है।

इस प्रकार **वैयाकरण के** मत में पश्यन्ती वाक् ही शब्द ब्रह्म है और शब्द ब्रह्म में तादात्म्य ही जीव का मोक्ष है। मुक्ति में भी शब्दात्मना जीव की स्थिति रहती है। **सिद्धान्तशैव** के मत में मोक्षदशा में अशुद्ध वाक् रूप बन्धन का अतिक्रम हो जाता है और शुद्ध वाग् रूप का अनुगम रहता है इसलिए वह 'चित्' रूप में भासित होता है और वाणी 'चिद्' रूप में प्रतीत होती है। वस्तुतः जीव का वाक् तादात्म्य नहीं होता।

वाणी के तीन भेद

वाणी के तीन भेद माने गए हैं पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इन तीनों के भी तीन-तीन भेद हैं, स्थूला, सूक्ष्मा और परा। इस प्रकार वाणी के नव भेद हुए। वर्ण विभाग रहित स्वर प्रधान संगीत रूपा वाक् **स्थूला पश्यन्ती,** यही जिज्ञासा सहित **सूक्ष्मा पश्यन्ती,** यही जिज्ञासा हीन संविद्रूपा **परा पश्यन्ती**। चर्म से जटित मृदंग पर उत्पन्न ध्वनि रूप **स्थूला मध्यमा,** यही बजाने की इच्छारूपा **सूक्ष्मा मध्यमा,** यही बजाने की इच्छा रहिता और निरुपाधिक **परा मध्यमा**। पृथक्-पृथक् विलक्षणता के कारण स्पष्ट व्यक्त वर्ण रूपा वाक् **स्थूला वैखरी**। यही विवक्षा रूपा **सूक्ष्मा वैखरी**। यही विवक्षा रहित होने परसंविद्रूपा **परा वैखरी**। इस प्रकार पश्यन्ती ही सूक्ष्मतर अवस्था में 'परा' वाक् भी कही जाती है।

तात्पर्य यह है कि एक विन्दु में तीन रेखा डाल देने से भी मूलभूत विन्दु एक ही है। उस एक विन्दु में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन रेखायें हैं और इन एक-एक रेखाओं में भी स्थूला, सूक्ष्मा और परा तीन रेखाएँ हैं। इस प्रकार नव वाणी बनती है जिनमें एक वह अलग ही है जिनमें तीन-तीन भेद के साथ तीनों वाणियाँ हैं अतः वह रूप दशम भेद है। पूर्वोक्त नव और उनकी कारण तीन वाणियाँ इस प्रकार द्वादश भेद हुए। इन्हें द्वादशरश्मियाँ कहा जाता है और सूर्य भी कहा जाता है।

अत एव कहा है कि—

> **सर्वभूतान्तरचरः शब्दब्रह्मात्मको रविः।**
> **भित्वा यं बोधखड्गेन निर्गच्छन्त्यविशङ्किताः॥**

'समस्त प्राणियों के हृदय में विचरने वाला शब्दब्रह्म रूप सूर्य बोधरूप खड्ग से जिसका भेदनकर निडर लोग निकल जाते हैं।' आत्मशक्तियाँ ही चिन्मरीचियाँ अथवा सूर्य रश्मियाँ हैं। सूर्य ही समस्त अर्थों का प्रकाशक होने से शब्द ब्रह्मात्मक अथवा वेदात्मक है। षोडशकला वाले पुरुष में १५ कलायें परिणामशालिनी हैं फिर भी सोलहवीं कला

चित्कला और परिणाम की साक्षीभूता और परम अमृत रूप है। इसीलिए इसका निरोध भी सम्भव नहीं विनाश तो दूर की बात है।

सिद्धान्तशैवों का मत है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम की चार वाणियाँ हैं और ब्रह्म उनसे अलग है। पश्यन्ती आदि तीनों वाणियाँ परावस्था में परब्रह्म से संगत होकर एक रूप में स्थिर हैं। फिर वाचस्पति परमेश्वर अपनी ज्योति से अपने से अभिन्न वस्तु समुदाय को नित्य भासित करता है जिससे इच्छा उठती है और यही सृष्टिक्रम का कारण बनता है।

नागेशभट्ट ने सिद्धान्तशैव के इसी मत और **'परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा'** इस तन्त्रशास्त्र के मत के आधार पर वाणी के चार भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी मान लिया जो वास्तव में व्याकरण सिद्धान्त के विरुद्ध है। क्योंकि आचार्य भर्तृहरि ने **'वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्'** कारिका में वाणी के तीन ही भेद स्वीकार किए हैं। 'सारस्वती सुषमा' के लेख में जिस विद्वान् ने **'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी'** कारिका को वाक्यपदीय की मानकर प्रमाण के रूप में उपस्थित कर परा वाणी को भर्तृहरि सम्मत कहने का दुःसाहस किया है उसने वाक्यपदीय को न देखकर ही ऐसा किया है अतः हम इस विषय में कुछ नहीं कहेंगे।

जिन लोगों ने **'चत्वारि वाग् परिमिता पदानि'** महाभाष्यस्थ मन्त्र की नागेश की टीका के आधार पर वाणी के चार भेदों की कल्पना का समर्थन किया है उन्हें इसी मन्त्र का प्रदीप देखना चाहिए, जहाँ कैय्यट ने लिखा है कि—

'चतुर्णां (नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्) पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति।'

यद्यपि 'चतुर्णाम्' की व्याख्या 'नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्' इस मन्त्र की व्याख्या में कैय्यट ने नहीं लिखा है तथापि 'चत्वारि श्रृङ्गा' मन्त्र की व्याख्या में भाष्यकार ने स्वयं कण्ठतः 'नामाख्यात' आदि की गणना की है, इस प्रकार नागेश की वाणी के चार भेद स्वीकार करने वाला सिद्धान्त व्याकरण सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

हाँ, एक बात यह रह जाती है कि वे वाणी के चार भाग कौन हैं जिनमें अवैयाकरण केवल चतुर्थ भाग बोलते हैं। इसका उत्तर तो अत्यन्त स्पष्ट है। एक तो यह कि अवैयाकरण वाणी के उस रूप को जानते हैं जिसमें लोक व्यवहार होता है, शेष साधुत्वादि रूप नहीं जानते। दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि—

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनः।
पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

इस मन्त्र में वर्णित ब्रह्म के चार अंश का जो विवचन है वही शब्द ब्रह्मवादियों के मत में सुस्थिर है।

यह वाक् संस्कृत वाक् है जिसके ज्ञान से पुण्य होता है जिसका फल है **'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'**

द्वितीय-काण्ड का प्रतिपाद्य विषय

हम यहाँ द्वितीय काण्ड के प्रतिपाद्य समस्त विषयों की चर्चा न करके केवल उसकी मुख्य विचारधारा का निर्देश मात्र देना उपयुक्त समझते हैं।

प्रथम काण्ड में वाक्यस्फोट को ही मुख्य सिद्ध किया गया है किन्तु वाक्य का स्वरूप क्या है इसका विवेचन द्वितीय काण्ड का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के आरम्भ में वाक्य के विषय में विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा की गई हैं जिनमें मुख्य ये हैं।

वाक्य विचार

वाक्य दो प्रकार के हैं एक अखण्ड और दूसरा सखण्ड। अखण्ड पक्ष में वाक्य के तीन भेद हैं। (१) संघातवर्तिनीजाति, (२) एक अनवयव शब्द और (३) बुद्ध्यनुसंहृति। सखण्ड पक्ष में पाँच भेद हैं (१) केवल आख्यातशब्द, (२) क्रम, (३) संघात, (४) आद्यपद, (५) पृथक् सर्वपद साकांक्ष। सखण्डपक्ष के पाँच भेदों में संघात और क्रम अभिहितान्वयवाद पक्ष में और आख्यातशब्द, आद्यपद, पृथक् सर्वपद साकांक्ष तीन लक्षण अन्विताभिधानवादपक्ष में हैं। इस प्रकार विभिन्न दर्शनों के आधार पर आठ प्रकार के वाक्यों के लक्षण किए गए हैं। इसके बाद वार्तिककार और मीमांसकों के मत से वाक्य के लक्षण कहे गए हैं।

वाक्यार्थ विचार

वाक्यार्थ का विचार अनेक पक्षों में किया गया है। जिनमें अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद और प्रतिभावाद मुख्य हैं। उपर्युक्त प्रथम दो वादों में अनेक प्रकार के दोषों का उद्भावन करके प्रतिभा को ही वाक्यार्थ रूप में स्थिर किया गया है।

प्रतिभा का स्वरूप

वैयाकरणों के मत में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है। नागेश ने भी मंजूषा में स्वीकार किया है कि **'प्रतिभा वाक्यार्थः'**। वाक्यपदीयकार ने कहा है कि संज्ञावाचक शब्दों में नियत संज्ञी की ही प्रतीति होती है। अतः कल्पित पदार्थों से सिद्ध प्रतिभा को ही वाक्यार्थ कहा गया है—

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्॥

यह प्रतिभा प्रत्येक आत्मा के लिए भिन्न भिन्न सिद्ध है तथा 'यह उसका स्वरूप है' यह जानकार भी दूसरे को नहीं समझाया जा सकता।

इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन। प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते॥

उसका यह स्वभाव है विना विचार का अवसर दिये ही समस्त अर्थों का मेल कर देती है इसलिये विषय में सर्वरूपता प्राप्त कर गई है।

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता। सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते॥

चाहे किसी की भावना से अथवा शब्द द्वारा उत्पन्न हुई इस प्रतिभा का कोई भी व्यक्ति कार्य के प्रकार निर्णय करने में अतिक्रमण नहीं करता।

साक्षात्शब्देन जनितां भावनानुगमेन वा। इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥

समस्त प्राणी इसी (प्रतिभा) को प्रमाण मानते हैं और मनुष्यों की भाँति पशु और पक्षियों के भी समस्त कर्मों का आरम्भ प्रतिभा ही करती है।

प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति। समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्॥

यह सर्व प्राणियों की सिद्धि है जैसे किन्हीं द्रव्यों के परिपाक के साथ ही बिना किसी

प्रयत्न के मादकता आदि आ जाती है। वैसे प्रत्येक व्यक्तियों के नियत संस्कार से जन्य प्रतिभा भी प्रतिभा वालों के विकसित होने में यत्नान्तर की अपेक्षा नहीं करती।

यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः। मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा॥

प्रतिभा ही एक ऐसी वस्तु है जो समय-समय पर स्फुरित होती रहती है। वसन्त में कोयल के मीठे शब्द स्वयं हो जाते हैं, पक्षियों को घर बनाने की शिक्षा भी स्वयं आ जाती है। किसी प्राणी को किसी आहार के प्रति प्रीति, दूसरे को द्वेष, जैसे ऊँट को आम के पल्लव से द्वेष और नीम के पल्लव से प्रीति है। मनुष्य को बड़े प्रयत्न पर तैरना आता है किन्तु भैंस के बच्चे जन्म लेते ही तैरने लगते हैं।

इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि समस्त प्राणियों की समस्त क्रियायें प्रतिभा के ही द्वारा हो रही हैं। प्रतिभा का कारण भी शब्द ही है। हाँ; यह भेद हो सकता है कि किसी अवसर पर इस जन्म का अनुभूत शब्द प्रतिभा का कारण बने और किसी अवसर पर पूर्वजन्म का अनुभूत शब्द प्रतिभा का कारण बने।

वाक्यार्थ प्रतिभा है यह पक्ष इस प्रकार का उपस्थित किया गया है जिससे व्याकरण के सिद्धान्त की नींव दृढ़ हो जाती है। **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** सिद्धान्त उसी समय पुष्ट हो जाता है जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि 'प्रतिभा' में जितने अर्थ उपस्थित हैं सब उस शब्द के अर्थ हैं क्योंकि प्रतिभा का कारण वह शब्द है जिससे विभिन्न प्रकार के अर्थों का प्रतिभान हुआ है। मन्त्रों के जप में भी ध्यान का यही महत्त्व है कि आराधक मन्त्र के अर्थ का ध्यान करता हुआ अपने ध्यान में स्थित आकार वाले देवता को उस योग्य साक्षात् करे।

अस्तु प्रतिभावाद के स्वीकार कर लेने से ही वैयाकरणों का एक-वृत्तिवाद भी समन्वित हो जाता है। इन्हें लक्षणा अथवा व्यञ्जना भी सिद्धान्ततः नहीं मानना पड़ता। जब किसी शब्द की विभिन्न आनुपूर्वी से विभिन्न अर्थों की उपस्थिति होती है तब कोई कारण नहीं कि मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ का विवेचन किया जाय तथा वाक्यार्थ बोध के लिये लक्षण माना जाय। इसी प्रकार व्यञ्जना भी मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब समस्त अर्थ शब्दजन्या प्रतिभा से जन्य हैं तब तो सब अर्थ समान रूप से प्रतिभा ही हैं, उनमें शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना का भेद स्वीकार करना अयोग्यता ही है। अतः यदि किसी ने किसी टीका में यह लिख दिया हो कि वैयाकरणों के मत में तीन वृत्तियाँ हैं शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना' तो यह निश्चय जान लेना चाहिए कि इसे व्याकरण के मूल सिद्धान्त का परिज्ञान नहीं है।

हाँ; एक बात है, शब्दशास्त्र में दो पहलू हैं एक सम्यग्ज्ञान और दूसरा सम्यक् प्रयोग। व्याकरण द्वारा कृत्रिम उपायों से सम्यग्ज्ञान शब्दसाधुत्वज्ञान होता है अर्थात् शब्द के व्यावहारिक रूप से शब्द के पारमार्थिक रूप का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु सम्यक् प्रयोग तो पारमार्थिक नहीं शुद्ध व्यावहारिक ही है तथा व्यवहार में किसी शब्द की शक्ति नियत है फिर व्यवहार में मुख्यार्थ बाध आदि के रहने से किसी रूप में तीन अथवा चार वृत्तियाँ भी मान्य होती ही हैं।

हम तो यह मानते हैं कि **'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति'** मन्त्र के सम्यग्ज्ञान का शास्त्र व्याकरण और सम्यक् प्रयोग का शास्त्र साहित्य है। अत एव इसी मंत्र को आधार मानकर दोनों शास्त्र अपनी उपादेयता भी सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में जितने भी तर्क उपस्थित हुए हैं अथवा हो सकते हैं सब पर संक्षिप्त विचार किया है। पुण्यराज ने इस काण्ड की टीका के अन्त में कारिकाबद्ध विषयानुक्रमणिका लिखी है जिसे हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

तृतीय काण्ड का प्रतिपाद्य विषय

वाक्यपदीय का तृतीय काण्ड जो प्रकीर्ण काण्ड भी कहा जाता है उस पर विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं है केवल उसके प्रकरणों का निर्देश कर देने से इस ग्रन्थ को देखने के प्रति रुचि जाग उठेगी और प्रतिपाद्य विषयों पर विचार करने का दृष्टिकोण बनेगा। अतः मैं यहाँ केवल प्रकरणों की सूची मात्र दे रहा हूँ।

१. जातिसमुद्देश, २. द्रव्यसमुद्देश, ३. सम्बन्धसमुद्देश, ४. द्रव्यलक्षणसमुद्देश, ५. गुणसमुद्देश, ६. दिक्समुद्देश, ७. साधनसमुद्देश (कारकविचार), ८. क्रियासमुद्देश, ९. कालसमुद्देश, १०. पुरुषसमुद्देश, ११. संख्यासमुद्देश, १२. उपग्रहसमुद्देश, १३. लिंगसमुद्देश, १४. वृत्तिसमुद्देश। यह समुद्देश बड़ा तो है किन्तु वृत्तियों का रमणीय विशद विवेचन इसे महत्त्वशाली बनाए हुए है।

इस काण्ड में लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश नाम के दो प्रकरण अनुपलब्ध हैं जिनकी चर्चा हमने पहले सप्रमाण की है।

विजयदशमी
२०१८ विक्रमी

रामगोविन्द शुक्ल

विषय-सूची

कारिका १–४ (ब्रह्म का स्वरूप)

ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण, एक ब्रह्म की शक्तिगतभेद से विभिन्नता, ब्रह्म की कालशक्ति, एक ही ब्रह्म भोक्ता, भोक्तव्य और भोगरूप में स्थित है।

कारिका ५–१० (वेद ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय और ब्रह्म की प्रतिमा)

ब्रह्म प्राप्ति का उपाय वेद, वेद की अनेक शाखायें, वेद की महिमा, वेदों से स्मृति प्रकल्पन, वेदों से दर्शन शास्त्र और उनमें परस्पर भेद, सत्य विद्या क्या है, वेद से ही विभिन्न विद्याओं का उद्गम।

कारिका ११–२२ (वेद के प्रधान अंग व्याकरण का प्रयोजन)

वेद का प्रधान अंग व्याकरण, व्याकरणाध्ययन के रक्षा-ऊह-आगम-लघु-असंदेह पाँच प्रयोजन, व्याकरण का मोक्ष द्वार होना, शक्तिग्राहक व्याकरण, मोक्ष का प्रथम द्वार व्याकरण, व्याकरणज्ञान से आत्मज्ञान, वैकृतध्वनिरूप अन्धकार में शुद्ध ब्रह्म का आवृत स्वरूप, स्फोटरूप ब्रह्म में अक्षरों की प्रतीति, वेदों में विभिन्नरूप से ज्ञात ब्रह्म की व्याकरण द्वारा प्राप्ति।

कारिका २३–२९ (शब्द की नित्यता ही व्याकरण निर्माण में हेतु)

शब्द-अर्थ और सम्बन्ध की नित्यता, साधु शब्दों का ज्ञान करना लक्ष्य, साधु शब्दों में धर्मजनकता, नित्यशब्दवादियों के मत से कूटस्थनित्यता और अनित्यशब्दवादियों के मत में प्रवाहनित्यता कथन, नित्य व्यवस्था निरर्थक नहीं।

कारिका ३०–३४ (अनुमान से अतिरिक्त आगम प्रमाण की सिद्धि)

साधुत्वज्ञान के लिए आगम की आवश्यकता, तर्क धर्ममार्ग का बाधक नहीं, अवस्था-देश और काल के भेद से शक्ति में भेद, अनुमान से ही वस्तुसिद्धि असम्भव, शक्ति के प्रतिवन्धक होने के कारण भी अनुमान वस्तुसिद्धि में सहायक नहीं, तर्क से सिद्ध भी वस्तु कुशल विद्वान् के तर्कों से असिद्ध।

कारिका ३५–३६ (अनुमान से अतिरिक्त अभ्यास और अदृष्ट प्रमाण की सिद्धि)

अनुमान से भिन्न अभ्यास और अदृष्ट पृथक् प्रमाण।

कारिका ३७–४२ (वेदमूलक आर्ष आगम की श्रेष्ठता)

ऋषियों का प्रत्यक्ष भी अनुमान से वाधित नहीं, ऋषि वाक्यों पर जनता का विश्वास, ऋषि के बचन पर सबका विश्वास, आगम के विश्वास पर चलने

वालों को तर्कवाद से हटाया नहीं जा सकता, केवल अनुमान को प्रमाण मानने से धोखा अवश्य, तर्कों की अव्यवस्था और आगमों की श्रेष्ठता के कारण ही व्याकरण की रचना।

कारिका ४४–५० (शब्द के दो भेद)

शब्द के निमित्त (स्फोट) और प्रत्यायक (वैखरी) दो भेद, कार्यकारण में भेदवादियों का मत, कार्यकारण में अभेदवादियों का मत, निमित्त (स्फोट) विभिन्न ध्वनियों का कारण, स्फोट की एकता में भी विभिन्न ध्वनि की प्रतीति, अक्रम स्फोट की सक्रम प्रतीति स्थानजन्य है, नाद के धर्म का स्फोट में आरोपित होने का प्रकार, स्फोट की स्वप्रकाशता।

कारिका ५१–५५ (शब्द में अनेक धर्म समावेश)

शब्द के दोनों भेदों की उदाहरण द्वारा सिद्धि, शब्द का अर्थाभिधान प्रकार, शब्द की अर्थ की भाँति क्रियाङ्गता निषेध, शब्द की ग्राह्य और ग्राहक रूप में स्थिति।

कारिका ५६–५७ (बोधकत्व निर्णय)

ज्ञात शब्द ही बोधक, अज्ञात शब्द में बोधकत्व का निषेध।

कारिका ५८–६९ (स्वं रूपं की दूसरी व्याख्या से जाति-व्यक्तिभेद की कल्पना)

एक ही शब्द दो रूप में गृहीत होने पर कार्य में विरुद्ध नहीं, उच्चरित शब्द कार्यभाक् नहीं, इसमें कारण, व्यक्तिसंज्ञापक्ष और व्यक्तिसंज्ञीपक्ष।

कारिका ७०–७२ (मीमांसकों के मत से शब्द का एकत्व)

शब्द के एकत्ववाद और नानात्ववाद की कल्पना, मीमांसकों के मत से शब्द की एकता का वर्णन, वर्ण के अतिरिक्त वाक्य और पद की अस्वीकृति।

कारिका ७३–७४ (वैयाकरण मत से वाक्य का एकत्व और व्यवहार)

वैयाकरणों के मत से वाक्य का स्वरूप, पाणिनीय व्याकरण में एकत्व और नानात्ववाद में व्यवहार।

कारिका ७५–७७ (स्फोट में प्राकृतध्वनि के भेद की ही प्रतीति)

नित्य स्फोट में कालभेद नहीं फिर भी वृत्तिभेद की उपपत्ति, ध्वनि के दो भेद, प्राकृतध्वनिकाल का स्फोट में आरोप, वृत्तिभेद में वैकृतध्वनि कारण।

कारिका ७८–८० (ध्वनि से स्फोट की प्रतीति)

ध्वनियों से स्फोट की उपलब्धि में निमित्त बनने के लिए तीन मत।

कारिका ८१–८४ (ध्वनि की अभिव्यक्ति में तीन मत)

ध्वनि की अभिव्यक्ति में तीन मत। अन्त्यध्वनि की सहायता से स्फोट ग्रहण, उदाहरण, स्पष्टीकरण।

कारिका ८५–८७ (वाक्य में पद और वाक्य की प्रतीति असत्)

वाक्य में पद और वर्ण की प्रतीति एक उपाय, पद और वाक्य के भेद की प्रतीति भी एक उपाय, उदाहरण ।

कारिका ८८–९२ (क्रम से वर्ण, पद और वाक्य ग्रहण का कारण)

वाक्य में पदादि प्रतीति का कारण, उदाहरण, क्रम से वर्ण पद ग्रहण के द्वारा बुद्धि से वाक्य ग्रहण, बुद्धि क्रम नियत ।

कारिका ९३–९४ (स्फोट पर अनेक वाद)

जातिस्फोट वाद, व्यक्तिस्फोटवाद, एक नित्य शब्द तत्त्ववाद ।

कारिका ९५–१०१ (स्फोट में ध्वनिकृत काल भेद की प्रतीति)

ध्वनियों के अभिव्यंजकत्व पक्ष में स्फोट के अनित्यत्व आदि दूषणों का परिहार, ध्वनि और स्फोट के भिन्न-भिन्न देश में रहने पर भी व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव बनना, व्यङ्ग्य व्यञ्जक के लिए योग्यता भी नियत, व्यञ्जक की अनित्यता व्यंग्य में नहीं, उदाहरण, ध्वनिगत काल भेद का स्फोट के काल भेद में कारण कथन ।

कारिका १०२–१०६ (स्फोट और ध्वनि का स्वरूप परिचय)

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप, स्फोट काल की एकता, उदाहरण, नित्यपक्ष में समाधान ।

कारिका १०७–११२ (शब्द के विषय में मतभेद)

शब्द के विषय में तीन भेद, शिक्षाकार का मत, जैनियों का मत, महाभाष्यकार का मत ।

कारिका ११३–११७ (ज्ञान के शब्दभावापत्ति में तीन मत)

एक मत में ज्ञान के शब्द रूपता में परिणत होने का क्रम, दूसरा मत, तीसरा सिद्धान्त मत ।

कारिका ११८–१२४ (जगत् में सर्वत्र शब्द रूपता का अनुगम)

शब्द को जगत्कारण मानना, सर्वत्र अर्थों का शब्द से जन्म, शब्द के विवर्त, जगत् की समस्त प्रवृत्ति के मूल में शब्द, शब्द के उच्चारण में होने वाले प्रयत्नों का कारण शब्द, समस्त ज्ञान में शब्द का अनुगम, वाणी के निकल जाने पर अवबोध का अभाव ।

कारिका १२५–१२७ (सर्वत्र वाग्रूपता का अनुगम)

समस्त विकार और कलायें शब्द जन्य, प्राणियों में जब तक वाग्रूप का अनुगम तभी तक चेतना, वाणी ही प्रेरक ।

कारिका १२८–१३१ (शब्द ही सर्वत्र व्यापक परमात्मा)

स्वप्न में भी वाग्रूपता का अनुगम, सब जगत् वाणी का ही विकार इस पक्ष का समर्थन, शब्द ही पुराण प्रसिद्ध परमात्मा ।

कारिका १३२ (ब्रह्म प्राप्ति का उपाय)

शब्द का सम्यक् ज्ञान ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय और शब्द के तत्त्व का ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन ।

कारिका १३३ (वेद मूलक होने से व्याकरण प्रमाण)

मनुष्य निर्मित भी व्याकरण वेद मूलक होने से प्रमाण है ।

कारिका १३४–१३५ (वेद ही धर्म, आचार और आगम का मूल)

स्मृतियों के अभाव में आचार भी धर्म का मूल, समस्त आगम वेद मूल होने से ही प्रमाण ।

कारिका १३६–१३८ (वेदमूलक तर्कशास्त्र आवश्यक)

आगमों के वेदमूलक होने पर भी तर्कशास्त्र की अपेक्षा, शुष्कतर्क की हेयता ।

कारिका १३९–१४२ (साधुशब्द ही पुण्यजनक)

साधु और असाधु शब्दों से अर्थबोधकता की भाँति धर्मजनकता का निषेध ।

कारिका १४३ (वाणी के समस्त रूप व्याकरण के लक्ष्य)

वाणी के तीन भेद । व्याकरण द्वारा तीनों का प्रतिपादन ।

कारिका १४४–१४६ (जगत् के प्रलय और नित्यपक्ष में वेद का प्रामाण्य)

शब्दों की साधु असाधु व्यवस्था भी ऋषि कल्पित, मीमांसक के मत में वेद प्रामाण्य, प्रलयवादी के मत में वेद प्रामाण्य ।

कारिका १४७–१५६ (अपभ्रंश के विभिन्न इतिहास)

व्याकरण भी एक स्मृति, अपभ्रंश के लक्षण, शब्द किसी नियत अर्थ में ही साधु, असाधु से परम्परया बोध, असाधु के लक्षण, अपभ्रंश की उत्पत्ति का इतिहास ।



॥ श्रीः ॥

वाक्यपदीयम्

'भावप्रदीप' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमं ब्रह्मकाण्डम्

यस्यार्द्धं गिरिजा मूर्द्ध्नि गङ्गा भाले विधोः कला ।
अङ्के कुमारगणपौ तं सदाशिवमाश्रये ॥ १ ॥
यदीयपादाब्जरजोऽभिषेकान्मूकोऽपि वागीश्वरतामुपैति ।
तं दक्षिणामूर्तिमहं स्वकीयाबोधोपघाताय समाश्रयामि ॥ २ ॥
प्रदीपसाहाय्यमवाप्य भाष्यं विगाह्य तन्त्रान्तरमागमाँश्च ।
वितन्यते वाक्यपदीयभावप्रदीप एषोऽतितरामुदारः ॥ ३ ॥

अथ महाभाष्ये प्रसङ्गवशात्तत्र तत्रोपनिबद्धस्य व्याकरणागमस्य कियता कालेन महाभाष्याध्येतृसम्प्रदायविच्छेदेनोत्सन्नकल्पस्य चन्द्राचार्येण व्याकरणमूलभूतं रावण-रचितमुपलतले लिखितं व्याकरणागममवाप्य पुनरुज्जीवितस्य स्वगुरोर्वसुरातादुपलब्ध-स्य प्रचारमभिलष्यन् भर्तृहरिर्वाक्यपदीयं नाम व्याकरणागमसर्वस्वभूतं निबन्धं निबध्नन् शिष्टाचारपरम्पराप्राप्तं वस्तुनिर्देशात्मकं शब्दब्रह्मस्मरणरूपं मङ्गलमाचरति—

नीलोत्पलदलश्यामं नवतामरसेक्षणम् । सीतालिङ्गितवामाङ्गं रामं वन्दे महाप्रभुम् ॥
वादतोषितविश्वेशसाधुवादोपबृंहिताः । प्रसिद्धास्तातपादानां जयन्ति विमला गिरः ॥
स्मरणाद् यस्य वादीन्द्रा मूकतां प्रतिपेदिरे । सूर्यनारायणं शुक्लं तं नौमि पितरं मम ॥
न्याय-व्याकरणाचार्यो मीमांसा-काव्यवारिधिः । रामगोविन्दशुक्लश्रीसूर्यनारायणोदितः ॥
ग्रन्थं वाक्यपदीयं हि दुर्बोधं महतामपि । पितुः पन्थानमाश्रित्य व्याख्यास्ये लोकभाषया ।

समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें भगवानका स्मरण मार्गमें आने वाली समस्त बाधाओं पर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है, इसलिए ग्रन्थारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यके प्रारम्भमें भी उसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति की भावनासे भगवानके स्मरणरूप मङ्गलाचरणकी परिपाटी सदाचारप्राप्त रही है । यद्यपि भगवानका स्मरण मानसिक व्यापार है तथापि ग्रन्थकार जिस रूपमें भगवान का स्मरण करता है उसको शिष्योंकी शिक्षाके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अङ्कित कर देने की प्रथा भी संस्कृत साहित्यकी एक सदाचार प्राप्त परिपाटी है । इसलिए संस्कृतके ग्रन्थोंमें प्रायः सर्वत्र मङ्गलाचरण पाया जाता है ।

वाक्यपदीयकार महावैयाकरण श्रीभर्तृहरिजीने व्याकरण-महाभाष्यमें प्रसङ्गवश कहीं-कहीं

लिखे हुए व्याकरणदर्शनके सिद्धान्तोंको जो महाभाष्यके अध्ययनाध्यापनके बन्द हो जानेके कारण नष्ट हो गए थे और श्री चन्द्राचार्यजीने रावणद्वारा रचे हुए व्याकरणके मूलभूत जिन सिद्धान्तोंको पुनरुज्जीवित किया था उन्हें अपने परमपूज्य गुरुजी श्रीवसुरातजीसे सीखकर और उस सिद्धान्तके प्रचारकी अभिलाषासे व्याकरणदर्शनके सर्वस्वभूत ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और इस मार्गमें बाधा डालने वाले विघ्नोंपर विजय पानेके लिए आशीर्वाद, नमस्कार, तथा वस्तुनिर्देशरूप त्रिविध मङ्गलप्रकारोंमेंसे वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण करते हुए शब्दब्रह्मका स्मरण किया है।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ १॥

अनादिनिधनम्—उत्पादविनाशरहितमत एव नित्यम्, [1]पूर्वापरीभावरहितमत उपसंहृतक्रमञ्च, यद् अक्षरम्—अक्षरस्य विभक्तककारादिवर्णरूपाया वैखर्या वाचो निमित्तं, सत् बाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया अर्थभावेन घटादिरूपेण विवर्तते भासते अत एव शब्दार्थोभयरूपम् यत–उपसंहृतक्रमात् शब्दाख्यात्, जगतो विकारजातस्य प्रक्रिया प्रथमत उत्पत्तिर्व्यवहारो वा तत् शब्दतत्त्वं पश्यन्तीवाग्रूपं [2]ब्रह्मेति संबन्धः।

जो उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होता और जिसमें आगे पीछे उत्पन्न होने का क्रमभी नहीं है, जो (ककारादिरूप) वर्णोंका कारण होते हुए भी (अविद्यारूपी बाह्य अर्थोंकी वासनासे घट पट आदि) अर्थ (कार्य) रूपमें भासित होता है (जो शब्द अर्थ उभयरूप है) जिससे जगत् की (समस्त विकारोंकी) प्रक्रिया (उत्पत्ति या व्यवहार) चलती है वह पश्यन्ती वाक्रूपी शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है।

इदमत्र तत्त्वम्—सर्वग्राह्यग्राहकाकारवर्जिता अपरिच्छिन्ना सर्वतः संहृतक्रमा पश्यन्तीरूपा वाग् ब्रह्म तदेव अविद्यालक्षणया अन्तःपश्यदवस्थया भोक्तृतारूपया विशिष्टं ज्ञेयरूपशून्यं चैतन्यमात्रं जीव इत्यभिधीयते। तथा च भागवतम्—

स एव जीवो विवरप्रसूतिः[3] प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममपेत्यरूपं मात्रा स्वरा वर्ण इति प्रविष्टः॥ इति।

स एव च पश्यन्तीरूपः शब्दः अर्थप्रतिपादनेच्छया उपलक्षितो मनोविज्ञानरूपत्वे आस्थितो मध्यमा वागुच्यते। सैव च वक्त्रकुहरं प्राप्ता कण्ठादिस्थानमार्गेषु

---

१. अनादिनिधनपदस्य पूर्वापरीभावराहित्यमप्यर्थ इति 'अनादिनिधनपदनिवेदिता पूर्वापरान्तरहिता वस्तुसत्ता' इति न्यायमञ्जरीदर्शनादवगम्यते।

२. 'तिस्र एव वाचः परा वागेव पश्यन्ती' इति शिवदृष्ट्यनुसारेणेदम्। यदि तु परा वाक् चतुर्थी तदा परावाग्रूपं ब्रह्मेति बोध्यम्। अत्रत्यं तत्त्वं वैखर्या मध्यमायाश्चेति कारिकाव्याख्यायां स्पष्टम्। शब्दस्य परिणामोऽयमिति कारिकाव्याख्यावसरे शब्दब्रह्मविषये हरिनागेशयोर्मतभेदः प्रदर्शित इति तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. विवरप्रसूतिः—विवरेषु आधारादिषु प्रसूतिरभिव्यक्तिर्यस्येत्यर्थः।

विभक्ताकारादिवर्णरूपा वैखरी वागुच्यते । ततः सैव बाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया क्रमेण घटपटाद्याकारैर्विवृत्ता चक्षुरादिना गृह्यते इति । अयमेवार्थः—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम् । तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥
स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते । अन्तः पश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥
तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यन्त्यनन्तकम् । अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम् ॥
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम् । ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥
आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया । मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥
संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागशः । वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥
घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना ।

इति कारिकाभिरनूदितो वैयाकरणमतत्वेन शिवदृष्टौ ।

एतदुक्तं भवति—यथा कार्येषु कारणधर्मसमन्वयदर्शनात् वैशेषिकैर्घटादिकार्यस्य पृथिवीत्वेन तत्कारणस्य परमाणोः पृथवीत्वं, यथा वा सांख्यैः विकारग्रामेषु सुखादिसमन्वयदर्शनात् तत्कारणस्य प्रधानस्य सुखादिरूपत्वमास्थिपत तथैव घटादिषु शब्दरूपानुगमात् तत्कारणस्यापि शब्दरूपत्वमास्थेयम् ।

घटादिषु शब्दरूपानुगमश्चेत्थम्—प्रत्यक्षं तावत् जात्यादीनां मिथो विशेष्यविशेषणभावानवगाहि जात्यादिस्वरूपावगाहि 'घटघटत्वे' इत्येवंरूपं निर्विकल्पकं, गौः, शुक्लः, चलः, डित्थ इत्यादिविशेष्यविशेषणभावावगाहि सविकल्पकं वा, द्विविधमपि शब्दानुविद्धमेव इति सर्वेऽर्थाः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र नामधेयेनान्विता इति नास्ति सोऽर्थो यः कथञ्चित् कदाचित् क्वचिन्नामधेयेन वियुज्येत इति शब्दार्थयोस्तादात्म्यमभ्युपेयम् । अत एव अर्थाः प्रतीयमानाः नामधेयैरुपेताः स्वसामानाधिकरण्येनावगम्यन्ते गौरित्यर्थोऽश्व इत्यर्थ इति । न च शब्दस्य अर्थज्ञानोपायतया सामानाधिकरण्यम्, चक्षुरादेरूपादिज्ञानोपायत्वेऽपि रूपादिसामानाधिकरण्यस्य चक्षुरादावदर्शनात् । न च ज्ञायमान एव अर्थज्ञानोपाय उपेयसामानाधिकरण्यमनुभवति चक्षुरादि तु न तथेति वाच्यम्, वह्निज्ञानोपाये ज्ञायमानेऽपि धूमे धूमोऽयं वह्निरिति सामानाधिकरण्यानुभवादर्शनात् । किञ्च अशब्दोपायेऽनुमेयादौ न शब्दसम्भेदेनाधिगमो भवेद् अस्ति तु तस्मान्नामधेयैः सह अर्थस्य सामानाधिकरण्यानुभवो नामधेयात्मानोऽर्था इति पर्यवसाययति । ननु सत्यपि पुरोवर्तिसामानाधिकरण्येन रजतप्रत्यये न शुक्तिकाया रजतात्मत्वं तथेहापि किन्न स्यादिति चेन्न । तत्र विसंवादादुत्तरकाले बाधानुभवाच्च तत्प्रतीतिरप्रमाणम् इदं तु अविसंवादात्प्रमाणं सदर्थतादात्म्यं शब्दस्य साधयत्येव । किञ्च पङ्कजादिषु शब्दापकर्षेऽर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे त्वर्थप्रत्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतव्योत्कर्षाधीनोत्कर्षत्वान्नामधेयोत्कर्षेणोत्कर्षोऽर्थस्य तादात्म्यं कथयति । तदेवमर्थानां नामधेयात्मकत्वे स्थिते रूपमिति रसमिति यत्प्रत्यक्षज्ञानं तदपि नामधेयगोचरमेव । न चैवं प्रत्यक्षस्य शाब्दत्वापत्तिरिति वाच्यम्, न शब्दप्रमाणकतया

शाब्दमपि तु शब्दे ज्ञातं शाब्दं शब्दश्चास्य विषयो न जनक इत्यदोषात् । किञ्च सर्वः प्रत्यय उपजायमानो नानुल्लिखितशब्दक उपजायते तदुल्लेखविरहिणोऽनासादितप्रकाशस्वभावस्य प्रत्ययस्यानुत्पन्नकल्पत्वात् । 'इदम्, ईदृशम्' इति परामर्शशुषितवपुषि वेदने वेदनात्मकतैव न स्यात् संविदः प्रकाशशून्यत्वात् । यदाहुः—
'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥' इति।

येऽपि वृद्धव्यवहारोपयोगवैधुर्येणानवाप्तशब्दार्थसम्बन्धविशेषव्युत्पत्तयो बालदारकप्रायाः प्रमातारस्तेषामपि विज्ञानं शब्दानुव्याधानुवेधवदेवानादिवसनावशात् । अत एव तेऽपि नूनं यत्तत्किमित्यादिशब्दजातमनुल्लिखन्तो न प्रतियन्ति किमपि प्रमेयमतः शब्दोन्मेषप्रभावप्राप्तप्रकाशस्वभावत्वं सर्वप्रत्ययानाम् ।

यदाहुः—

आद्यः[1] करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम् ॥
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव[2] ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ इति ।

एवञ्च निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा ज्ञानं गौः शुक्लश्चलो डित्थ इति शब्दविशिष्टमेवार्थमवबोधयति शब्दाख्यविशेषणानुरक्तस्य तस्य विशेष्यस्य स्वरूपं पृष्टः शब्देनैव दर्शयसि, शब्दापरित्यागलब्धप्रकाशस्वरूपया वाऽनुभूत्याऽनुभवसि इति सोऽपि विशेष्यः शब्दरूप एवेति जानीहि । शब्द एवार्थोपारूढः प्रतिभाति इति व्यवतिष्ठते । किञ्च यदुपारूढः शब्दः प्रकाशते तस्य पृथक् प्रदर्शयितुमनुभवितुं चाशक्यत्वात् शब्द एव तथा प्रतिभाति यथा चेन्द्रियजज्ञानेषु प्रक्रमस्तथा शाब्देष्वपि प्रत्ययेषु शब्दविशिष्टो वार्थः शब्दारूढो वार्थः प्रतिभाति इति शब्दविवर्त एवायमर्थो नान्यः कश्चित् । अतश्च शब्दब्रह्मेदमेकमविद्योपाधिदर्शितविचित्रभेदमविद्योपरमे यथावस्थितरूपं प्रकाशते इति सिद्धम् । अनुमोदयति चामुमेवार्थं श्रुतिरपि तद्यथा—'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, नामैवेदं रूपत्वेन वव्रृते, इति ।

अत्रेदमाकूतम्—विवर्तशब्दस्य परिणामवाचकत्वमपि दृश्यते प्राचां ग्रन्थेषु यथा उत्तररामचरिते—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥ इति ।

आवर्तः—जलस्य भ्रमः, बुद्बुदः—कुड्मलाकारजलसंस्थानविशेषः, तरङ्गः—भङ्गः, एते विकारा जलमेव न ततो व्यतिरिक्ताः, निमित्तभेदात् विभावाद्यभिव्यञ्जकविच्छित्तिविशेषात् इति तदर्थः ।

---

१. आद्यः—अशिक्षितशब्दोच्चारणस्य यः प्राथमिकः करणविन्यासः–करणानां शब्दोच्चारणे नियोग इत्यर्थः । शब्दभावनां प्राग्भवीयशब्दवासनाम् ।

२. सर्वं ज्ञानं शब्देन अनुविद्धमिव यतो भासते अतः शब्दानुगमरहितः प्रत्ययो नास्तीत्यर्थः।

अत एव शान्तरक्षितेन अनादिनिधनमिति कारिकामर्थतोऽनुवदता विवर्तपदमपहाय परिणामपदमेव प्रयुक्तम्। तथा हि—

नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं च यत्।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते॥ इति।

विवर्तपदेन परिणाम एवाभिप्रेतो वाक्यपदीयकारस्यापि 'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः' इति अग्रिमकारिकादर्शनादवगम्यते।

विवर्ततेऽर्थभावेन इत्यस्य 'एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्याविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्त' इति टीकादर्शनात् शब्दस्य विवर्तोऽर्थो न परिणाम इत्यवगम्यते। न्यायमञ्जर्यां शब्दविवर्त्तवादस्य शब्दपरिणामवादस्य च खण्डनदर्शनादुभयमपि वैयाकरणानामभिमतमित्यवगम्यते इत्यलमतिजल्पनेन।

विवर्तपरिणामयोर्लक्षणे तु—'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः। सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीर्यते' शुक्तौ रजतं विवर्तः। दुग्धं दधि भवति इति परिणामः। अधिष्ठानसमसत्ताककार्यापत्तिः परिणामः, अधिष्ठानविषमसत्ताककार्यापत्तिर्विवर्त इति यावत्।॥ १॥

जैसे वैशेषिकदर्शनमें कार्य (घट) में पृथिवीत्वधर्म रहनेसे उसके कारण (परमाणु) में भी पृथिवीत्वधर्म ही मानते हैं और सांख्यदर्शनमें विकारों (पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियों) में सुख दुःखका समन्वय देखकर इनके कारण प्रधान (प्रकृति) में भी सुखदुःखरूपता मानी गई है। वैसे घट-पट आदि अर्थोंमें भी शब्दरूपताके अनुगम होनेसे घट-पट आदिके कारणोंको भी शब्दरूप मानना ही पड़ेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है, एक सविकल्पक दूसरा निर्विकल्पक। दोनों प्रत्यक्ष सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र किसी न किसी शब्दसे ही कहे जाते हैं। शब्दसे ही अर्थकी प्रतीति होती है। अतः शब्द और अर्थमें तादात्म्य माना जाना है। अतः वैयाकरणोंके मतमें शब्द ही ब्रह्म है।

यह शब्दतत्त्व ही जब अविद्याविशिष्ट ज्ञेयरूपतासे शून्य चैतन्यमात्र रहता है में तब जीव कहा जाता है, जब किसी अर्थ (घट) के उच्चारणकी इच्छासे युक्त होता है तब उसे मध्यमा वाक् कहते हैं, जब मुँहमें आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानोंसे क, ख, ग, आदि वर्णोंके रूपमें व्यक्त होता है तब उसे वैखरी वाक् कहते हैं और वही अविद्यारूपी बाह्य अर्थ की वासनासे प्रेरित होकर घट-पट आदि रूपमें परिणत (विवर्त) हो जाता है। विवर्त—अवास्तविक अन्यथा भावको कहते हैं। जैसे रस्सीमें सर्पबुद्धि। वस्तुतः रस्सी सर्प नहीं है, किन्तु भासित होती है वैसे ही शब्द ही घटरूपमें भसित होता है वस्तुतः शब्दसे अतिरिक्त घट कोई अलग सत्य नहीं है॥ १॥

एकस्यैव शब्दब्रह्मणः कथं विचित्रघटपटादिकार्यजनकत्वमेकस्माद्विचित्रकार्योत्पत्तेरदर्शनादित्यत आह—

यद्यपि एक (शब्द ब्रह्म) से परस्पर अत्यन्त भिन्न घट-पट आदि नहीं होते क्योंकि एक कारण से भिन्न-भिन्न और विचित्र कार्यों की उत्पत्ति नहीं देखी गई है। तथापि—

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥ २ ॥

यत्—शब्दब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अद्वैत एक एवाभवत्' 'सलिल एवैको द्रष्टा' इत्यादिश्रुतिभिः एकमेवाम्नातं कथितं तत् शक्तिव्यपाश्रयात् शक्तीनां घटपटादिविचित्रकार्यजननयोग्यतारूपाणां व्यपाश्रयात् आश्रयणात् शक्तिगतभेदारोपादिति यावत् भिन्नं पृथग्रूपम् 'प्रणव एवैकस्त्रेधा व्यभज्यत' इति श्रुतेः। सलिलशब्देन ब्रह्म। प्रणवोऽत्र अविवृत्तं ब्रह्म त्रेधा त्रिप्रकारेण—ऋग्यजुःसामरूपेण व्यभज्यत विभक्तमभूदिति तदर्थः। तथा च ब्रह्मण एकत्वेऽपि तद्गतशक्तिवैचित्र्याद् भेदमारोप्य विचित्रकार्यजनकत्वमिति भावः। नन्वेकस्य विभिन्नरूपताऽनुपपन्नेत्यत आह—अपृथक्त्वेऽपीति। अपृथक्त्वेऽपि अभिन्नत्वेऽपि ब्रह्म शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते शक्तिभेदमाश्रित्य पृथगिव भिन्नमिवावभासते न तु वस्तुतो भिन्नमिति भावः। शक्तिभ्य इत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी तथा च शक्तीराश्रित्येति तदर्थः। ननु ब्रह्मणो नानाकारावग्रहे एकत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, वृत्ता इति एकस्यानुपलब्धौ नानावृत्ताकारावग्रहसत्त्वेपि 'यथा ज्ञानस्यैकत्वं नानुपपन्नं तद्वद् ब्रह्मणोऽपीत्यदोषात्।

(वह एक और समस्त जगत् का कारण ब्रह्म (शब्द)) जो (एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, आदि श्रुतियोंसे) एक ही कहा गया है वह उस नित्य शक्तिका आश्रय है (जिससे घट-पट आदि विचित्र प्रकारके भिन्न भिन्न कार्य और ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रूपसे भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकट होते हैं।) यद्यपि उस ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है फिरभी शक्तिकी विचित्रतासे भेद दिखाई पड़ता है।

एतदुक्तं भवति—आवर्तबुद्बुदतरङ्गाख्या जलविकाराः परस्परं भिन्ना अपि जलमेव न ततो व्यतिरिक्ताः तथा घटपटादयो विकाराः परस्परं भिन्ना अपि पृथिव्येव न व्यतिरिक्ता इति घटपटादीनां भेदः पृथिव्या एकत्वमिव विलक्षणकार्योदयानुमीयमान वैलक्षण्याः शक्तयो ब्रह्मण एकत्वं न विरुन्धन्ति इति घटादिरूपेण भिन्नत्वेऽपि पृथिव्याः स्वतोऽभिन्नत्ववत् शक्तिरूपेण ब्रह्मणो भिन्नत्वेऽपि स्वतोऽभिन्नत्वमिति ब्रह्मणि नानात्वं काल्पनिकमेकत्वं च वास्तवमिति न तयोर्विरोध इति भावः ॥ २ ॥

जैसे भवँरी, बुलबुले और तरङ्ग परस्परमें भिन्न हैं फिरभी सब जल हैं। घट-पट आदि परस्पर भिन्न हैं फिर भी सब पृथिवी हैं। वैसे एक ही शब्द-ब्रह्म शक्तिरूपसे भिन्न होते हुए भी स्वतः अभिन्न है अर्थात् शब्द-ब्रह्म का एक होना स्वाभाविक और भेद काल्पनिक ही हैं ॥ २ ॥

शब्दब्रह्मनिष्ठशक्तीनां कार्यवैचित्र्योपपादकत्वे नित्यानां तासां सर्वदा सत्त्वात् कुतो न सर्वदा सर्वकार्योत्पाद इत्यतो नियामकमाह—

इस नित्य शब्द और शब्दकी विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकनेवाली शक्तिके नित्य होने पर भी सदा सब कार्य नहीं होते। क्योंकि—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥ ३ ॥

यस्य ब्रह्मणः अध्याहित आरोपितः कला=भेदः (निमेषादिक्रियोपहितनानात्वं यस्यास्ताम् अध्याहितकलां कालशक्तिं विश्वात्मा एक एव परं ब्रह्माभिधानं सत्यो भावः स एव नानाविधकार्यकारितयाऽनन्यशक्तित्वेन व्यवह्रियते तस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः कालस्ताम्, उपाश्रिता जन्मादयः जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, ह्रसति, नश्यति इत्येवंरूपाः षड् विकाराः भावभेदस्य योनयः कारणानि भवन्ति । औपाधिकभेदमादायैकस्यापि कालस्य क्रमरूपतया क्रमवत्कार्यजनकत्वमिति भावः ।

जिस ब्रह्मकी काल्पनिक भेदों वाली शक्ति कालशक्ति स्वतन्त्रशक्ति है (जिसमें निमेष पल-घटी आदि की कल्पना को गई है और जिस शक्तिके कारण ब्रह्म अनन्तशक्तिमान् माना जाता है ।) उसीके अनुसार जन्म (जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, ह्रसति, नश्यति) आदि छः प्रकारके विकार हैं जो भावों (पदार्थों) के भेदके (क्रमिक भेदके) कारण माने जाते हैं ।

अयं भावः—सर्वाः कारणशक्तयः कालेन अनुज्ञाताः सत्यो जनयन्ति कार्यम्, प्रतिबद्धाः सत्यो न जनयन्ति कार्यम्, हेमन्तादिकाले प्रतिबद्धाः वसन्तादिकाले अनुज्ञायन्ते इति कालः स्वातन्त्र्यशक्तिः अन्यासां च कालपारतन्त्र्यम्, यथा धीवराः पत्यन्तराणां ग्रहणाय सूत्रप्रतिबद्धान् पक्षिणश्चेष्टयन्ते तथा च ते सूत्रप्रतिबन्धादस्वतन्त्रा इव भवन्ति तथेच्छायां तन्तुनाऽऽकर्षणात् । एवं कालसूत्रप्रतिबन्धात् पदार्थाः संकोचविकासलक्षणावुत्पत्तिध्वंसावनवरतमनुभवन्ति । 'अतश्च कालसूत्रान्तर्गतं विश्वं प्राप्तकालं प्रसूयते' इति जायते इत्यवसीयते, प्रसूतमवतिष्ठते इति अस्ति इति व्यपदिश्यते, अवस्थितस्य विकारापत्तिरिति विपरिणमते, तच्च विपरिणमन्मुहूर्तमपि नावतिष्ठते इति वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं, ततोऽपक्षीयते मुहूर्तमप्यनवस्थानादेव ततः अवस्थितं कृतकरणीयं विनश्यति । तदुक्तं वाक्यपदीये—(का०. ३ समु० ९)

उत्पत्तौ च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम् ।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम् ॥

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्राधारं प्रचक्षते । प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभज्यते ॥
यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबद्धं च नोत्सृजेत् । अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यं विना कृताः ॥
विशिष्टकालसम्बन्धो वृत्तिलाभाय कल्पते । शक्तीनां सम्प्रयोगस्य हेतुत्वेनावतिष्ठते ॥
स्थितस्यानुग्रहस्तैस्तैर्धर्मैः संसर्गिभिस्ततः । प्रतिबन्धस्तिरोभावः प्रहाणमिति चात्मनः ॥
प्रतिबद्धाश्च यास्तेन चित्रा विश्वस्य वृत्तयः । ताः स एवानुजानाति यथा तन्तुः शकुन्तिनः ॥

विशिष्टकालसम्बन्धाल्लब्धपाकासु शक्तिषु ।
क्रियाभिव्यज्यते नित्या प्रयोगाख्येन कर्मणा ॥ इति ॥ ३ ॥

समस्त कारण-शक्तियाँ कालकी आज्ञानुसार कार्य करती हैं और रोके जाने पर कार्य नहीं करतीं। हेमन्त-कालमें जिन्हें रोका गया है वे वसन्त कालमें आज्ञा पा जाती हैं। इसलिए काल एक स्वतन्त्रशक्ति है। दूसरी शक्तियाँ कालके अधीन हैं। जैसे व्याध दूसरे पक्षियों को पकड़नेके लिए एक पक्षीको सूत्रमें बाँधकर प्रेरित करते हैं ये पक्षी सूत्रमें बँधे रहनेके कारण अस्वतन्त्र की तरह हैं। क्योंकि सूत्रके खींचने पर पुनः पकड़ लिए जाते हैं। वैसे कालरूपी सूत्रमें बँधे हुए पदार्थ संकोच और विकास रूपी उत्पत्ति और ध्वंसका सदा अनुभव करते हैं। इसीलिए कालरूपी सूत्रमें बँधा हुआ विश्व काल आने पर जब प्रसूत होता है तब **जायते** कहा जाता है, जब प्रसूत स्थित होता है तब **अस्ति** कहते हैं, जब विकार होता है तब **विपरिणमते** कहते हैं, जब विपरिणमित रुक नहीं सकता तब **वर्धते** कहते हैं जब तक बढ़ता है जब क्षीण होने लगता है तब **ह्रसति** कहते हैं और जब वह नष्ट हो जाता है तब **नश्यति** कहते हैं। यह कालशक्ति एक होने पर भी काल्पनिक भेदों के कारण अनेक और क्रमवाली है। इसीलिए क्रमसे कार्य उत्पन्न होता है, एक कालमें सब कार्य नहीं उत्पन्न होते ॥ ३ ॥

अभिन्नस्यापि ब्रह्मणः सर्वकार्यजनकत्वमुपपाद्य सांप्रतं सर्वव्यवहारहेतुत्वमुपपादयति-

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥ ४ ॥

सर्वबीजस्य यस्य एकस्य ब्रह्मणः **इयं** तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्या (ब्रह्मत्वेन ब्रह्मभिन्नत्वेन च वक्तुमशक्या) शक्तिरूपा **स्थितिः अनेकधा भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च** लोकव्यवहाराय प्रवर्तते। भोक्ता—पुरुषः, भोक्तव्याः—विषयाः, भोगः—विषयोपभोगजन्यसुखदुःखाद्यनुभव इति विवेकः। तद्वदयति—
सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः। भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका ॥

जो समस्त जगत्का कारण और एक है उसकी यह शक्तिरूपा स्थिति (जो ब्रह्मरूप तथा ब्रह्मभिन्न भी नहीं कही जा सकती अर्थात् अनिर्वचनीय स्थिति है) अनेक प्रकारसे लोकके व्यवहार में आती है। जैसे भोक्ता (पुरुष) भोक्तव्य (विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) भोग (विषयों के भोगसे उत्पन्न सुख दुःख आदि)

एकमेव ब्रह्म सर्वशक्तीतिप्रमाणेन सिद्धे अविद्याकल्पितस्य भावभेदस्य अपारमार्थिकत्वात् कार्यनानात्वोन्नीयमानः शक्तिभेद एकस्यैव युक्तो न तु स्वरूपभेद इत्यर्थः ॥४॥

इस तरह सर्वशक्तिमान् और अद्वितीय ब्रह्म है, पदार्थभेद अविद्याकल्पित और अवास्तविक हैं किन्तु विचित्र कार्योंके देखनेसे शक्तिमें ही विचित्रता माननी पड़ती है। ब्रह्ममें अनेकता मानना निरर्थक ही है ॥ ४ ॥

एवं प्राप्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह—

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

तस्य ब्रह्मणः, **प्राप्त्युपायः**—प्राप्तिसाधनम्, **अनुकारः**—प्रतिमा च **वेदः** वस्तुतो भेदाभावाद् ब्रह्मणोऽनुकार इव वेद इत्यर्थः, वेद एव ब्रह्मेति यावत्। स

च वेदः एकोऽपि महर्षिभिः पृथक् पृथक् समाम्नातोऽभ्यस्तः अनेकवर्त्मेव ऋग्यजुःसामाथर्ववेदभेदेन चतुर्विध इव भवतीत्यर्थः। समाम्नात इत्यनेन वेदस्य महर्षिप्रणीतत्वनिरासः।

इस अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन और उसकी प्रतिमा वेद है। यद्यपि वेद भी एक ही है तथापि महर्षियोंने अलग-अलग अभ्यास किया है अतः (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके रूपमें) अनेक प्रकारका दिखाई पड़ता है। या अध्ययन करनेवाले ऋषियोंके नामसे अनेक वेद मालूम पड़ते हैं। जैसे शाकल शाखा, बाष्कल शाखा आदि।

प्राप्त्युपाय इति। ब्रह्मणः प्राप्तिः—ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रममात्रम्। अहङ्कारचिदात्मनोस्तादात्म्याध्यास एव ग्रन्थिः तन्निवृत्तिश्च ग्रन्थिसमतिक्रमः।

इस कारिकामें प्राप्त्युपायमें दो पद हैं एक प्राप्ति और दूसरा उपाय। 'मेरा' और 'मैं' इस प्रकारकी अहंकार-ग्रन्थिका छूटना ही प्राप्ति है। अहंकार और चिदात्माका तादात्म्याध्यास ही ग्रन्थि है॥ ५॥

तदुक्तं पञ्चदश्यां चित्रदीपे—

अप्रवेश्य चिदात्मानं [1]पृथक् पश्यन्नहङ्कृतिम्।
इच्छँस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥ ६२॥ इति।

आह च—

वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य [2]बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम्॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्त्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥ इति।

चत्वारि शृङ्गा इति मन्त्रव्याख्यावसरे—'महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्' इति महाभाष्यप्रतीकमुपादाय 'महता परेण ब्रह्मणेत्यर्थः' इति कैयटः, ब्रह्मणा—शब्दब्रह्मणा साम्यं—सायुज्यमिति नागेशः,

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥ इति हरिः।

द्वौ शब्दात्मानौ कार्यो नित्यश्च तत्रान्त्यः सर्वेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् शब्दवृषभस्तस्मिन् खलु वाग्योगवित् शास्त्रजशब्दज्ञानपूर्वकप्रयोगेण क्षीणपापः पुरुषो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तं संसृज्यत इति तद्व्याख्यातारः। अविवृत्तो नित्यः विवृत्तः कार्यः इति केचित्। कार्यो वैखरीरूपः नित्यो व्यङ्ग्य आन्तरः स्फोट इति छाया।

---

१. अहङ्कारे चिदात्मानमप्रवेश्य—तादात्म्याध्यासेनानन्तर्भाव्येत्यर्थः। यथा आत्मनो व्यापकत्वेऽपि वृक्षादिजन्मनाशैर्न दुःखित्वं तेषु तादात्म्याध्यासाभावात् एवमहङ्कारगतेच्छादिभिर्देहगतव्याध्यादिभिश्च न दुःखित्वमित्यर्थः।

२. बन्धनानि—अविद्याहङ्कारादीनि।

इदमत्रावधेयम्—ब्रह्मणः सकाशात् प्रथमतो वेद एक एव विवर्तते ततोऽध्येतृ-णामशक्तेः प्रविभक्तः पुनरुपसंहृतभेदः। पुनश्च भिद्यत इति मतमवलम्ब्येयं कारि-उत्तरा च। तदुक्तं भागवते—

चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्। व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः। तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत। अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

वायुपुराणेऽपि—

वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः। ब्रह्मणो वचनात्तात लोकानां हितकाम्यया।
चातुर्होत्रमभूत्तस्मिँस्तेन यज्ञमकल्पयत्। आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैव च।
उद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः॥ इति।

सनत्सुजातीयेऽपि—

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः। इति।

अत एवाभियुक्तानां वचनम्—

सर्वार्थवेदको वेदश्चतुर्धा भिद्यते क्रमात्। ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः॥ इति

अन्ये तु अनेकवर्त्मैव अनेकशाखा इव भवतीत्यर्थमाहुः। तेषामयमाशयः—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' इति चतुर्विध एव वेदो ब्रह्मणः सकाशादाविर्भूतः केवलं शाखाभेदः अध्ययननिमित्तः। तदुक्तं शौनकीयप्रातिशाख्ये—

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः। पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम्।
सांख्यायनाश्वलायनौ माण्डुको बाष्कलस्तथा। बह्वृचा ऋषयः सर्वे पञ्चैते एकवेदिनः॥ इति

येन च ऋषिणा या शाखाऽभ्यस्ता सा तन्नाम्नैव प्रसिद्धिमुपगता यथा शाकलशाखा बाष्कलशाखेति। तदुक्तं शावरभाष्ये—'स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधावेकशाखाध्यायन्न्यां शाखामनधीयानस्तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणं कठशाखेति' इति आख्या प्रवचनादिति सूत्रे॥ ५॥

इदानीं ब्रह्मप्राप्त्युपायस्य वेदस्य स्वरूपकथनेन माहात्म्यमाह—

भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते॥ ६॥

तस्य वेदस्य भेदाः—ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाख्यास्तेषां भेदानां बहुमार्गत्वं बहुशाखत्वं वर्तते 'यथा एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं पञ्चदशधेत्येके, नवधाथर्वणो वेद'-इति। तस्य वेदस्य भेदानां शाखानां एकत्र एकस्मिन् कर्मणि च अङ्गता—तस्यां शाखायामनुक्तानामपि तदन्यशाखो-

पदिष्टानामङ्गानां 'सर्वशाखाप्रत्यय'न्यायेनोपसंहारेण उपकारकत्वं चेत्यर्थः । ननु यदि सर्वशाखानामेककर्मसंबोधकत्वं तर्हि शाखाभेदः किंनिबन्धन इत्यत आह—शब्दानामिति । तस्य वेदस्य शाखासु शब्दानां यतशक्तित्वं यता नियता शक्तिः बोधजनकता अभ्युदयहेतुता वा येषां तेषां भावस्तत्त्वं दृश्यते । येन रूपेण स्वरेण च युक्तो यस्यां शाखायामुक्तो यः शब्दः स तथैवोच्चरितः तत्रैवार्थमभिधत्ते पुण्यजनकश्च नान्यथा न शाखान्तरेऽतोऽर्थक्रियानियमेन शक्तिनियमस्तत्प्रयुक्तश्च शाखाभेद इति भावः । यथा 'लिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्तः' 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' इत्यादिः ।

वस्तुतस्तु—तस्य वेदस्य भेदानां तत्तद्वेदगतशाखानां बहुमार्गत्वं बहवः पदक्रमजटामालाद्यो मार्गा अभ्यासोपाया येषां तेषां भावस्तत्त्वम्, एकत्र एकस्मिन् कर्मणि अङ्गता एककर्मसंबोधकत्वं च वर्तते । तथा च शाखाभेदेऽपि कर्मभेदाभावाच्छाखान्तरविहितानामप्यङ्गानां शाखान्तरीयैस्तस्मिन् कर्मण्युपसंहृत्यानुष्ठानमिति भावः । ननु यजुर्वेदगतकाठककाण्वमाध्यन्दिनीयादिशाखासु विहितस्य दर्शपूर्णमासाख्यस्य कर्मण एकत्वं न सम्भवति एकस्यां शाखायां विहितस्य शाखान्तरे पुनर्विधाने तद्विधेरज्ञातज्ञापकत्वाभावेनानर्थक्यापत्त्या 'एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यादि'ति न्यायेन कर्मभेदादत आह—शब्दानामिति । तस्य वेदस्य शाखासु शब्दानां तत्तत्कर्मविधायकवाक्यानां यतशक्तित्वं तत्तच्छाखाध्यायिपुरुषसमेवतबोधजनकत्वं दृश्यते इत्यर्थः ।

यद्यपि उस वेदके (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके) भेदोंमें भी एक-एक वेदकी अनेक शाखायें हैं (जैसे एक सौ अध्वर्युकी शाखा, एक सहस्र सामवेदकी शाखायें) और उन (परस्परमें विभिन्न) शाखाओंका एक कर्म (याग) में (जो अङ्ग एक शाखामें नहीं लिखे हैं किन्तु दूसरी शाखामें लिखे हैं वे अङ्ग भी) परस्परमें उपकार्य-उपकारक भाव रखते हैं, तथापि वे शाखायें परस्पर भिन्न हैं । क्योंकि) उस वेदकी शाखाके शब्दोंकी बोधजनकता रूप और अभ्युदय(पुण्य)जनकता रूप अपनी शक्तियाँ अलग-अलग नियत हैं ।

अथवा

यद्यपि उस वेदकी शाखाओं (पद, क्रम, घन, जटा और माला आदि) में बहुत मार्ग (अभ्यासके उपाय) हैं और शाखाओंकी भिन्नता रहनेपर भी एक कर्ममें दूसरी शाखाके अङ्गोंका परस्परमें उपकार्य उपकारक भाव भी है । तथापि (एक वेदकी अनेक शाखाओंमें विहित दर्शपूर्णमास याग एक नहीं है । क्योंकि वेदकी शाखाओंमें उन-उन कर्मोंका विधान करनेवाले वाक्योंकी शक्तियाँ उन-उन शाखाओंके अध्ययन करने वाले ही जानते हैं ॥ ६ ॥

अयं भावः—यथा 'अध्वर्युं वृणीत' इत्यत्राध्वर्योरुद्देश्यत्वेऽपि वृतेनाध्वर्युणा

१. सर्वशाखाप्रत्ययः—सर्वशाखाप्रतिपाद्यमेकं कर्म । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायश्च—
शाखाभेदात्कर्मभेदो न वा कर्मात्र भिद्यते । दृष्टं काठकनामादि बहुभेदस्य कारणम् ॥
ग्रन्थद्वारादिना ह्येते युज्यन्ते भेदहेतवः । रूपादिप्रत्यभिज्ञानादभिन्नं कर्म गम्यते ॥
(इति न्यायमालायामुक्तः)

स्वकार्यं कुर्यादिति कल्प्यविधावुपादेयताया श्रवणादेकत्वविवक्षा, एवं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यत्र अध्ययनं प्रति स्वाध्यायस्योद्देश्यत्वेऽपि अधीतेन स्वाध्यायेनार्थज्ञानं भावयेदिति विनियोगविधावुपादेयत्वश्रवणात् तद्विशेषणस्य स्वत्वस्यैकत्वस्य च विवक्षेति स्वैः पितृपितामहादिभिरधीयते इति स्वाध्याय इति व्युत्पत्त्या स्ववेदे स्वकीयशाखामात्रस्यैवाध्ययनविधानेन एकैकस्य पुरुषस्यैकैकशाखाध्यायित्वात् तत्तच्छाखाध्यायिपुरुषान् प्रति तत्तच्छाखास्थविधेरज्ञातज्ञापकत्वेन अर्थवत्वात् 'एकस्यैवं पुनः श्रुति'रि'ति न्यायाप्रवृत्त्या कर्मभेदाभाव इति। नन्वेवं शाखान्तराध्ययनाभावे तदुक्तानामङ्गानामुपसंहारः कथमिति चेन्न—कल्पसूत्रादिभिः शाखान्तरीयाङ्गानां ज्ञानं संपाद्योपसंहारस्य कर्तुं शक्यत्वात्। न च स्वत्वस्य विवक्षितत्वे वेदान्तराध्ययनमपि न स्यादिति वाच्यम्, वेदानधीत्येति शास्त्रेण वेदेषु समुच्चयविधानात्। एवं च वेदभेदेऽसति बाधके कर्मणां भेद एकत्रोत्पत्तिरपरत्र गुणविधानं वा तत्र वेदान्तरशाखाध्यायिपुरुषाभेदेन एकस्य विधायकत्वेऽपरस्यानुवादकत्वापत्त्या उक्तन्यायप्रवृत्तेरिति ॥ ६ ॥

वेदमूलकत्वादेव स्मृतीनां प्रामाण्यं नान्यथेत्यतोऽपि वेदस्य महत्त्वमाह—

इसलिए ब्रह्मप्राप्तिका उपाय वेद ही है, उसीके द्वारा ब्रह्म जाना जा सकता है। स्मृतियाँ स्वतः प्रमाण नहीं हैं किन्तु जो कुछ वेदमें कहा गया है वही कहती हैं। अतः वेदमूलक होनेके कारण वे भी प्रमाण मानी जाती हैं।

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

बहुरूपाः—काश्चन 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्' इत्येवंरूपाः 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इति प्रत्यक्षश्रुतिमूलाः, काश्चन शिष्टेषु प्रसिद्धसमाचाराः 'अष्टकाः कर्तव्या' इत्यादयोऽनुपलभ्यमानश्रुतिमूलाः, दृष्टादृष्टप्रयोजनाश्च—तत्र 'गुरुरनुगन्तव्यः' इत्यादयः स्मृतयः अनुगमात्प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यति ग्रन्थग्रन्थिभेदिनश्च न्यायानन्वदयतीत्येवंरूपदृष्टप्रयोजनाः, अष्टकादिस्मृतयश्च अदृष्टप्रयोजनाः, स्मृतयो लिङ्गेभ्यः तत्तदर्थबोधकमन्त्रादिभ्यः तं वेदमेवाश्रित्य वेदविद्भिः प्रकल्पिता रचिता इत्यर्थः।

वे स्मृतियाँ भी अनेक रूपकी मिलती हैं। जिनमें कुछ स्मृतियोंका प्रयोजन स्पष्ट दिखाई पड़ता है, कुछका प्रयोजन अदृष्ट (पुण्य) मात्र है। ये स्मृतियाँ मन्त्रमें पढ़े हुए लिङ्गों (चिह्नों) को देखकर वेदके जानकार विद्वानों द्वारा कल्पित (रचित) हैं।

तद्यथा 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली। अष्टकायु राधसे स्वाहा' इति मन्त्रोऽष्टकास्मृतौ लिङ्गम्। 'तस्माच्छ्रेयांसं यन्तं पापीयान्[1] पश्चादन्वेतीति' श्रुतिर्गुर्वनुगमनस्मृतौ मूलम्। एवं

१. पापीयान्—लघुः।

च श्रुतिमूलकस्मृतिकर्तृकत्वसामान्यात् असंप्रतिपन्नश्रुतिमूलकस्मृतीनां मूलं श्रुतिरनुमेया, तदुक्तम्—'अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्' इति सूत्रेण जैमिनिना।

स्मृतयो बहुरूपाश्चेति। स्मृतीनां पञ्चविधत्वमुक्तं भविष्यपुराणे—

दृष्टार्था तु स्मृतिः काचिददृष्टार्था तथापरा।
दृष्टादृष्टार्थरूपान्या न्यायमूला तथाऽपरा॥
अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पञ्चमा।

एतासामुदाहरणानि तत्रैव—

षड्गुणस्य प्रयोज्यस्य प्रयोगः कार्यगौरवात्।
सामादीनामुपायानां योगो व्याससमासतः॥
अध्यक्षाणां च निःक्षेपः कण्टकानां निरूपणम्।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडात्मज॥
सन्ध्योपास्या सदा कार्या श्रुतौ मांसं न भक्षयेत्।
अदृष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोविदैः॥
पलाशं धारयेद्दण्डमुभयार्थां विदुर्बुधाः।
न्यायमूला विकल्पः स्याज्जपहोमश्रुतौ यथा॥
श्रुतौ दृष्टं यथा कार्यं स्मृतौ तत्तादृशं यदि।
अनूक्तवादिनी सा तु पारिव्रज्यं यथा गृहात्॥

षड्गुणाः—सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः[1]। सामादीनां[2] कार्यगौरवाद्व्याससमासाभ्यां योगः प्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः। जपहोमश्रुताविति। सूर्योदयावधि सावित्रीजपोऽनुदितहोमविषयः। अनूक्तवादिनी = अनूदितवादिनी। यथा 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इत्यनयाऽनूदितं 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' इति मनुस्मृतिर्वदति विधत्त इत्यर्थः॥ इति।

ननु 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' इत्येवंभूताः स्मृतयो लोभमूलाः 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' 'अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं वेदब्रह्मचर्यम्' इत्येवंभूताश्च स्मृतयः 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यादिश्रुतिविरुद्धाः, तासां कथं वेदमूलकत्वसम्भव इति चेदत्रोच्यते, वैसर्जनहोमीयस्मृतेः—'स्मृतीनां श्रुतिमूलत्वे दृढे पूर्वनिरूपिते। विरोधे सत्यपि ज्ञातुं शक्यं मूलान्तरं कथम्॥' इत्यनेन लोभमूलकत्वं निराकृत्य श्रुतिमूलकत्वस्य, औदुम्बरीवेष्टनस्मृतेः—

---

१. अरिविजिगीष्वोर्व्यवस्थाकरणमैक्यं सन्धिः। विरोधो विग्रहः। विजिगीषोररिं प्रति यात्रा यानम्। तयोर्मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानमासनम्। दुर्बलप्रबलयोर्वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः। अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं संश्रयः।

२. सामदानदण्डभेदाः। सामदाने दण्डभेदावित्युपायचतुष्टयमित्यमरात्। साम सान्त्वम्। दानं प्रसिद्धम्। दण्डो दमः। भेद उपजापः।

ततश्च श्रुतिमूलत्वाद्बाध्योदाहरणं न तत् ।
विरुद्धत्वे च बाधः स्यान्न चेहास्ति विरुद्धता ॥
न हि वेष्टनमात्रं हि स्पर्शश्रुत्या विरुध्यते ।
यदि द्वित्र्यङ्गुलं मध्ये विमुच्योत्तरभागतः ॥
वेष्टयेतौदुम्बरी तत्र किं नाम न कृतं भवेत् ।
सर्वा वेष्टयितव्येति न ह्येवं सूत्रकृद्वचः ॥
प्राक् च लोभादिह स्पर्शः कुशैरेवान्तरीयते ।
वेष्टितैषा कुशैः पूर्वं वाससा परिवेष्टयते ॥

इति ग्रन्थेन श्रुतिविरुद्धत्वं निराकृत्य शाख्यायनिब्राह्मणगतश्रुतिमूलकत्वस्य तन्त्रवार्तिके स्थापनात् । 'अष्टाचत्वारिंशद्वर्षम्' इति स्मृतिरपि अन्धपङ्ग्वादिविषया नैष्ठिकब्रह्मचारिविषया वेति न जातपुत्रश्रुतिविरुद्धा । तदुक्तं तन्त्रवार्तिके—

तत्रैवं शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः ।
गृहस्थत्वं न शक्नुवन्ति कर्तुं तेषामयं विधिः ॥
नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकताऽपि वा ।
तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनादावेतदुच्यते ॥ इति ।

ननु सर्वासां वेदविरुद्धकल्पितस्मृतीनां श्रुतिमूलकत्वात्प्रामाण्याङ्गीकारे 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' 'हेतुदर्शनाच्च' इति सूत्राभ्यां कस्याः स्मृतेरप्रामाण्यमुच्यते इति चेत् वेदबाह्यबौद्धादिकल्पितायाः स्मृतेरिति गृहाणेत्यलम् ॥ ७ ॥

जैसे 'गर्भाष्टमेब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्' यह स्मृति 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इस प्रत्यक्ष श्रुतिसे बनाई गई है। कुछ 'अन्वष्टका कर्तव्या' यह स्मृति शिष्टाचारसे ही बनाई गई है और इनका मूल 'अष्टकासु राधसे स्वाहा' मन्त्र है। इसी तरह 'गुरुरनुगन्तव्यः' यह स्मृति 'तस्मात् श्रेयांसं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति' इस श्रुतिको देखकर रची गई है। इनमें 'अष्टका' स्मृतिका प्रयोजन केवल अदृष्ट है और 'गुरुरनुगन्तव्यः' स्मृतिका प्रयोजन गुरुजीको प्रसन्न रखना दृष्ट प्रयोजन भी है ॥ ७ ॥

दर्शनभेदा अपि वेदादेवेत्याह—

इसी तरह दर्शन भी वेदमूलक होनेके कारण ही प्रमाण है। जो दर्शन वेद-मूलक नहीं वे प्रमाण नहीं और उनसे ब्रह्मकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। दर्शनोंमें भी जो भेद दिखाई पड़ते हैं वे भी वेदसे ही हैं। भेद कहीं बीचमें नहीं बन गया है। भेद होनेमें कारण यह है कि—

बुद्धिभेदजा

तस्यार्थवादरूपाणि निश्रित्य स्वविकल्पजाः ।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः ॥ ८ ॥

तस्य वेदस्य अर्थवादरूपाणि अर्थवादानर्थवादरूपाणि वाक्यानि निश्रित्य आश्रित्य स्वविकल्पजाः स्वस्वबुद्धिप्रभवाः, विकल्पो बुद्धिभेदः तदुक्तं 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्' इति, एकत्विनां द्वैतिनां च बहुधा भिन्नभिन्न-

रूपेण, ममैव दर्शनं सत्यमित्येवंरूपः प्रकृष्टो वादो येषु ते प्रवादाः अनल्पादरा दर्शनभेदाः, सता अभिमता इत्यर्थः ।

वेदके ही मन्त्रोंमें जहाँ अर्थ परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं वहाँ (भिन्न भिन्न दर्शनाचार्योंने) उनमें एकको अर्थवाद (प्रशंसा करनेवाला) और दूसरेको सिद्धान्त मानकर अपनी अपनी रुचिके अनुसार एकत्ववाद या द्वैतवाद मान लिया है और अपने-अपने आग्रह पर अपने-अपने पक्षका समर्थन करते हैं।

अर्थवादश्चानर्थवादश्चार्थवादानर्थवादौ रूपं येषां तानि अर्थवादरूपाणि शाकपार्थिवादित्वादुत्तरपदलोपः । अर्थवादाश्चानर्थवादरूपाणि च अर्थवादरूपाणीति यङ् च यङ्लुक् च यङ्लुकोरितिवदेकशेषो वा । केषाञ्चिद्वादाः अर्थवादमूलाः, केषाञ्चित् श्रुतितात्पर्यविषया इति तद्भावः ।

एकत्विनः—अद्वैतिनः 'एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'तत्त्वमसि' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिश्रुतिबलेन जीवब्रह्मणोरैक्यं ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतोऽभावं चातिष्ठमानाः 'द्वा सुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इत्यादिद्वैतबोधकश्रुतीनां प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादकत्वेन हीनबलत्वाद्बाध्यत्वमाचक्षते ।

द्वैतिनस्तु—प्रत्यक्षविरोधेनाद्वैतश्रुतय उपचारितार्था जगत्यास्थानिवृत्तये वैराग्योपष्टम्भार्थाः । द्वैतश्रुतयस्तु प्रत्यक्षसंवादेन सत्यार्था इति मन्यन्ते ।

एवं चार्वाकादयोऽपि 'अहं गौरः' 'अहं स्थूलः' इति प्रत्यक्षाभासमाश्रित्य 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति वाक्यं 'आत्मैव देहमयः' इति वैरोचनसिद्धान्तप्रतिपादवाक्यं च स्वमतोपष्टम्भाय स्वीकृत्य स्वमतमपि श्रौतीकर्तुं प्रतिपेदिरे । तदुक्तं विद्यारण्यस्वामिभिः—

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः । लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥
श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा । वैरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥

इत्यादिना—

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथान्यथा । मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥

इत्यन्तेन ग्रन्थजातेन ।

उदयनाचार्या-अपि आत्मतत्त्वविवेकशेषे—'प्रथमं बहिरर्थ एव भासते यमाश्रित्य धर्ममीमांसोपसंहारः चार्वाकसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थं 'पराञ्चि खानि' इत्यादिः 'तद्धानार्थं परं कर्मभ्य' इत्यादि । अथार्थाकारः यमाश्रित्य त्रैदण्डिकमतोपसंहारः योगाचारसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थम् 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि, तद्धानार्थम् 'अगन्धमरसम्' इत्यादि । अथार्थाभावः यमाश्रित्य वेदान्तद्वारमात्रोपसंहारः शून्यत्वनैरात्म्यसमुत्थानं च तत्प्रतिपादनार्थम् 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादि,

तद्धानाय 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः' इत्यादि। ततो विवेकः यमाश्रित्य सांख्यमतोपसंहारः शक्तिसत्त्वसमुत्थानं च। तत्प्रतिपादनार्थं च, 'प्रकृतेः परस्तात्' इत्यादि, तद्धानाय 'नान्यत् सत्' इत्यादि। ततः केवल आत्मा प्रकाशते यमाश्रित्याद्वैतमतोपसंहारः तत्प्रतिपादनार्थं 'न पश्यन्तीत्याहुरेकीभवती'त्यादि, तद्धानार्थं 'नाद्वैतं नापि च द्वैतम्' इत्यादि। ततः समस्तसंस्काराभिभवात् केवलोऽपि न विकल्पते यमाश्रित्य चरमवेदान्तोपसंहारः तत्प्रतिपादनार्थं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि। सा चावस्था न हेया मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात्। निर्वाणं तु तस्याः स्वयमेव यदाश्रित्य न्यायदर्शनोपसंहारः तत्प्रतिपादनार्थम् 'अथ यो निष्काम आत्मकाम आप्तकामः स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव समवलीयन्ते' इति प्राहुः॥ इति॥ ८॥

एकत्ववादी—(अद्वैतवादी) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, तत्त्वमसि, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर जीव-ब्रह्मकी एकता और ब्रह्मसे अलग जगत्की सत्ताका अभाव मानते हैं तथा 'द्वा सुपर्णा, य आत्मनि तिष्ठति, अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते इत्यादि द्वैतको बतानेवाली श्रुतियोंको प्रत्यक्ष वस्तु कहनेके कारण हीनबल मानकर एकत्ववादिनी श्रुतियोंसे इनका बाध कर देते हैं और अपने एकत्ववादका समर्थन करते हैं।

द्वैतवादी—प्रत्यक्ष वस्तुके विरुद्ध होनेके कारण अद्वैत श्रुतियाँ केवल संसारमें विश्वास हटानेके लिए हैं और द्वैत श्रुतियाँ प्रत्यक्ष सिद्ध सत्य अर्थका बोध कराती हैं अतः द्वैतको ही उचित मानते हैं।

चार्वाक भी—'आत्मैव देहमथः' इस श्रुतिको प्रमाण मानकर अपने पक्षको वेदसम्मत बतानेका साहस कर सकता है। अतः जितने पक्ष हो सकते हैं, सबके मूलमें वेद ही है॥ ८॥

ननु यदि एते दर्शनभेदाः आग्रहैकशरणपुरुषबुद्धिप्रभवा अन्यथायोज्यमानश्रुतिमूलाः परस्परविरुद्धाश्च तर्हि असत्या एव वस्तुनि विकल्पासंभवात् अतः सत्यं किं तत्त्वमत आह—

अब बात यह उठती है कि दर्शनोंके वेदमूलक होनेपर भी सबमें आग्रह के कारण एकता न होनेसे यह कैसे जाना जा सकता है कि ब्रह्मप्राप्तिका सच्चा मार्ग कौन है।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी॥ ९॥

य एते दर्शनविकल्पा भिन्नरूपानुगताः (भेदमाश्रिताः) ते भ्रमकारणरागद्वेषमूलत्वादसत्या इति न वेदतात्पर्यविषयाः किन्तु अभिन्नरूपत्वाद् विशुद्धिः विशिष्टा शुद्धिः रागद्वेषादिराहित्यं यस्यां सा, एकपदागमा एकं पदं प्रणवरूपमागमो बोधकं यस्याः सा, तथा च श्रुतिः—ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीतेति, एकस्मिन्पदे विषये आगमः समन्वयो यस्याः सा वा, विद्या ब्रह्मरूपा एकत्वबोधकश्रुतिर्वा एव न द्वैतं द्वैतश्रुतिर्वा सत्या अतः तत्र वेदे उक्ता—वेदतात्पर्यविषयः, सत्यार्थंप्रति-

पादकत्वेन पठिता वा। अद्वैतवादे कुतो न रागद्वेषावत आह—प्रणवेति। यतः सा विद्या प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी अतो युक्ता परमार्थो नान्येत्यर्थः॥

(जो रागद्वेष आदि दोषोंसे रहित) विशिष्ट शुद्धिवाली है और एक प्रणव (ॐकार) ही जिसे व्यक्त कर सकता है वह ब्रह्मरूपा एकत्वबोधिका विद्या ही सत्य है। वह हीं विद्या सत्य अर्थ प्रकाशित करनेके कारण वेदमें वर्णित है। क्योंकि जितने (परमाणुकारणवाद, प्रधानकारणवाद आदि) वाद हैं इन सबसे कोई विरोध भी नहीं हैं। अतः वही वेदका परम सिद्धान्त है।

परमाणुकारणवादो हि प्रधानकारणवादविरुद्धो नाद्वैतवादः कल्पनयाऽद्वितीय-ब्रह्मण एव प्रधानपरमाणुरूपत्वादतः यद्रूपं दर्शनभेदा ब्रह्मणः कल्पयन्ति तत्प्रणव एतदप्यस्य रूपमित्यभ्यनुजानाति। तद्यथा तार्किकेण परमाणुर्जगत्कारणं, सांख्येन प्रकृतिर्जगत्कारणमित्युक्तेऽद्वैतिना ओमिति वक्तुं शक्यते परमाणुप्रकृत्यादीनां ब्रह्मा-नन्यत्वादिति सर्ववादाविरुद्धत्वं ब्रह्मणः। यद्वा प्रकर्षेण नौति स्तौति इति प्रणवः, प्रणवो हि ब्रह्म स्तौति इति प्रणवेन ब्रह्मणस्तादात्म्यात् प्रणव एव ब्रह्म तदेव सत्यं तद्विवर्ताश्चान्ये मिथ्या इति न मिथ्याभूतेन द्वैतेन सत्यस्याद्वैतस्य विरोध इति भावः।

एतदेवाभिप्रेत्य गौडपादाचार्यैरुक्तम्—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते॥

कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शन-निमित्तं परस्परं द्विषन्ति अद्वैतिनो हि सर्वानन्यत्वात् यथा कदाचित् हस्तपदा-दिभिराहतोऽपि कश्चिन्न विरुध्यते तथा तैर्न विरुध्यन्त इति तदर्थः। यतः अद्वैतं, परमार्थः द्वैतं च तद्भेदः—तत्कार्यम् तद्विवर्तं इति यावत्, एकमेवाद्वितीयं तत्तेजो-ऽसृजत इति श्रुतेः। अतो न मिथ्याभूतेन द्वैतेन विरोधः। यथा मत्तगजारूढः उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत् द्वैतिनां तु उभयथा परमार्थतोऽपरमार्थतश्च द्वैतमेवातो विरोध इति।

अत एव परमार्थसारे पतञ्जलिः—

यद्वत्सिद्धान्तागमतर्कादिषु भ्रमन्ति रागान्धाः।
अनुमोदामस्ततस्तेषां सर्वात्मवादधिया ॥ इति।

इदमत्र तत्त्वम्—कणादादयो हि मायिकत्वेन मिथ्याभूतत्वेन ब्रह्मरूपत्वेन च ज्ञातमपि प्रपञ्चं बोधनीयशिष्याधिकारानुसारेण तदीयमायिकत्वाद्यपलप्य ब्रह्मरूपत्वेन ज्ञातपरमाण्वादिभ्यः सृष्टिमाहुः। यथाहुः—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' इति अतो न ऋषीणां परस्परं मतभेद इति ॥ ९ ॥

तात्पर्य यह है कि वे दर्शन जो परस्पर भिन्न हैं और एक पक्षपर आग्रह किए हैं। जैसे परमाणुकारणवाद और प्रधानकारणवाद। परमाणुकारणवादी कणाद जगतकी सृष्टि परमाणुसे मानते है। वहीं प्रधानकारणवादी कपिल जगतका कारण प्रधानको (प्रकृतिको)

मानते हैं इनमें परस्पर मत भेद हैं किन्तु जो सत्य है उससे दोनोंसे कोई मतभेद नहीं है। क्योंकि प्रधान या परमाणु ब्रह्मसे अन्य है ही नहीं। अतः ब्रह्मको कारण मानने वाले अद्वैतियोंकी दृष्टिमें दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। अतः ब्रह्म ही सत्य है। अथवा ब्रह्मकी प्रकृष्ट स्तुतिति करने वाले प्रणवसे ब्रह्ममें तादात्म्य है अतः ब्रह्म होनेके कारण प्रणव सत्य है उसके विवर्त जो अन्य हैं वे असत्य (मिथ्या) हैं। मिथ्या द्वैतसे सत्य अद्वैतका कोई विरोध नहीं है। यहाँ वास्तविकता यह है कि बोधनीय शिष्यकी शक्तिके अनुसार ही विषयका ज्ञान करना चाहिए। बौद्धा परमाणुको ब्रह्म समझता है अतः उसे वही जगत्का कर्ता बताया गया है ॥९॥

किं बहुना सर्वेऽपि विद्याभेदा वेदादेवेत्याह—

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥ १० ॥

लोकानां विधातुः—उपदेष्टृत्वेन सर्वव्यवस्थापकस्य सर्वशब्दार्थप्रकृतिरूपत्वेन सर्वस्रष्टुश्च तस्य प्रणवरूपस्य वेदस्य अङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः—अङ्गानि-विधयः, उपाङ्गानि—मन्त्रार्थवादोपनिषदादयः निबन्धनं मूलं येषां ते, अङ्गानि—व्याकरण-शिक्षानिरुक्तकल्पज्यौतिषच्छन्दःशास्त्राणि, उपाङ्गानि पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि निबन्धनं प्रयोजकं येषु ते वा। ज्ञानसंस्कारहेतवः—ज्ञानं-सम्यग्ज्ञानं, संस्कारः—पुरुषसंस्कारः धर्म इति यावत् तयोर्हेतवः, यद्वा ज्ञानमेव संस्कारः उत्पन्नज्ञाना हि संस्कृता इत्युच्यन्ते तस्य हेतवः। विद्याभेदाः व्याकरणादयः प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति।

जगत्की सृष्टि या उपदेश करनेवाले इसी प्रणवरूपी वेदके अङ्ग (विधि) और उपाङ्ग (मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषत्) अथवा अङ्ग (व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, कल्प, ज्यौतिष और छन्दः शास्त्र) और उपाङ्ग (पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र) मूलक ज्ञान और संस्कार-के कारण ही व्याकरण आदि विद्याके भेदोंका विस्तार हुआ है।

तदाहुः—'सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टा' इति ॥

उपदेष्टृत्वञ्च वेदस्य—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ इति मनुनाभिहितम्।

नामानि घटपटादिसंज्ञा, कर्माणि अध्ययनादीनि, पृथक्संस्थाः लौकिकीर्व्य-वस्थाः—घटनिर्माणं कुलालस्य, पटनिर्माणं कुविन्दस्य, इत्यादिका वेद शब्देभ्य एव कृता इति तदर्थः।

सर्वशब्दार्थप्रकृतित्वं च प्रणवरूपस्य वेदस्य—'ॐकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इति श्रुतेः। बह्वी—वाक्यपदादिरूपा नानारूपा—घटपटादिरूपा च। स्पष्टीकृतं चैतद् 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति श्रुति-(माण्डूक्योपनिषद्) व्याख्याने श्रीशङ्कराचार्यभगवत्पादैः। तथाहि—'यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात् अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरे-

कादोङ्कार एवेदं सर्वम्' इति । ननु शब्दातिरिक्तार्थाभावे शब्दस्यार्थवाचकत्वानुपपत्तिः एकत्र विषयविषयित्वायोगात्, तथा च निर्विकल्पकं वाच्यवाचकविभागशून्यं सन्मात्रं वस्तु प्राप्नोति इति चेदिष्टमेवैतत् कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वादित्यवेहि । तथाच श्रुतिः—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इति । 'वाचया केवलमारभ्यते विकारजातं न तु तत्त्वतोऽस्ति यतो नामधेयमात्रम्' इति तदर्थं भामतीकारा आहुः । ननु वाच्यं च वाचकं च सर्वमोङ्कार एवेत्यभ्युपगमेऽपि परं ब्रह्म पृथगेव स्थास्यति इति चेन्न यद्धि परं कारणं ब्रह्म तच्चेदवगम्यते किञ्चिदभिधानं तेनेदमभिधेयमित्येवमात्मकोपायपूर्वकमेव तदधिगमः । अभिधेयं च स्वाभिधानाव्यतिरिक्तं तत्पुनरोङ्कारमात्रमिति वाच्यं ब्रह्मापि वाचकाभिन्नं तन्मात्रमेव भविष्यति । तदुक्तं भगवत्पादैः—'परञ्च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यते इत्योङ्कार एव' इति । 'रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्यास्पदमद्वय आत्मा परमार्थः सन् प्राणादिविकल्पस्यास्पदं यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मकविकल्पविषय ओङ्कार एव' इति च ।

इदमत्रावधेयम्—प्रणवो द्विविधः परोऽपरश्च । परः ब्रह्मात्मकः अपरः शब्दात्मकः । तथा च सूतसंहिता—

परः—परतरं ब्रह्म ज्ञानानन्दादिलक्षणम् । प्रकर्षेण नवं यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दरूपः सुनिर्मलः । प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः ॥

पर एव प्रणव आन्तर इति अविवृत्त इति चोच्यते ।

भागवतेऽपि—[१२ स्क० ६ अ० ३७–४४ श्लो०]

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् । यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥

कोऽसौ परमात्मा तत्राह—

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥ इति ।

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥
तस्य ह्यासन् त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह । धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणानामार्थवृत्तयः ॥
ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः । अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादिलक्षणम् ॥
तेनासौ चतुरो वेदाँश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः । सव्याहृतिकान् सोङ्कारान् चातुर्होत्रविवक्षया ॥

त्रिवित्–त्रिमात्रः, अव्यक्तः–परब्रह्मरूपः प्रणवः प्रभवः कारणं यस्य, लिङ्गं-गमकम्, येन-प्रणवेन, आकाशे हृदयाकाशे, आत्मनः सकाशाद्व्यक्तिः, प्रणव एव परमात्मा, स्वधाम्नः स्वकारणस्य, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, नामानि-ऋग्यजुःसामानि, अर्थाः–भूर्भुवःस्वर्लोकाः, वृत्तयः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः । एवं च अपरप्रणवरूपो वेदः परब्रह्मणः प्राप्त्युपायः तत्कार्यत्वात् कार्यकारणयोरभेदात् । केचित्तु–'एतदालम्बनम्' इति श्रुतिप्रामाण्यात् प्रतिमायां विष्णुबुद्धिवदोङ्कारो ब्रह्मबुद्ध्योपास्यमानो

ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायो भवतीत्याहुः। यद्वा समाधिनिष्ठो यदोमित्युच्चार्यात्मानमनुसंधत्ते तदा स्थूलमकारमुकारे सूक्ष्मे तं च कारणे मकारे तमपि कार्यकारणातीते प्रत्यगात्मनि उपसंहृत्य तन्निष्ठो भवति। तथा च 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इति श्रुतिः, 'अकाराद्यास्त्रयो वर्णा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। अन्त्ये प्रतीयमानो यो ध्वनिर्ब्रह्मेति कथ्यते॥' इति स्मृतिश्चेत्यलम्॥ १०॥

प्रणव भी दो प्रकारका है। एक पर और दूसरा अपर। जो पर प्रणव है वह ही परब्रह्म का रूप है। वह ही पश्यन्ती वाक्रूपी ब्रह्म है और जो अपरप्रणवरूपी ब्रह्म है वह वेदादि वाक्रूपब्रह्म है जो परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय है। क्योंकि परब्रह्म ही वेदरूपमें प्रतीत है। इसीलिए व्याकरण भी ब्रह्मप्राप्तिका उपाय माना जाता है। कुछ लोगोंका मत है कि जब समाधिमें बैठते हैं तब ॐकारका उच्चारण कर आत्माका अनुसन्धान करते हैं। तब स्थूल अकारको सूक्ष्म उकारमें, उस उकारको कारणरूपी मकारमें और मकारको भी कार्य-कारणातीत आत्मामें उपसंहार करके उसीमें रमते हैं—

'अकाराद्यास्त्रयोवर्णा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः। अन्त्ये प्रतीयमानो यो ध्वनिः ब्रह्मेति कथ्यते॥१०॥

भेदानां बहुमार्गत्वमित्यारभ्य विधातुस्तस्येत्यन्तेन प्रबन्धेन शब्दब्रह्मप्राप्त्युपायभूतस्य वेदस्य प्रशंसां विधाय तत्प्रधानाङ्गत्वेन अध्येतॄणां व्याकरणाध्ययने सोत्साहं प्रवृत्तिसिद्धये व्याकरणं प्रशंसन् त्रिभिः श्लोकैर्वैदिकशब्दानुशासनरूपं व्याकरणस्य प्रयोजनं सूचयन् भाष्योक्तानि रक्षोहागमरूपाणि त्रीणि व्याकरणप्रयोजनान्याह—

इस प्रकार ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए वेदका जानना अनिवार्य सिद्ध हुआ। अङ्गोंवेदका ज्ञान अङ्ग ज्ञानके बिना हो नहीं सकता। अङ्ग भी छः है। उन अङ्गोंमें व्याकरण ही प्रधान अङ्ग हैं। क्योंकि—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ ११॥

बुधाः महर्षयः तस्य वेदाख्यस्य ब्रह्मणः आसन्नं—साधुत्वप्रतिपत्तये प्रकृतिप्रत्ययविभागान्वाख्यानरूपस्वरूपसंस्कारजनकतया—ऊह्यस्य 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इत्यादिकस्य सत एव वेदखण्डस्य[1] आलस्यादिनानाम्नातस्य यथावस्थितलिङ्गवच-

१. प्रकृतितोऽतिदेशेन प्राप्ते 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रे कार्यवशेन विकृतौ प्रक्षिप्यमाणमग्निपदस्थाने सूर्यादिपदमूहः। यद्यपि शास्त्रदीपिकादौ अभियुक्तानां मन्त्रपदवाच्यत्वप्रकारको यो निश्चयस्तद्विषयत्वरूपस्य मन्त्रलक्षणस्याभावादूहे मन्त्रत्वाभावः प्रतिपादितः विधिप्रयोजनत्वाभावाच्च ब्राह्मणत्वाभावस्तथापि 'सत्यमूहस्यापि नावैदिकत्वम्—वेदभागोऽपि कश्चित्प्रत्यक्षः श्रूयते कश्चिदनुमानादिगम्यः' इति तन्त्रवार्तिकग्रन्थेन ऊहस्य वेदत्वे न क्षतिः। वेदो द्विविधो मन्त्रो ब्राह्मणश्चेति विभागस्तु पाठ्यमानवेदविषयकः। तदुक्तं न्यायसुधायां वेदस्य द्वैराश्यनियमे सत्यूहादेरप्यनुमानादिगम्यवेदत्वाभ्युपगमाद्विधिप्रयोजनकत्वाभावेन च ब्राह्मणत्वाभावान्मन्त्रत्वप्रसङ्गे पठ्यमानवेदविषयत्वं द्वैराश्यनियमस्य वक्तुमेतद् 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः' [जै० अ० २ पा० १ सू० ३४] अधिकरणम्' इति। ऊहे मन्त्रत्वाभावेऽपि तदेकवाक्यतापन्नमन्त्राक्षराणां मन्त्रत्वमस्त्येवेति ध्येयम्।

नाद्यवगमेन स्वस्यविपरिणमय्य अनुमापकतया च साक्षादुपकारकं, मीमांसया तु इदमूह्यमिदमनूह्यमित्येव व्यवस्थाप्यते न तूह्यस्य मन्त्रस्य स्वरूपं बोध्यते इति न सा साक्षादुपकारिका। अनेन वेदरक्षारूपमूहरूपं च व्याकरणप्रयोजनमुक्तम्। तपसाम्—अदृष्टफलजनकानां ब्रह्मचर्याधःशयनचान्द्रायणादीनां, काम्यानां वा, मध्ये उत्तमं–दृष्टादृष्टोभयफलजनकतया, 'ब्राह्मणेन निष्कारणः' इति श्रुत्या नित्यतया 'एकः शब्द' इति श्रुत्या च काम्यतया[1] वा श्रेष्ठं, तपः अनेन 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इत्यागमरूपं प्रयोजनमुक्तम्। उक्तमागमं स्मारयितुं तदुपपादकं भाष्यं स्मारयति–प्रथममिति। छन्दसां वेदानां प्रथमं प्रधानम् अङ्गं व्याकरणं प्राहुः। तथा च 'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणं प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' इति भाष्यम्। यद्वा छन्दसां प्रथममङ्गं—मुखं, व्याकरणं प्राहुः 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' इत्युक्तेरित्यर्थः। तत्र पाणिनीयमेव व्याकरणं वेदाङ्गं न कौमारादिकं तस्य लौकिकप्रयोगमात्रज्ञानार्थत्वादिति ध्येयम्।

विद्वानोंने व्याकरणको वेदका अत्यन्त उपकारक अङ्ग माना है और दृष्ट अदृष्ट दो प्रकार के फलोंको देनेके कारण व्याकरणाध्ययनको उत्तम तप भी माना है। इसीलिए व्याकरणको वेदका प्रधान अङ्ग (मुख) कहा है।

अयं भावः—वेदार्थज्ञानाय निरुक्तस्य, गायत्र्यादिच्छन्दोविवेकाय छन्दःशास्त्रस्य, वर्णाभिव्यक्तिजनकवायुसंयोगाधिकरणत्वेन कण्ठताल्वादिज्ञानाय शिक्षायाः, वेदप्रतिपाद्यकर्मप्रयोगानुगमनाय कल्पस्य, कर्मानुष्ठानाधिकरणीभूततिथ्यादिज्ञानाय ज्यौतिषस्य अपेक्षणीयत्वेऽपि तेषां वेदस्वरूपज्ञानाय नापेक्षा व्याकरणस्य तु शब्दसंस्कारद्वारोहादिद्वारा च वेदस्वरूपज्ञानायापेक्षेति तदासन्नं वेदाख्यस्य ब्रह्मण इति भावः ॥ ११ ॥

और यही उचित भी है क्योंकि वेदके अर्थका ज्ञान निरुक्तसे, छन्दः विवेक छन्दःशास्त्रसे, वर्णोंके उच्चारणका ढङ्ग शिक्षासे, कर्मोंके प्रयोगका ज्ञान कल्पसे, और उपयुक्त तिथि नक्षत्रादि ज्ञान ज्यौतिषसे अपेक्षित है। किन्तु वेदके स्वरूप ज्ञानके पहले इनकी कोई अपेक्षा नहीं है। अतः पदोंमें प्रकृति प्रत्ययके ज्ञान द्वारा वेदकी रक्षा और एक शब्दके स्थानपर दूसरे शब्दका उचित प्रत्ययके द्वारा ऊह करनेके लिए व्याकरणाध्ययनकी परमावश्यकता है। 'ब्राह्मणेन निष्कारणः' इत्यादि श्रुतियोंसे नित्य तथा 'एकःशब्दः' श्रुतिके द्वारा काम्य होनेसे व्याकरणकी अवश्य पठनीयता आगम प्रमाण भी सिद्ध कर रहे हैं। इस प्रकार रक्षा, ऊह और आगम रूप महाभाष्योक्त व्याकरणाध्ययनके प्रयोजनोंको ध्यानमें रखकर व्याकरणाध्ययन अवश्य करना चाहिए। इसीलिए व्याकरण वेदके स्वरूप ज्ञानमें अत्यन्त आसन्न भी है ॥११॥

भाष्योक्तं लाघवरूपं तुरीयं व्याकरणप्रयोजनमाह—

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥ १२ ॥

१. व्याकरणाध्ययनस्य नित्यत्वकाम्यत्वाभ्यां व्याकरणस्य नित्यत्वकाम्यत्वोक्तिस्तपस्त्वोक्तिवदिति मन्तव्यम्।

अभिन्नात् संहृतक्रमात् अन्तःसन्निविष्टात् पश्यन्तीरूपात् शब्दतत्त्वात्–प्राप्तो वर्णपदवाक्यलक्षणो रूपविभागो यया, यद्वा अभिधेयत्वेन प्राप्तः रूपविभागः अर्थविशेषः गवादिर्यया, यद्वा प्राप्तः रूपविभागः गवादिरर्थः कार्यकारणभावेन यया, शब्दो हि गवादिरूपेण परिणमते ते च गवादयस्तत्रैव लीनाः वाग्रूपेण व्यवतिष्ठन्ते यदाहुः–'नामैवेदं रूपत्वेन वव्रुते रूपं चेदं नामभावेऽवतस्थे। एके तदेकमविभक्तं विभेजुः प्रागिवान्ये भेदरूपं वदन्ति' इति, सा तस्याः प्राप्तरूपविभागायाः सक्रमायाः वाचः वाचकत्वादभ्युदयहेतुत्वाच्च यः परमो रसः सारः व्यवस्थितसाधुभावः शब्दसमूहः, यदाहुः 'ऋजीषमेतद्वाचो यः संस्कारहीनः शब्दः' इति 'निष्पीडितरसस्याग्रे रसः सारः यदन्यत्किट्टं स ऋजीषः' इति यत्तत् श्रुतिप्रसिद्धं पुण्यतमम् प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशकं ज्योतिः शब्दाख्यम्, यथाहुः–'इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः 'योऽयं जातवेदाः यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धं यावत्स्थास्नु चरिष्णु च' इति तस्य साधुशब्दसमूहस्य ज्ञाने अयं सामान्यविशेषलक्षणवान् व्याकरणरूपः आञ्जसः सरलो मार्ग उपाय इत्यर्थः। प्रतिपदोक्तशब्दपारायणरूपस्तु अत्यन्तकृच्छ्रो मार्गः तथा च श्रूयते 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम' इति। तथा च लध्वर्थं व्याकरणम् इति भावः॥ १२॥

और जिसने एक और क्रम रहित पश्यन्ती वाक् रूपी शब्दतत्त्वसे वर्ण-पद-वाक्य रूपी रूपविभाग प्राप्त किया है। अथवा वाच्यरूपमें रूपविभाग (अर्थ विशेष) प्राप्त किया है। अथवा कार्य-कारणके रूपमें जिसने अर्थरूप धारण किया है और जो क्रमवती वाणीका (वैखरी) वाचक या अभ्युदयका कारण होनेके नाते परमसार है, जो श्रुति प्रसिद्ध पुण्यतम आलोक और तमको प्रकाशित करने वाली शब्दनामकी ज्योति है उसके साधुत्व ज्ञानके लिए यह व्याकरण शास्त्र ही सरल मार्ग है।

क्योंकि शब्द अनन्त है। उनका ज्ञान कोषके द्वारा होना असम्भव है। एक बार इन्द्रजीको इच्छा हुई थी कि सब शब्दोंको पढ़ लिया जाय। उन्होंने देवगुरु बृहस्पतिको बुलाया और पढ़ने लगे। एक हजार वर्ष बीत गए किन्तु शब्द राशिका अन्त नहीं हुआ। आजकल तो जो बड़ा दीर्घायु होगा वह सौ वर्ष जी सकेगा फिर उसे इस शब्द राशिका ज्ञान कैसे हो सकता है। इसलिए शब्दोंके ज्ञानके लिए कुछ नियम बना लेना चाहिए। जो नियम कुछ सामान्य नियम हों और कुछ विशेष नियम हो। विशेष नियमोंसे सामान्य नियमोंका बाध हुआ करेगा। इस प्रकार थोड़ेसे समय और परिश्रमसे बड़े शब्द सागरको पार किया जा सकता है। अतः व्याकरण नामके इस शास्त्रका निर्माण हुआ जो थोड़ेसे परिश्रममें शब्द राशिका ज्ञान कराता है। अतः यह व्याकरण शब्द-ब्रह्मके ज्ञानमें लाघव (शीघ्रता) करने वाला है अर्थात् थोड़े परिश्रममें अधिक शब्दोंका ज्ञान कराता है॥ १२॥

सर्वव्यवहारसम्पादकजात्यादिबोधकशब्दस्वरूपबोधकत्वादपि व्याकरणं प्रशंसन् भाष्योक्तं संदेहाभावरूपं पञ्चमं व्याकरणप्रयोजनमाह—

अथप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ १३ ॥

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम् अर्थस्य घटादेः प्रवृत्तौ व्यवहारे-जलाहरणादिरूपार्थक्रियाकारित्वे, अयं घट इत्यादिशब्दप्रयोगे वा, निमित्तानि जातिगुणक्रियासंज्ञाः तेषां, तथा च भाष्यम् 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाः' इति । अत्र-'शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः (प्रयोगः) सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः' इत्युद्योतः । यावद्व्यक्तयो जात्यादिभिर्नोपरज्यन्ते तावदिदं तदित्येवं व्यवहार्या न भवन्तीति भवति तेषां व्यवहारे निमित्तत्वम् । शब्दा एव निबन्धनं बोधकाः, सर्वो हि व्यवहारः शब्दमूलः न हि शब्दमनुच्चार्यकश्चिद्व्यवहर्तुं शक्नोतीति भावः । निबन्धनमिति वेदाः प्रमाणमितिवन्निर्देशः । नन्वेतावता किमायातं व्याकरणस्य, शब्दस्वरूपबोधस्य श्रोत्रेन्द्रियादेव सत्त्वादत आह—तत्त्वेति । शब्दानां तत्त्वावबोधः तत्त्वम्-अवैकल्यं साधुत्वं, यथार्थबोधकत्वं, वा तस्य अवबोधः निश्चयः, स्थूलपृषतीमित्यत्रार्थनिर्णयस्य व्याकरणाधीनत्वात् । देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवन्नित्यसापेक्षत्वात् समासः । व्याकरणादृते नास्ति व्याकरणादेव भवति न श्रोत्रादिभ्य इति भावः । शब्दस्यैतदेव वैकल्यं-यदपगतसंस्कारत्वम्, अन्यार्थबोधकत्वं वा । अनेन सन्देहाभावरूपं व्याकरणप्रयोजनमुक्तम् ।

और किसी भी अर्थके (घट, पट आदिके) प्रवृत्ति (व्यवहार, जैसे पानी भरना), और घट शब्दके प्रयोगमें (उच्चारणमें जातिशब्द गुणशब्द और क्रिया) शब्द ही बोधक हैं। क्योंकि जितने व्यवहार हैं सब शब्दसे ही चलते हैं । उन शब्दोंके तत्त्वका (निःशेष साधुत्व, या यथार्थबोधकत्वका) ज्ञान विना व्याकरणके नहीं हो सकता ।

अयं भावः-शब्दस्य द्वे रूपे शब्दत्वं साधुत्वं च तत्राद्यस्य श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि द्वितीयं व्याकरणादेव गृह्यते न श्रोत्रादन्यथाऽनधीतव्याकरणा अपि प्रतिपद्येरन् । एतेन 'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते' इति कुमारिलभट्टोक्तमपास्तम् ।

यथाऽऽहुः—

शब्दार्थसंबन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद ॥ इति ।

वाच्याविशेषेपि—एकस्मिन्नेव गोरूपेऽर्थे गोत्वजातिनिमित्तेन गोणीशब्दोऽसाधुः आवपनसादृश्यात्प्रयुक्तः साधुः इत्येवंभूतं—शब्दार्थसम्बन्धस्य निमित्तं प्रवृत्तिनिमित्तं तस्य तत्त्वमविपरीतत्वं, साध्वसाधून् शब्दान्, अयं शिष्टः साधुशब्दप्रयोक्तृत्वादित्येवमनुमितान् शिष्टाँश्चावैयाकरणो न वेदेत्यर्थः ॥ १३ ॥

शब्दके दो रूप हैं। एक तो शब्दत्व और दूसरा साधुत्व । जिसमें शब्दत्वका ज्ञान तो श्रवणेन्द्रियसे भी हो सकता है । क्योंकि यह नियम है कि 'जो वस्तु जिस इन्द्रियसे ज्ञात होता है उसकी जाति और अभाव भी उसी इन्द्रियसे ज्ञात होता है ।' अतः शब्दके श्रवणेन्द्रियसे ज्ञात होनेके कारण उसमें रहने वाली शब्दत्व जाति भी श्रवणेन्द्रियसे ही जानी जायगी ।

किन्तु जो दूसरा रूप साधुत्व है, वह तो व्याकरणके बिना जाना ही नहीं जा सकता ।

जैसे 'स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत' इस वाक्यमें 'स्थूलपृषती' पदके अर्थका ज्ञान विना व्याकरण के नहीं हो सकता है। क्योंकि समस्तपदोंके प्रकृति प्रत्ययका विभाग व्याकरणसे होगा और उदात्तादि स्वरका ज्ञान भी व्याकरणसे ही होगा। इस पदके अर्थ विचारनेमें हमें उदात्तादि स्वर सहायता करेंगे। जब हम इस पदमें पूर्वपदप्रकृतिस्वर देखेंगे तो (स्थूललानि पृषन्ति यस्या सा स्थूलपृषती) इस तरह बहुव्रीहि समास मानेगें और जब समासान्तोदात्त देखेंगे तब तत्पुरुष कर्मधारय (स्थूला चासौ पृषती च) मानेगें। इसलिए व्याकरण शब्दोंके अर्थ-ज्ञानमें संदेह भी दूर करता है और व्याकरणका अध्ययन संदेह निवृत्तिके लिए आवश्यक हो जाता है ॥१३॥

तदेवं व्याकरणस्य महाभाष्योक्तप्रयोजनान्युक्त्वा अपवर्गसंपादनरूपं तदुक्तं मुख्यं प्रयोजनमाह—

इस प्रकार महाभाष्यमें वर्णित रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह रूप पाँच प्रयोजनोंका वर्णन करके मुख्य प्रयोजन अपवर्गका प्रतिपादन करते हैं कि—

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥ १४ ॥

तद् व्याकरणम् अपवर्गस्य द्वारम्—उपायः, तद्यथा साधुशब्दज्ञानपूर्वकाप्रयोगादभिव्यक्तधर्मविशेषः महान्तं शब्दात्मानं प्राप्नोति तथाहि व्याकरणसंस्कृतचेतसा पूर्वं वैखरीद्वारा मध्यमामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं समस्तशब्दार्थकारणभूतामावृतां पश्यन्तीमनुगच्छति ततः शब्दपूर्वयोगाभ्यासभावनावशात् अनावृतां विशुद्धां पश्यन्तीं पराख्यां प्राप्नोतीति तत्प्राप्तिश्च तत्सायुज्यं तदेवापवर्गः। तथा च वक्ष्यति—'अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्। प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥' इति। सायुज्यमैक्यमित्यर्थः। प्रत्यवायजनकापभ्रंशप्रयोगरूपस्यापवर्गप्रतिबन्धकस्यापनयनाय व्यकरणस्योपयोगमाह—वागिति। **वाङ्मलानां** प्रत्यवायहेतूनां वाचो मलानां दुरुच्चारणरूपाणां **चिकित्सितम्** आयुर्वेद इव शारीराणां दोषाणाम्, **सर्वविद्यानां पवित्रं**—'यदाहुः आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः। तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः ॥' इति। विद्यासु इति **अधिविद्यं** सर्वासु विद्यासु **प्रकाशते** स्वीक्रियते, अपभ्रंशप्रयोगाभावाय अपेक्ष्यते इति यावत् ॥ १४ ॥

और यही व्याकरण अपवर्गका (मोक्षका) उपाय है, पापको उत्पन्न करने वाले अपशब्दरूप वाणीके मलोंकी चिकित्सा (औषध) करने वाला है, सब विद्याओंमें पवित्र और साधुशब्दोंके बतानेके कारण सब विद्याओंसे आदृत भी है ॥ १४ ॥

ननु 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' इति स्मरणाच्छ्रुतिवाक्यश्रवणजन्यमेव शब्दब्रह्मज्ञानमपवर्गायालं[1] न व्याकरणजन्यम्, न च शब्दशक्तिग्रह

१. इदं च मतं 'वेदान्तमूलेतिहासपुराणपौरुषेयप्रबन्धानामपि पक्षे (ब्रह्मविचाराय) प्राप्तिसंभवान्नियमोऽयम् (आत्मा श्रोतव्य इति विधिः) अस्तु' इति ग्रन्थेन सिद्धान्तलेशसंग्रहे उपन्यस्तम्। श्रुतिवाक्येभ्य एव ब्रह्मश्रवणे मोक्षो न पौरुषेयवाक्येभ्य इति तत्तात्पर्यम्।

तदपेक्षा, कोशकाव्यादित एव तदुपपत्तेरतो व्याकरणस्यापवर्गद्वारत्वमुपपादयन् लौकिकशब्दानुशासनरूपं प्रयोजनमाह—

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः ।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ॥ १५ ॥

यथा सर्वा अर्थजातयः घटादिसमवेता घटत्वादिजातयः शब्दाकृतिनिबन्धनाः शब्दानां घटादिशब्दानामाकृतयो घटशब्दत्वादयो निबन्धनं बोधकं यासां ताः अर्थगतजातीनां शक्यत्वं शब्दगतजातीनां च शक्तत्वमिति भावः । अर्थगतजातीनां बोधः शब्दादेवेति यावत् । तथैव एषा विद्या व्याकरणं लोके सर्वविद्यानां कोशकाव्यादीनां परायणम् स्वघटकपदशक्तिग्रहाय-अपेक्षणीयम् । ततश्च—'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इति न्यायाल्लोके शब्दशक्तिग्रहस्य व्याकरणाधीनत्वाद्वैदिकशब्दशक्तिग्रहस्यापि तदधीनत्वमिति श्रुत्यापि तदपेक्षणीयमिति भवत्यपवर्गद्वारं व्याकरणमिति भावः ॥ १५ ॥

क्योंकि जैसे सब अर्थों (घट, पट आदि) में समवाय सम्बन्धसे रहने वाली घटत्व जातिका बोधक घटशब्दत्व है । (क्योंकि अर्थगतजातिमें शक्यत्व और शब्दगतजातिमें शक्तत्व है ।) वैसे ही लोकमें जितनी (कोश-काव्य आदि) विद्यायें हैं. उन सबके लिए शक्तिग्राहक व्याकरण ही है ।

अतः लोककी तरह वेदमें भी शक्तिग्रह व्याकरणके द्वारा ही होनेके कारण व्याकरणका अध्ययन वेदज्ञान द्वारा मोक्षके लिए उपयुक्त है । इस प्रकार परम्परया व्याकरण भी मोक्षका साधन है ॥ १५ ॥

इदानीं न केवलं शक्तिग्रहायापेक्षितत्वाद् व्याकरणमपवर्गद्वारं किन्तु साक्षाच्छब्दब्रह्मसाक्षात्कारजनकत्वादपीत्याह—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥ १६ ॥

सिद्धिसोपानपर्वणां सिद्धिर्मोक्षः तस्य या अन्तरालावस्थास्ताः तत्प्राप्तौ सोपानतुल्यत्वात्सोपानानि तेषां विभागाः पर्वाणि तेषां मध्ये इदं व्याकरणम् आद्यं प्रथमं पदस्थानं पर्व, यथाचैतत् तथा 'तद्द्वारमि'ति कारिकाव्याख्याने स्पष्टम् । मोक्षमाणानां मुमुक्षूणां सा इयम् अजिह्मा अकुटिला राजपद्धतिः राजमार्ग इत्यर्थः । 'शैत्यं हि यस्सा प्रकृतिर्जलस्य' इतिवत् उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापद्यत्सर्वनाम पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभागितिन्यायेन 'इयं सा' इति निर्देशः ॥ १६ ॥

और सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करनेकी जो सीढियाँ (उपाय, अवान्तर-भूमिका) हैं । उनमें यह व्याकरण-शास्त्र पहली सीढ़ी है और मोक्ष चाहने वालोंके लिए यह सीधी सड़क है ।

तात्पर्य यह है कि व्याकरण केवल शक्तिग्रहके लिए ही नहीं उपयुक्त है अपितु ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए भी है । व्याकरणके द्वारा ही वैखरी मध्यमा और पश्यन्तीका क्रमसे ज्ञान होता

है। पश्यन्ती ही परा रूपमें [1]ब्रह्म है। अतः ब्रह्मज्ञानका कारण व्याकरण भी है ॥ १६ ॥

ननु 'आत्मा वारे द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति श्रुत्या प्रत्यगात्मसाक्षात्कारस्यैव मोक्षहेतुत्वश्रवणाच्छब्दसाक्षात्कारसाधकस्य व्याकरणस्य कथं मोक्षहेतुत्वमित्याशङ्क्य शब्दस्यैव प्रत्यगात्मरूपत्वप्रदर्शनेन व्याकरणस्य मोक्षहेतुतामाह—

यहाँ इस शङ्काका उठ जाना स्वाभाविक है कि मोक्ष आत्मसाक्षात्कारसे होता है शब्दसाक्षात्कारसे नहीं। व्याकरण शास्त्रसे शब्दका साक्षात्कार भले ही हो किन्तु ब्रह्मसाक्षात् न होनेके कारण मोक्षका कारण नहीं माना जा सकता, किन्तु यह शङ्का उचित नहीं—

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ॥१७॥

अत्र व्याकरणे अतीतविपर्यासः अतीतो नष्टो विपर्यासो—भ्रमो यस्य स सम्यग्ज्ञानवान् शब्दविपर्यासपूर्वको हि अर्थविपर्यासः 'स्थूलपृषतीमि'त्यादौ दृष्टः तं च शब्दविपर्यासमतिक्रामति उदात्तादिज्ञानेन व्याकरणात्, ततः व्याकरणादपगतशब्दार्थविपर्यासः सन् छन्दस्यः—छन्दसे वेदाय हितः वेदग्रहणसमर्थः आत्मा छन्दसां वेदानां योनिं छन्दोमयीं छन्दोरूपां केवलां शुद्धाम् अपभ्रंशविविक्तामिति यावत्। तनुं सूक्ष्मां स्वस्वरूपभूतां वा प्रणवरूपां पश्यति। शब्दब्रह्मण एव विवर्तो जीवः—"स एव जीवो विवरप्रसूतिः" इति आगमवचनात्, तथा च शब्दसाक्षात्कार एव आत्मसाक्षात्कारः। ततश्च व्याकरणस्य मोक्षहेतुत्वमुपपन्नमिति भावः॥

क्योंकि इस व्याकरणके ज्ञान हो जानेसे शब्दके बारेमें बुद्धिभ्रम दूर हो जाता है और मनुष्यको साधुशब्दोंका पता लग जाता है। उस समय आत्मा वेदोंके ज्ञानमें समर्थ हो जाता है और वेदोंकी छन्दरूपी योनिको जो शुद्ध है (अपभ्रंससे अलग है) उस सूक्ष्म प्रणवरूपी ब्रह्मकी देहको देख लेता है।

यह प्रथम कारिका की व्याख्यामें ही बता चुका हूँ कि पश्यन्तीवाक् ही किसी अवस्थामें जीव है। इसलिए पश्यन्तीका साक्षात्कार और आत्मसाक्षात्कारमें कोई भेद नहीं है। अतः शब्दसाक्षात्कारके द्वारा व्याकरण मोक्ष देता है ॥ १७ ॥

ननु 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति श्रुत्या आत्मसाक्षात्कारस्यैव 'तमेव[2] विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इतिश्रुत्या ब्रह्मसाक्षात्कारस्यापि बन्धनिवृत्ति (मोक्ष) हेतुता प्रतिपादिता। एवं च शब्दविवर्तस्य प्रत्यगात्मनो व्याकरणवेद्यत्वेऽपि परब्रह्मणो व्याकरणावेद्यतया कथं व्याकरणाध्ययनान्मोक्ष इत्याशङ्कां निराचिकीर्षुः परब्रह्मणो व्याकरणवेद्यतोपपादनाय शब्दब्रह्मरूपतां पञ्चभिः श्लोकैराह—

१. वैय्याकरण वाणीके पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामके तीन भेद ही मानते हैं वाणीका परा नामका भेद शैवसिद्धान्तके आधार पर नागेशने वैय्याकरणोंका माना है इसकी विवेचना आगे १४३ वीं कारिकामें पढ़िए।

२. तमेवेत्यत्र एवकारो भिन्नक्रमः विदित्वेत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः यथाश्रुतं तु न युक्तं आत्मसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वबोधकश्रुतिविरोधापत्तेः।

यद्यपि जैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिसे आत्मसाक्षात्कार मोक्षका कारण माना गया है। वैसे 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति–' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसाक्षात्कारको भी मोक्षके प्रति कारण माना गया है। जिसमें आत्मा शब्द-ब्रह्मका विवर्त है। व्याकरण द्वारा शब्दके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान हो सकता है। किन्तु ब्रह्म तो शब्दसे अलग है, इसलिए शब्द-ज्ञानसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। तब व्याकरण मोक्षका कारण कैसे मान लिया जाय यह शङ्का उठती है। तथापि यह समझ लेना चाहिए कि शब्द ही ब्रह्म है। शब्दज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है ब्रह्मज्ञान ही मोक्षका कारण है। क्योंकि

प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
तदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥ १८ ॥

प्रत्यस्तमितभेदायाः उपसंहृतक्रमाया वाचो यदुत्तमम् अविवृत्तं रूपं परब्रह्माख्यं शुद्धं मायोपप्लवरहितं ज्योतिः प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशकं शब्दाख्यं तत् अस्मिन्नेव वैकृतध्वनिरूपे तमसि अन्धकारे विवर्तते आच्छादितं वर्तते इत्यर्थः ॥ १८ ॥

जो क्रम रहित वाणीका उत्तम और शुद्ध (मायाके प्रपञ्चसे परे) आलोक और तमका भी प्रकाशक शब्दब्रह्मरूपी ज्योति है। वह इसी वैकृतध्वनि रूपी अन्धकारमें छिपी है ॥ १८ ॥

प्राकृतवैकृतध्वनिभिन्नं स्फोटं व्यवस्थापयन् पूर्वोक्तमेव रूपं स्पष्टयति—

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥ १९ ॥

इदमत्र बोध्यम्—ध्वनिर्द्विविधः प्राकृतो वैकृतश्च। प्रकृतौ स्फोटे भवः प्राकृतः स्फोटाभिव्यञ्जक इति यावत्। ध्वनिस्फोटयोः पृथक्त्वेनानुपलम्भात् स्फोटं ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यन्ते। तत्र स्फोटस्य प्राकृतध्वनेर्भेदाग्रहाद् वर्णोपरागाभिव्यक्तिजनकयत्नीयकालोपरागेणैव भानम्। अत एव तस्य प्राकृतत्वेन व्यवहारः। वैकृतः प्राकृतादुज्जातो विकृतिविशिष्टश्चिरस्थायी स्फोटानभिव्यञ्जकः स्फोटोपलब्धिधाराजनकः। प्राकृतेन ध्वनिना स्फोटेऽभिव्यक्ते, तदुत्तरकालभावी ध्वनिः स्फोटाद्विलक्षण उपलक्ष्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते। यथा उद्यन्नेव प्रकाशो घटमवभासयति तदनन्तरं चावतिष्ठमानः घटोपलब्धिधारां जनयन्नपि न घटे कञ्चिद्विशेषमादधाति, एवं प्राकृतध्वनिनाऽभिव्यक्ते शब्दे उत्तरकालमनुवर्तमानो वैकृतध्वनिः शब्दविषयां बुद्धिधारां जनयन्नपि न शब्दं प्रकाशयति। अतो वैकृतध्वनिसंसृष्टमपि स्फोटं वैकृतध्वनिभिन्नमुपलक्षयन्तो वैकृतध्वनिगतं देशकालभेदं स्फोटे नाध्यारोपयन्ति।

ध्वनि भी दो प्रकार की हैं। प्राकृत और वैकृत। प्राकृत-ध्वनि 'प्रकृतौ स्फोटे भवः प्राकृतः' अर्थात् 'स्फोटको व्यक्त करने वाली ध्वनि'। क्योंकि स्फोट और ध्वनिमें कोई पार्थक्य प्रतीत नहीं होता। अतः स्फोटको ध्वनिकी प्रकृतिकी तरह लोग मानते हैं और वर्णकी अभिव्यक्तिके प्रयत्नमें लगने वाले कालके द्वारा ही स्फोट में प्राकृत-ध्वनि का बोध होता है। इसीलिए उसे 'प्राकृतध्वनि' कहते हैं।

वैकृत ध्वनि तो 'प्राकृताज्जातः' विकृति विशिष्टः' प्राकृतसे उत्पन्न विकार से विशिष्ट, चिरकाल स्थायी, स्फोटका अनभिव्यञ्जक और स्फोटकी उपलब्धिधाराको उत्पन्न कराने वाली है। इसीलिए उसे 'वैकृतध्वनि' कहा जाता है।

प्राकृतध्वनि स्फोटको अभिव्यक्त करती है और वैकृत ध्वनि चिरकालतक बुद्धि धारा बनाती है। जैसे उदित होते ही प्रकाश घटका प्रत्यक्ष करा देता है किन्तु घटमें और कोई गुण नहीं डालता वैसे प्राकृतध्वनिसे अभिव्यक्त शब्दमें, प्राकृत ध्वनिके पीछे चलने वाली वैकृतध्वनि शब्द विषयक बुद्धिधारा बनानेके अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं उत्पन्न करती। इसी लिए वैकृत-ध्वनिसे सम्बद्धभी स्फोट वैकृत ध्वनिसे भिन्न है और वैकृतध्वनिके देश और कालको व्यक्त भी नहीं करता।

ततश्चायमर्थः—वैकृतं वैकृतध्वनिसम्बन्धि मूर्तिव्यापारदर्शनं-मूर्तेर्देशस्य व्यापारस्य क्रियायाः क्रियोपलक्षितकालस्य दर्शनमनुभवं, देशकालभेदमिति यावत्, समतिक्रान्ताः स्फोटेऽनारोपयन्तः आलोकतमसी स्फोटाभिव्यञ्जकत्वात्प्राकृतो ध्वनिरालोकः' स्फोटानभिव्यञ्जकत्वाद्वैकृतो ध्वनिस्तमः ते व्यतीत्य अतिक्रम्य स्थितं प्राकृतवैकृतध्वनिभिन्नमिति यावत् प्रकाशं स्फोटाख्यं समुपासते जानन्तीत्यर्थः॥

क्योंकि—विद्वान् लोग वैकृत ध्वनिसे सम्बद्ध मूर्ति (देश) व्यापार (क्रिया और क्रियासे उपलक्षित काल) के अनुभव (प्रतीति) को स्फोटमें बिना आरोपित किए ही आलोक (प्राकृत ध्वनि) और तम (वैकृत ध्वनि) से अलग स्थित प्रकाश (स्फोट) का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। अर्थात् स्फोट एक है तथा यह प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनिसे भिन्न है॥ १९॥

तथा च महाभाष्यम् 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः' इति। उच्चारितेन—प्रकाशितेनेत्यर्थः इति कैयटः। ध्वनिः शब्द इति तु लौकिकदृष्टिमनुरुध्य तदुक्तं भाष्ये 'लोके ध्वनिः शब्द' इति॥

तथा च वक्ष्यति—

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्ते स्थितिभेदे तु वैकृताः॥
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते। इति।

शब्दस्याभिव्यक्तेरूर्ध्वं जायमाना वैकृतध्वनयः स्थितिभेदे स्फोटोपलब्धिस्थितिभेदे, वृत्तिभेदे इति पाठे द्रुतादिवृत्तिभेद इत्यर्थः, समुपोहन्ते कारणानि भवन्ति स्फोटस्तु तैर्न भिद्यते वर्णोपरागाभिव्यक्तिजनकध्वनिकालोपरागेणैव तद्भानादिति शेषः।

तदुक्तं तपरसूत्रे भाष्ये 'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः 'यथा भेर्याहन्ता भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटस्तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः' इति। एवं (द्रुतादि) वृत्तिषूपलब्धीनां कालभेदो विषयस्य स्वभेद इति प्रदीपः। ध्वनिकृता-वैकृतध्वनिकृतोपलब्धिकालकृतेत्यर्थं इत्युद्योतः॥ १९॥

१. 'यस्य कस्यचिदवभासकं तज्ज्योतिः शब्देनाभिधीयते' इति 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' [१।१।२४] इति सूत्रे शाङ्करभाष्यम् ज्योतिरालोकः इति च पर्यायौ॥

ननु यत् युगपद्विरुद्धसंसर्गवत् तन्नाना यथा द्विशफैकशफवान् गवाश्वादिः युगपत्कत्वगत्वादिधर्मवांश्च स्फोटः तस्मान्नानेति कथं स्फोटरूपस्य शब्दब्रह्मण एकत्वमत आह—

यद्यपि जो एक समयमें अनेक परस्पर विरुद्ध वस्तुओंसे सम्बद्ध हो वह एक नहीं हो सकता। जैसे एकशफत्व और द्विशफत्व ये दोनों धर्म न तो गौमें ही हैं न अश्वमें ही। किन्तु ये दोनों धर्म अलग-अलग दो पशुओं में रहते हैं। वैसे कत्व गत्व रूपी विरुद्धधर्म एक स्फोटमें नहीं रह सकते। तथापि—

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत् ॥ २० ॥

यत्र स्फोटाख्ये शब्दब्रह्मणि अक्षरस्मृतेश्चिह्नानीव लिपय इव वाचो वागभिव्यञ्जकस्य प्राकृतध्वनेः निमित्तानि, वागभिव्यक्तिनिमित्तध्वनिगताः कत्वादिजातयः शब्दपूर्वेण शब्दाभिव्यक्तिपूर्वभाविध्वनिना योगेन सम्बन्धेन भेदाग्रहणेति यावत् यद्वा शब्दपूर्वेण साधुशब्दज्ञानप्रयोगपूर्वकेण योगेन क्रमसंहाररूपेण, प्रतिबिम्बवत् प्रतिबिम्बे इव भासन्ते इत्यर्थः। 'तत्र तस्येव' इति वतिः ॥

जैसे—जिस स्फोट शब्दब्रह्ममें अक्षरोंके स्मृति चिह्न (लिपियाँ) वाणी (प्राकृतध्वनि) का कारण मानी जाती है। वैसे शब्दको व्यक्त करने वाली कत्व, गत्व जातियाँ भी शब्दोच्चारणके पूर्वमें होने वाली ध्वनियों से अभिन्न होने के कारण प्रतिबिम्बकी तरह मानते हैं। अथवा—शब्दको व्यक्त करने वाली कत्व, गत्व जातियाँ साधुशब्दका ज्ञानपूर्वक अक्रम प्रयोगके रूपमें प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत होती है।

जपाकुसुमादिगतलौहित्यादिव्यञ्जकोपरागवशात् लोहितः स्फटिक इतिभानवत् व्यञ्जकध्वनिगतकत्वगत्वादयः स्फोटे भासन्ते प्रतिबिम्बगतधर्मवैशिष्ट्येनैव बिम्बस्य लोकेऽवधारणादिति न वस्तुतः स्फोटे कत्वादयो येन भेदः स्यादिति भावः ॥२०॥

तात्पर्य यह है कि जैसे जपाकुसुमका रंग स्फटिकमणि पर पड़ता है और श्वेत भी स्फटिक मणि लाल मालूम पड़ने लगता है। वैसे व्यञ्जकध्वनिके ही धर्म कत्व गत्वादि स्फोटमें भासित होते हैं। वस्तुतः वे स्फोटके धर्म नहीं हैं। अतः स्फोट एक है ॥ २० ॥

स्फोटेऽन्यगतकत्वाद्यवभासवदन्यगतस्यैवोदात्तत्वादेरवभासोऽतो नोदात्तत्वादिविरुद्धधर्मसंसर्गकृतोऽपि स्फोटभेद इत्याह—

अथर्वणामङ्गिरसां साम्नामृग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णा पृथक्स्थितिपरिग्रहाः ॥ २१ ॥

यस्मिन् स्फोटाख्ये शब्दब्रह्मणि अथर्वणामङ्गिरसां साम्नाम्—ऋग्यजुषस्य च ऋग्यजुःसामाथर्वणाम्, उच्चावचाः उदात्तानुदात्तादयो वर्णाः—वर्णधर्माः वर्णधर्मत्वेन भासमानाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः पृथक् स्फोटभिन्ने तदभिव्यञ्जके ध्वनौ वायुसंयोगे वा स्थितेः परिग्रहः स्वीकारो येषां ते स्फोटाभिञ्जकध्वनिनिष्ठा तादृश-

ध्वन्यभिव्यञ्जकवायुसंयोगनिष्ठा वा भासन्ते इति पूर्वान्वयि। तथा च न कल्पित-विरुद्धधर्माध्यासात् स्फोटनानात्वमिति भावः। ऋग्यजुषस्येति 'अचतुरविचतुर......' त्यादिनाच् ॥ २१ ॥

और जिस स्फोट शब्दब्रह्ममें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके जो उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि वर्णोंके धर्म हैं या धर्मकी तरह प्रतीत होते हैं वे भी स्फोटके धर्म नहीं हैं। किन्तु स्फोटकी व्यञ्जक-ध्वनिमें अथवा वायु संयोग (अभिघात) में रहते हैं।

अतः जैसे अन्यगत कत्वादिधर्मोंका स्फोटमें अवभास होता है वैसे उदात्त आदि विरुद्ध धर्मके सम्बन्ध होनेसे भी स्फोटका एकत्व बना रहेगा ॥ २१ ॥

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ २२ ॥

यदेकं ब्रह्म प्रक्रियाभेदैर्न्यायसांख्यवेदान्तादिदर्शनैः कालापादिव्याकरणभेदैर्वा बहुधा भिन्नभिन्नेन प्रकारेण कर्तृत्वोदासीनत्वविवर्तोपादानत्वादिना वर्णपदवाक्यादिभेदेन वा प्रविभज्यते निरूप्यते तत्परं ब्रह्म आन्तरप्रणवरूपं व्याकरणमागम्य प्राप्य मध्यमादिवाग्ज्ञानद्वारा अधिगम्यते प्राप्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

यही स्फोट रूप एक ब्रह्म जिसे न्याय, सांख्य और वेदान्त आदि दर्शनोंके विद्वान् निर्गुण कर्ता, उदासीन और विवर्तका उपादान आदि अनेक रूपसे कहते हैं तथा जिसे कालाप, ऐन्द्र और चान्द्र आदि व्याकरणोंके आचार्य, वर्ण, पद और वाक्य आदि अनेक रूपसे कहते हैं या विभाग बताते हैं। वह ही आन्तर प्रणवरूपी पर-ब्रह्म मध्यमा, वैखरी आदि वाणीके द्वारा व्याकरणसे जना जाता है।

अत्रायं निष्कर्षः—जगत्कारणस्य-'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभिः सत्यत्वमेकत्वं ब्रह्मत्वमात्मत्वं च यथा प्रतिपाद्यते तथा 'वागेवार्थं पश्यति वागेवार्थं ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति। वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते' 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' 'ओमिति ब्रह्म' 'ओमितीदं सर्वम्' 'वाचो ह वाक्' इत्यादिश्रुतिभिः शब्दरूपतापि प्रतिपाद्यते इति शब्दब्रह्मैव जगत्कारणम्।

तच्च 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुत्या स्वप्रकाशमपि। अत एव 'इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः तद्यथा—योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेस्वान्तरः प्रकाशः यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धं यावत्स्थास्नु चरिष्णु च' इति हेलाराजीयस्थाभियुक्तोक्तिः। तथा च वक्ष्यति—'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा। तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते' इति।

जैसे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्' इन श्रुतियोंके आधार पर जगत्के कर्ताको सत्य, एक, ब्रह्म और आत्मारूप मानते हैं। वैसे

'वागेवार्थं पश्यति, वागेवार्थं ब्रवीति, वागेवार्थं विहितं सन्तनोति, वाच्यमेव विश्वं बहुरूपं निबद्धम्, ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्, ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्, वाचोह वाक्' इन श्रुतियोंसे शब्द भी जगत् कारण कहा गया है। इन दोनों श्रुतियोंकी एक वाक्यता तभी बनती है जब शब्द और ब्रह्म एक ही माना जाय। अतः शब्द ही ब्रह्म और जगतका कारण है। वह शब्द ब्रह्म 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' श्रुतिके अनुसार स्वप्रकाश भी है। हेलाराजने एक मान्य विद्वान्के वचन का उल्लेख किया है कि 'यहाँ तीन ज्योतियाँ और तीन प्रकाश हैं जो अपने और अन्यके रूपके प्रकाशक हैं। जैसे—एक यह जातवेदा (अग्नि), दूसरा पुरुषों के अन्तर स्थित प्रकाश, तीसरा वह जो प्रकाश और अप्रकाशको प्रकाशित करता है शब्दरूप प्रकाश है उसीमें स्थावर और जङ्गम समस्त संसार अनुस्यूत है। इसलिए आगे कहेंगे कि 'जैसे ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दो शक्तियाँ तेजमें होती हैं वैसे ही समस्तशब्दोंमें ये शक्तियाँ अलग-अलग स्थिर हैं।

एतदेव च वाग्व्यञ्जकत्वेन 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति केनोपनिषदा ब्रह्मपदेन 'श्रृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृग्। येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः' इति भागवतेन परमात्मपदेन 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति गीतया ईश्वरपदेन च प्रतिपादितम्। यत् चैतन्यमात्रसत्ताकं अक्रमं शब्दतत्त्वं वाचा सक्रमया वर्णपदवाक्यरूपया नाभ्युद्यते। येन च अक्रमेण शब्दतत्त्वेन सक्रमा वागभ्युद्यते तद्ब्रह्म इदं यदनात्मभूतमुपाधिभेदविशिष्टमीश्वराद्युपासते तन्न ब्रह्मेति विद्धीति श्रुतेरर्थः। यः स्फोटं स्फोटाभिव्यञ्जकं ध्वनिं श्रृणोति, सुषुप्तौ इन्द्रियगणे विलीनेऽपि शून्यम्—अज्ञानं पश्यतीति शून्यदृग् सुप्तोत्थितस्य 'न किंचिदवेदिषम्' इति स्मरणं तदानीमज्ञानानुभवं साधयति येन अक्रमेण प्रणवेन वाग्व्यज्यते यस्य च आत्मनः सकाशात् हृदयाकाशे प्रत्यक्तं स परमात्मेतिभागवतस्यार्थः। वाचो नित्यत्वं च 'नहि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो दृश्यते' इतिश्रुत्या प्रतिपाद्यते। वाच्येव च सुषुप्तौ आत्मनो लयः 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इति श्रुत्या प्रतिपाद्यते 'सा वाग् चैतन्यस्यापि प्रकाशिका वागेवेति—

'वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी' इति वक्ष्यमाणतर्कात्॥

यही शब्दब्रह्म केनोपनिषद् में ब्रह्म शब्दसे, भागवतमें परमात्मा शब्दसे गीतामें ईश्वर शब्दसे कहा जाता है। जैसे—यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते, (केनोपनिषद्) जो चैतन्यमात्रसत्तावाला अक्रम शब्द तत्त्व है वह वर्ण, पद और वाक्यरूप सक्रमा वाणीका विषय नहीं है। जिस अक्रम शब्द तत्त्वसे सक्रमा वाणी उच्चरित होती है वह ब्रह्म है। जिस अनात्मभूत उपाधिभेद विशिष्ट ईश्वरकी तुम उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। 'श्रृणोतिय इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक्। येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः। (भागवत) जो स्फोटको व्यक्त करने वाली ध्वनिको सुनता है, वह सुषुप्तिमें जब सब इन्द्रियाँ विलीन रहती हैं अज्ञानको देखता है, क्योंकि जब कोई सोकर उठता है तब कहता है कि 'ऐसी नींद लगी कि कुछ भी पता न चला'। यही स्मरण अज्ञानके अनुभवको

सिद्ध करता है। जिस अक्रम प्रणव से वाणीकी व्यक्ति होती है और जिसका हृदयाकाशमें प्रत्यक्ष होता है वह परमात्मा है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता) समस्त प्राणियों के हृदयदेशमें जिसका प्रत्यक्ष होना है वह ईश्वर है।

तच्चैकमपि अक्रमं शब्दतत्त्वाख्यं आरोपितभेदकालशक्तिसहकृततया नानाविधकार्यजननशक्तिमत्या मायया[1] 'बहु स्यां प्रजायेय' इति सङ्कल्प्य सक्रमं विचित्रं जगद्रचयति। संकल्पश्च मायाया वृत्तिविशेषः। सा च मायाख्या शक्तिर्न ब्रह्मणो भिन्ना तस्याः कारणान्तरत्वापत्त्या जगत एककारणकत्वबोधिकानां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादीनां श्रुतीनां व्याकोपापत्तेः, नाप्यभिन्ना तस्याः स्वधर्मिणोऽभिन्नत्वे तद्वत् स्वधर्मभूतानामपि शक्तीनां स्वाभिन्नत्वापत्त्या जगद्वैचित्र्योपपादकत्वानुपपत्तेरतस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्या सा इति 'अनादिनिधनम्' 'एकमेव यदाम्नातम्' 'अध्याहितकलाम्' इति कारिकाभिः स्पष्टीकृतम्।

वह एक अक्रम शब्दब्रह्म अपनी आरोपित भेद वाली काल शक्तिकी सहायता तथा अनेक कार्यको उत्पन्न करने वाली मायाके 'मैं एकसे अनेक बनूँ' संकल्पके द्वारा सक्रम विचित्र जगत् की रचना करता है। संकल्प मायाकी एक वृत्ति है। माया ब्रह्मसे भिन्न नहीं अन्यथा कारणान्तरकी कल्पनामें एक कारणकत्व सिद्धान्तका विरोध होगा। ब्रह्मसे अभिन्न भी नहीं अन्यथा धर्मीके अभेदसे धर्मभूतशक्तियोंके अभिन्न होने पर विचित्र जगत् नहीं उत्पन्न हो सकेगा। अतः वह माया अनिर्वचनीय है।

शब्दतत्त्वाख्यं ब्रह्म प्रथमं स्वलिङ्गं त्रिमात्रमोङ्कारं ततोऽक्षरसमाम्नायं ततश्चतुरो वेदान् विरचय्य सर्वं जगच्छरीरचदिति। 'विधातुस्तस्येति' श्लोकोदाहृतभागवतेन—

'अनादिनिधना[2] नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥

इत्यादिस्मृतिभिश्चावगम्यते।

तदेव च 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिः अविद्यावशाद्भोक्तृतापन्नं ज्ञेयरूपशून्यं चैतन्यमात्रं जीव इत्यभिधीयते। स च मनोवृत्त्यात्मकस्वसंकल्पेनेश्वरसृष्टं योषिदादिकं वस्तु भोग्यतया रचयति इति 'एकस्य सर्वबीजस्य' कारिकया स्पष्टीकृतम्।

'इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्। तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥
स एवात्मा सर्वदेवव्यापकत्वेन वर्तते। अन्तः पश्यद्वस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम्॥

इति कारिकाभ्यां शिवदृष्टौ वैयाकरणमतत्वेनानूदितञ्च।

---

१. अयं चार्थः 'कर्माण्यपेक्ष्य शम्भुर्मायां विक्षोभ्य शक्तिभिः स्वाभिः। प्रतिपुरुषं भोगार्थं वपूंषि करणानि चाधत्ते॥ नानाविधशक्तिमयीं सा जनयति कालतत्त्वमेवादौ। भाविभवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतः' इति शैवैरप्याश्रितः।

२. अनादिनिधना पूर्वापरीभावरहिता अक्रमा इति यावत् अतो न नित्या इत्यस्यानर्थक्यम्।

तत्र ईश्वरोपाधिभूतमायाया एकत्वात्तन्निष्ठैकशक्त्या ईश्वरसृष्टं वस्तु एकविधमेव। यथा मांसमयी योषित्। जीवानां च नानात्वेन तदीयमनसां नानात्वात्तत्तद्वृत्त्या ईश्वरसृष्टमेकमेव योषिद्रूपं वस्तु जीवैर्भोग्यतया भार्या, स्नुषा, ननान्दा, माता इति नानाकारेण सृज्यते।

शब्दतत्त्वाख्यं ब्रह्म च सूक्ष्मप्रणवरूपं परब्रह्मपदेन त्रिमात्रमोङ्कारं च अपरब्रह्मपदेन शब्दब्रह्मपदेन च व्यपदिशन्ति पुराविदः। तथा च श्रुतिः 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' [प्रश्नोप० ५ प्र० ३ मं०] इति। एतेनायतनेन परब्रह्मप्राप्तिसाधनेन ओङ्कारेण एकतरं परब्रह्म अनुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनं परब्रह्मणो यदोङ्कार इति तद्भावः। अत एव च 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति स्मृतिः। वैयाकरणैस्तु परं ब्रह्मैव शब्दब्रह्मपदेनोच्यते।

ओङ्कारस्य परब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वञ्च 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' 'ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम् ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा' 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परं एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते' इति श्रुतिभिर्बोध्यते। तस्य परब्रह्मरूपस्योङ्कारस्य ओमित्युपव्याख्यानं तत्सन्निहितं व्याख्यानं साक्षात्तद्बोधकत्वात्। ओमिति शब्दरूपं ब्रह्म तस्य ब्रह्मणोऽनुकृतिरनुकरणम्, ह स्म वा इति प्रसिद्धौ प्रसिद्धं ह्योङ्कारस्यानुकृतित्वम्, करोमि यास्यामीति पृष्टे ओमित्यनुकरोत्यन्यः। अस्मादेवोङ्कारात्त्रयी विद्या प्रभवति 'तेनेयं त्रयी विद्या विवर्तते' इतिश्रुतेः। अत एव 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' [३।३।९] इति सूत्रेण ओङ्कारस्य सर्ववेदव्यापित्वमुक्तं बादरायणेन। अयमेव ओङ्कारः 'प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च' इति कारिकया वेदशब्देनोक्तः।

शब्दब्रह्मप्राप्त्युपायत्वं च व्याकरणस्य शब्दसंस्कारद्वारा—'तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः। तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञो ब्रह्मामृतमश्नुते' इति वक्ष्यमाणकारिकयावगम्यते। शब्दसंस्कारस्य च सिद्धित्वं सिद्ध्युपायत्वात्। व्यवस्थितसाधुभावेन रूपेण शब्दे संक्रियमाणेऽपभ्रंशोपघातापगमात् धर्मविशेषाविर्भावे सति साधुशब्दप्रयोगज्ञानपूर्वकं तस्य शब्दब्रह्मणः प्रवृत्तितत्त्वं व्यवहारनिमित्तं रूपं समस्तशब्दार्थकारणभूतं पश्यन्त्याख्यं यो जानाति स तद्द्वारा अविवृत्तं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः॥

इसी शब्दतत्त्व रूपी ब्रह्मने प्रथमतः त्रिवृत् ओंकार, उससे अक्षर सामाम्नाय, उससे चार वेद और चारों वेदों से जगत् की रचना की। यही अविद्याके वशीभूत होकर भोक्ता बन कर ज्ञेय रूपतासे शून्य चैतन्य मात्र जीव कहा जाता है और मनकी वृत्ति रूप संकल्पके द्वारा ईश्वरसे सृष्ट स्रक् चन्दन योषित् आदि वस्तुओंको भोग्य वस्तुके रूपमें रचता है।

सूक्ष्म प्रणव रूप शब्द तत्त्वाख्य ब्रह्मको परब्रह्म और त्रिमात्र ओंकारको अपर-ब्रह्म या शब्द-ब्रह्म नामसे वृद्ध विद्वानों ने कहा है। 'दो ब्रह्म जानना चाहिए शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म शब्द ब्रह्मका ज्ञान हो जाने पर परब्रह्म की प्राप्ति होती है' स्मृतिका कथन है। वैय्याकरण

लोग परब्रह्मको ही शब्दब्रह्म शब्दसे कहते हैं। इसी शब्दब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय शब्द संस्कारके द्वारा व्याकरण कहा जाता है॥ २२॥

इत्थं व्याकरणस्य प्रयोजनमुक्त्वा इदानीं शब्दानामनित्यत्वे व्याकरणेन शब्दानुशासनस्य कर्तुमशक्यत्वमभिनवानां शब्दानामुत्पादनस्य सम्भवेनाव्यवस्थितत्वापातादतः शास्त्रव्यवस्थासिद्ध्यर्थं शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यतां प्रमाणयन् शास्त्रेणास्य ग्रन्थस्य सम्बन्धार्थमुपोद्घातमारचयति[1]—

वह शब्द-ब्रह्म, शब्दका अर्थ और शब्द अर्थका सम्बन्धभी नित्य है। क्योंकि—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥ २३॥

सूत्राणां तन्त्रं शास्त्रमनुगतानि अनुतन्त्राणि वार्तिकानि तेषाम् अनुतन्त्राणां[2] भाष्याणां च प्रणेतृभिः व्याकरणस्य प्रकृतत्वात्पाणिनिकात्यायनपतञ्जलिभिः महर्षिभिः प्रत्यक्षधर्मभिः तत्र व्याकरणे शब्दश्चार्थश्च सम्बन्धश्च ते शब्दार्थसम्बन्धाः नित्याः समाम्नाताः अभ्यस्ता बहुत्र कथिता इति यावत्॥

सूत्रकार (पाणिनि) अनुतन्त्रकार (वार्तिककार कात्यायन) और भाष्यकार (पतञ्जलि) आदि महर्षियोंने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धको नित्य माना है।

अतीन्द्रियार्थदर्शिभिर्यैः सूत्रवार्तिकभाष्याणि प्रणीतानि तैरेव शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वमाम्नातमिति तत्प्रमाण्यात् शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वे न विप्रतिपत्तव्यं तद्वचनविरोधे तदनित्यत्वसाधकानुमानानां शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यादीनामागमविरोधे 'नरकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वादि'त्यनुमानस्येव बाधितत्वेनोदेतुमशक्यत्वात्। एवं च व्यवस्थितसाधुभावेषु नित्येषु शब्देषु 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति' इतिश्रुत्या साधुत्वज्ञानपूर्वकशब्दप्रयोगे धर्मोत्पत्तिबोधनात् साधुत्वज्ञानाय शास्त्रप्रणयनमावश्यकमिति व्यवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु व्याकरणाख्यं स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति भावः॥

---

१. इदमत्र बोध्यम् यद्यपि 'ब्राह्मणेन निष्कारण' इति श्रुत्या सन्ध्योपासनादाविव उत्तमाधिकारिणः व्याकरणाध्ययने स्वत एव प्रवृत्ता भविष्यन्तीत्यभिसंधाय व्याकरणप्रयोजनं नोक्तं सूत्रकृता, वार्तिककृता च 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगे धर्म' इत्यनेन मध्यमाधिकारिणः प्रवृत्तये प्रयोजनमुक्तम्। तथापि मन्दाधिकारिणां प्रवृत्तेः प्ररोचकप्रयोजनप्रतिपत्त्यधीनत्वात् अतीन्द्रियेषु स्वर्गापूर्वादिष्वनाश्वासात् साक्षाच्छब्दव्युत्पत्तिलक्षणं प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यनेन परम्पराप्रयोजनं वेदरक्षादिकं च भाष्यकृता उक्तं तत्र—'आसन्नं ब्रह्म' इत्यारभ्य 'परं ब्रह्माधिगम्यते' इत्यन्तेन 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यारभ्य 'किं पुनर्नित्यः शब्दः आहोस्वित् कार्यः' इत्यतः प्राक्तन उपोद्घातरूपो महाभाष्यग्रन्थस्तात्पर्यतो विवृतः। सांप्रतं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति प्रथमं वार्तिकं व्याख्यातुमाह— नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा इति।

२. सानुतन्त्राणामिति पाठे सानुतन्त्रसूत्रभाष्यप्रणेतृभिः चात् सूत्रवार्तिकप्रणेतृभिरित्यर्थः। महाभाष्यं हि न सूत्राणामेव व्याख्यानं किन्तु वार्तिकानामपीति भावः।

यद्यपि नैय्यायिकोंने 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' इस अनुमानसे शब्दको अनित्य कहा है तथापि यह अनुमान आगमविरोधी होनेके कारण 'नरशिरः कपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात्' की भाँति बाधित है। क्योंकि—अतीन्द्रियार्थदर्शी महर्षियोंने तथा 'एकः शब्दः'-आदि श्रुतिने शब्दको नित्य माना है।

तत्र सूत्रकृता 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रेण यथोपदिष्टस्य पृषोदरादित्वात्साधुत्वाभ्यनुज्ञानात्, 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' इति सूत्रेण आपो दारा इत्यादिषु लोकावगमाल्लिङ्गवचननियम इव पञ्चाला इत्यादौ संज्ञानं संज्ञा-अवगमस्तत्प्रमाणत्वात् लिङ्गवचननियमो भविष्यतीति तत् 'लुपि युक्तिवद्व्यक्तिवचने' इति सूत्रमशिष्यमित्येवं युक्तवद्वचनप्रत्याख्यानात्, 'लुब्योगाप्रख्यानात्' 'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्' इति सूत्राभ्यां पञ्चाला इत्यत्र पञ्चालानां निवासो जनपद इत्येवंभूतस्य योगस्यावयवार्थस्य प्रख्यानमवगमो नास्ति यदि स्यात्तर्हि सम्प्रति विनापि क्षत्रिययोगं देशविशेषे पञ्चालशब्दव्यवहारदर्शनं यद्भवति तन्न स्यादतो योगानवगमात्तद्धितो नोत्पद्यते ततश्च 'जनपदे लुप्' इति सूत्रमपि न शिष्यमित्येवं लुपप्रत्याख्यानाच्च व्याकरणात्प्रागपि व्यवस्थितसाधुभावाः शब्दाः सन्तीति सूचितम्। सा च व्यवस्था शब्दानां नित्यत्वे एवोपपद्यते नानित्यत्वे तथासति स्वयंकल्पितत्वाच्छब्दानां शारक्रीडादिवदभ्युदयार्थत्वाभावेन व्यवहारमात्रार्थत्वापत्तौ व्यवहारस्य च तैस्तैः पुरुषैः स्वस्वबुद्ध्यनुसारेणाभिनवान् तद्विपरीतान् शब्दानुत्पाद्य निर्वोढुं शक्यत्वेन लोकावगमस्याव्यवस्थितत्वापत्तौ तदनुरोधेन सूत्रकृदुक्तायाः साधुत्वव्यवस्थाया असामञ्जस्यापातात्। वार्तिककृता 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' 'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' इति वार्तिकाभ्यां, भाष्यकृता च 'संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितं नित्यः शब्दः' 'नित्येषु, शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यम्' 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते' 'एक इन्द्रशब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूतो युगपत्सर्वयागेष्वङ्गं भवति' इत्यादिभाष्यैः कण्ठत एव शब्दानां नित्यत्वमुक्तम्। किं च शास्त्रारम्भादपि शब्दानां नित्यत्वमभिमतं पाणिन्यादीनाम्, अन्यथा ये शब्दाः पूर्वं साधव आसन् त एवापरकालिकैरसाधूकृताः अभिनवाश्च साधूकृता इति साधुत्वमव्यवस्थं स्यादिति साधुत्वबोधकं व्याकरणमप्यव्यवस्थमनर्थकं च स्यात् अतीन्द्रियार्थदर्शिकल्पितशब्दानामर्थबोधनमात्रार्थत्वेनाभ्युदयार्थत्वायोगादिति किमिति व्याकरणं प्रणयेयुः। तथा च वक्ष्यति—'नानर्थिकामिमां कश्चिद्व्यवस्थां कर्तुमर्हति' इति॥

सूत्रकारने—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्रकी रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि शब्दों की साधुता, लिङ्ग और वचनोंके सम्बन्धमें जैसा लोक व्यवहार हो वैसा ही साधुत्व, लिङ्ग और वचन मानना चाहिए और व्याकरण शास्त्रकी रचना करने की प्रवृत्तिसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शब्द स्वभावतः साधु होते हैं।

वार्तिककारने—'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे; सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्, इन वार्तिकोंके द्वारा शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धको कण्ठतः नित्य स्वीकार किया है।

भाष्यकारने भी—'संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्, नित्यः शब्दः' 'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः, एकदेश विकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते।' इत्यादि वचनोंके द्वारा शब्दोंकी नित्यता कण्ठतः स्वीकारकी है।

ननु नाभियुक्तवचनमात्रेणाप्रामाणिकं शब्दनित्यत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। यदाहुः 'न ह्यासवादान्नभसो निपतन्ति महासुराः। युक्तिमद्वचनं ग्राह्यं मयान्यैश्च भवद्विधैः' इति चेदुच्यते—दिनान्तरेऽनुभूते गकारे पदे वाऽधुनाऽनुभूयमानस्य सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया तावत्कालं स्थिरत्वसिद्ध्या 'तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' इति न्यायात् शब्दानां नित्यत्वं व्यञ्जकाभावात्तु सर्वदोपलम्भाभावः। अत एव अनादिवृद्धपरम्पराव्युत्पत्तिपूर्वकस्य शब्दव्यवहारस्योपपत्तिः। अन्यथा अभिनवेषु शब्देषु शक्तिग्रहासम्भवात् सा न स्यात्। या च उत्पन्नः ककारः विनष्टः ककार इति प्रतीतिः सा[1] पिठरपाकवादिमते रूपनिष्ठोत्पत्तिविनाशयोर्घटे आरोपेणे श्यामो नष्ट रक्त उत्पन्न इति प्रतीतिवद् व्यञ्जकध्वनिनिष्ठोत्पत्तिविनाशयोर्वर्णेष्वारोपेणोपपाद्या। शब्दानां नित्यत्वादेव शब्दमुच्चारयतीत्येव प्रत्ययो न तूत्पादयतीति वदतां मते वर्णानां विभुत्वेन नित्यत्वेन च तदवयवकपदानां नित्यत्वं निरपवादम्।

'किसी वैय्याकरणने शब्दको नित्य कह दिया इससे शब्द नित्य नहीं माना जा सकता। अतः बिना किसी युक्तिके शब्दकी नित्यता स्वीकार करना ठीक नहीं' यह कहना अनुचित है क्योंकि—दूसरे दिन सुने गए गकारका तत्काल श्रुत गकारमें 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानके कारण शब्दकी स्थिरता उतने दिन तक मात्र लेनेपर फिर नाश मानना उचित नहीं। अतः शब्द नित्य है। केवल व्यञ्जकके न रहनेसे सर्वदा सुनाई नहीं पड़ते। 'उत्पन्न ककार और विनष्ट ककार' यह प्रतीति तो जैसे पिठरपाक-वादियों के मतमें रूपकी उत्पत्ति और विनाशको घटमें आरोप करनेसे 'श्यामघट नष्ट गया, रक्तघट उत्पन्न हुआ' इस तरह प्रतीति होती है वैसे व्यञ्जक ध्वनिकी उत्पत्ति और विनाशको वर्णोंमें आरोप करनेसे 'ककार उत्पन्न हुआ नष्ट हुआ आदि प्रतीतियाँ होती हैं। इसीलिए शब्दमुच्चारयति' यह प्रतीति होती है 'शब्दमुत्पादयति' यह प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार जब पदका अवयव वर्ण विभु और नित्य है तब पदकी नित्यतामें कोई बाधक ही नहीं हो सकता।

ये च वर्णा अनित्याः पदानि वाक्यानि चानित्यानीतिकार्यशब्दिकास्तन्मतेऽपि—अनादौ संसारे अनादिवृद्धव्यवहारपारम्पर्याविच्छेदेन शब्दव्यवहारस्य व्यवस्थितत्वाद्व्यवहारनित्यतया शब्दानां नित्यत्वम्। तथा चाहुर्न्यायवार्तिककाराः 'नित्या वर्णा, नित्या वेदा इति च सम्प्रदायाविच्छेदात् नित्या पृथिवी नित्याः पर्वता इतिवत्' इति। यद्वा 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' 'आकृत्युपदेशात्सिद्धम्' इति सूत्रवार्तिकादिभिराकृतिमभिधेयमङ्गीकृत्य व्याकरणशास्त्रप्रवृत्तिरित्यव-

१. पिठरणकवादिनोऽवस्थिते एव घटेऽग्निसंयोगेन रूपस्य नाशमुत्पत्तिं च मन्यन्ते इति तन्मते घटस्य नाशाभावात् श्यामो नष्ट इति प्रतीतिर्न घटनाशविषया किन्तु रूपनाशविषया। पीलुपाकवादिनश्च अग्निसंयोगेन घटनाशे परमाणौ रूपस्योत्पत्तिः ततः घटान्तरमुत्पद्यते इति मन्यन्ते तन्मते श्यामो नष्टः रक्त उत्पन्नो इतिप्रतीतिः सम्यगेवेति नारोपस्योपयोगः।

गम्यते तथाचात्रापि शब्दपदेन शब्दाकृतिरभिधीयते ततश्च यथा घटशब्दस्यैकघटव्यक्तौ शक्तिस्वीकारे घटव्यक्त्यन्तरबोधेन शक्तिग्रहबोधयोः कार्यकारणभावे व्यभिचारः, सर्वासु घटव्यक्तिषु शक्तिस्वीकारे शक्त्यानन्त्यमिति घटत्वजातौ शक्तिः स्वीक्रियते एवमेकस्य घटशब्दस्य शक्तत्वे घटपदान्तराद्बोधेन व्यभिचारः, सर्वस्य शक्तत्वे च शक्त्यानन्त्यमिति घटशब्दत्वजातिः शक्त्याश्रयत्वेन स्वीक्रियते। सा च नित्या तदाश्रयत्वाच्च शब्दे नित्यतोपचारः। तथा चाहुः 'आकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्द' इति। आकृतिपदेन चात्र जातिर्नावयवानां सन्निवेशविशेषः कार्यशब्दिकमते शब्दस्य गुणत्वेन निरवयवत्वात्। ननु घटशब्दत्वरूपजातेर्वाचकत्वे तस्याः सर्वदा सत्त्वात्सर्वदार्थबोधापत्तिरिति चेन्न तत्तद्वर्णोच्चारणेन अभिव्यक्ता सती सार्थबोधिका न स्वरूपसतीत्यङ्गीकारेणादोषात्। तदुक्तम्—'अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता' इति सोऽयं जातिस्फोटवाद इत्युच्यते।

जिन लोगोंने वर्ण, पद और वाक्योंको अनित्य माना है वे भी अनादि संसारमें अनादि वृद्धव्यवहार परम्पराके (लगातार) बने रहनेके कारण शब्दोंकी नित्यता स्वीकार की है। न्यायवार्तिककार ने कहा है कि 'वर्ण नित्य हैं, वेद नित्य हैं' यह व्यवहार ती परम्पराका लगा रहना बताता है जैसे 'पृथ्वी नित्य है, पर्वत नित्य हैं'।

अथवा 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्, आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' इन सूत्र और वार्तिकोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि 'शब्द नित्य हैं' इस वाक्यमें शब्दपदसे शब्दाकृति विवक्षित हैं और व्याकरणशास्त्र इसी पक्षको ध्यानमें रखकर प्रवृत्त हुआ है। जैसे घट व्यक्तिमें शक्ति स्वीकार करने पर घट व्यक्त्यन्तरबोध होनेसे कार्यकारणभावमें व्यभिचारके भयसे तथा समस्त घटव्यक्तियोंमें शक्ति स्वीकार करनेपर अनन्तशक्ति माननेके भयसे घटत्व जातिमें शक्ति स्वीकारते हैं वैसे ही एक घटशब्दमें शक्ति माननेपर घटशब्दान्तरसे बोध होनेसे व्यभिचार तथा सबमें शक्ति माननेसे शक्त्यानन्त्य होनेके भयसे घटशब्दत्व जातिमें शक्ति मानते हैं। यह जाति नित्य होकर शब्दमें रहती है अतः शब्दको भी 'नित्य' कहा जाता है।

घटशब्दत्व-जातिके वाचक होनेपर भी सर्वदा अर्थबोध नहीं होता क्योंकि जाति अभिव्यक्त होकर ही अर्थबोध कराती है स्वरूपसत होकर नहीं। अतः उन उन वर्णोंके उच्चारणसे अभिव्यक्त जाति ही अर्थबोध करा सकती है। इसे ही जातिस्फोटवाद कहते हैं।

ननु घटशब्दत्वजातौ किंमानम्—इति चेदुच्यते भिन्नेषु घटेषु अयं घटः, अयं घट इत्यनुगतप्रतीत्या यथा घटत्वं जातिः स्वीक्रियते तथा शुकशारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु अनुभूयमानवैलक्षण्येषु भिन्नेषु घटशब्देषु अयं घटशब्दः, अयं घटशब्दः इत्यनुगतप्रतीत्या घटशब्दत्वजातिसिद्धिः।

ननु घटशब्दे गुणत्वशब्दत्वघटशब्दत्वजातीनां सत्त्वात् घटशब्दत्वे एव शक्त्याश्रयत्वं किमिति कल्प्यते न गुणत्वशब्दत्वयोरिति चेदुच्यते—यथा घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वादिजातीनां सत्त्वेऽपि घटत्वस्यैव घटपदशक्यत्वं तत्रैव घटपदनिष्ठशक्तिसम्बन्धस्वीकारात् एवं घटशब्दे गुणत्वशब्दत्वघटशब्दत्वजातीनां सत्त्वेऽपि घटशब्दत्वस्यैव घटशक्यत्वं तत्रैव शक्त्याश्रयतास्वीकारादिति।

घटशब्दत्व जाति है। जैसे अनेक घटोंमें 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकारकी प्रतीतिके आधारपर घटत्व जाति मानी जाती है वैसे ही शुकसारिका आदि द्वारा प्रयुक्त विलक्षण शब्द में भी 'यह घटशब्द है, यह घटशब्द है' इस प्रतीतिके आधारपर घटशब्दत्व जाति भी स्वीकार करना चाहिए।

जैसे घटमें द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व जातियोंके रहनेपर भी घटत्वमें ही घटपदकी शक्ति मानी गई है वैसे घटशब्दमें गुणत्व, शब्दत्व और घटशब्दत्व जातियोंके रहनेपर भी घटशब्दत्व ही घटपदका शक्य माना जायगा।

ननु स्थिरा घटावयवा घटाख्यमवयविद्रव्यमारभन्ते इति व्यवस्थितावयवो घटाख्योऽवयवी स्वसमवेतां घटत्वजातिमभिव्यनक्तीति युक्तम्। इह तु क्रमजन्मवद्भिः-क्षणिकत्वेनायुगपत्कालैर्वर्णरूपैरवयवैरव्यवस्थितैः व्यवस्थितं शब्दान्तरं नारब्धुं शक्यमिति घटशब्दत्वजातिः क्व समवेयात् को वा तामभिव्यञ्ज्यात्—न च शब्दत्वजातिवद् घटशब्दत्वजातिरपि प्रत्येकवर्णपरिसमाप्ता प्रत्येकवर्णाभिव्यङ्ग्या चेति वाच्यम् तथा सति केवलेषु वकारादिपूच्चरितेषु घटशब्दोऽयमिति प्रतीत्यापत्तेः द्वितीयादिवर्णोच्चारणवैयर्थ्यापत्तेश्चेति चेदत्रोच्यते—यथा पूर्वं कर्म ततो विभागः ततः पूर्वसंयोगनाशः तत उत्तरदेशसंयोगः ततः कर्मनाशः ततः कर्मान्तरं कर्मवति द्रव्ये च पूर्वकर्मणि अविनष्टे सति न कर्मान्तरं कर्मणोः सहावस्थायित्वविरोधात् अतः कर्मान्तरसहितैः कर्मविशेषैः अवयविस्थानीयमवस्थितं कर्मान्तरं नारब्धुं शक्यते यत्र भ्रमणत्वादिजातिः समवेयात् यद्वा भ्रमणत्वजातिमभिव्यञ्ज्यात् तथापि कर्मत्वजात्युपलक्षितेषु क्रमविशेषयुक्तेषु पूर्वापरीभूतेषु कर्मसु उत्क्षेपणत्वभ्रमणत्वादिजातिरङ्गीक्रियते। तत्र उत्क्षिपति, भ्रमति इति भिन्नभिन्नप्रत्ययजननेन भ्रमणजनककर्माणि उत्क्षेपणजनककर्मापेक्षया भिन्नानि प्रत्यवयवं भ्रमणत्वाश्रयत्वं प्रतिपद्यमानान्यपि प्रत्येककर्मदर्शनवेलायां उत्क्षेपणत्वाश्रयकर्मापेक्षया भेदमप्रतिपद्यमामानि इदं कर्म उत्क्षेपणत्वाभिव्यञ्जकं भ्रमणत्वाभिव्यञ्जकं वेति निर्धारयितुमशक्यत्वेऽपि यदा देशविशेषे संयोगविभागविशेषान् जनयन्ति अपेक्षाबुद्ध्या विषयीकृतानि क्रमानुवृत्तिं जनयन्ति कर्माणि दृश्यन्ते तदा पूर्वपूर्वकर्मप्रत्यक्षाहितसंस्कारसहितेन चरमकर्मप्रत्यक्षेण भ्रमणत्वमुत्क्षेपणत्वं वा जातिरभिव्यज्यते इति स्वीक्रियते वैशेषिकैः। एवं यत्नविशेषैरुत्पन्ना घकारादयः घटशब्दत्वस्य आश्रयत्वं प्रतिपद्यमाना अपि घनशब्दघटकघकाराद्भेदमप्रतिपद्यमाना घटशब्दत्वजातिमनभिव्यञ्जन्तोऽपि यदा तदुत्तरोत्तरवर्णोपलम्भेन अपेक्षाबुद्ध्या विषयीकृताः क्रमानुवृत्तिं जनयन्ति तदा पूर्वपूर्ववर्णप्रत्यक्षाहितसंस्कारसहितेन चरमवर्णप्रत्यक्षेण पूर्वमगृहीताऽव्यक्तं गृहीता वा घटशब्दत्वरूपा जातिः संस्कृतेऽन्तःकरणे गृह्यते इत्यदोषात्। एतदेवोक्तं भट्टपादैः श्लोकवार्तिके 'तत्र' ताल्वादिसंयोग-

१. अत्र न्यायरत्नाकरः—'ताल्वादिसंयोगविभागक्रमवशेन तत्प्रेरितानां ध्वनीनां क्रमो भवति द्वये च ताल्वादयो ध्वनयश्च जात्या नित्या तेन गकारौकारविसर्जनीयानां क्रममिच्छन् तदभिव्यञ्जकानां ध्वनिजातीयानां तत्तदनुरूपेण क्रमेण प्रेरणं चिकीर्षन् ताल्वादिजातीयानां स्थानानां संयोगविभागौ क्रमेणारभते इति। ननु स्वाश्रयमेव जातिरुपलक्षयति ताल्वादिसमवेतया

विभागक्रमपूर्वकम् । ध्वनीनामानुपूर्व्यं स्याज्जात्या चोभयनिरयता ॥ यथैव भ्रमणादीनां भागैर्जात्या च लक्षितैः । क्रमानुवृत्तिरेवं स्यात्तात्वादिध्वनिवर्णभाग्' इति । योग-भाष्येऽपि 'वर्णः पुनरेकैकपदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रति-योगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषोऽवस्थापितः' इत्युक्तम् ।

ननु अभिव्यञ्जकैराश्रिता एव घटत्वादिजातयो व्यज्यन्ते इति दृष्टं तदिह उत्पन्न-विनष्टत्वाच्छब्दव्यक्तीनां स्वासमवेता घटशब्दाकृतिः कथं व्यज्यते इति चेन्न–एक-विधैवाभिव्यक्तिप्रक्रिया सर्वत्राश्रयितव्येति नियमाभावात् । यथा प्रदीपालोकेन्द्रियादयः स्वानाश्रितानामेव घटादीनामभिव्यञ्जका एवं वर्णा अपि स्वानाश्रिताया एव घटशब्द-त्वादिजातेरभिव्यञ्जका इत्यदोषादिति ।

एतदुक्तं भवति–यथा भ्रमणत्वादिजातिश्चरमक्रियाप्रत्यक्षव्यङ्ग्या एवमेषापि चरमवर्णप्रत्यक्षव्यङ्ग्या बौद्धे क्रियासमुदाये भ्रमणत्ववदेषापि तादृशे वर्णसमुदाये व्यासज्यवृत्तिरिति ।

अब प्रश्न यह उठता है कि घटके स्थिर अवयव घटरूप अवयवी द्रव्य उत्पन्न करते हैं और वह घट समवायसम्बन्धसे रहनेवाली घटत्व जातिको व्यक्त करता है । शब्द तो क्रमसे जन्म लेता है क्षणिक है फिर अनेक कालके अव्यवस्थित अवयवोंसे व्यवस्थित शब्द कैसे बन सकता है । शब्दके न बन सकनेसे उसमें घटशब्दत्व जाति कैसे समवाय सम्बन्धसे रह सकती है ? ठीक है, जैसे वैशेषिकों के मतमें कर्मवान् द्रव्यमें पूर्वकर्मके विनष्ट हुए विना कर्मान्तर नहीं उत्पन्न होता और कर्मान्तरके साथ कर्मविशेष कर्मान्तरको नहीं आरब्ध कर पाता जहाँ भ्रमणत्व आदि जातियाँ व्यक्त हों फिर भी कर्मत्वजाति से उपलक्षित क्रमविशेषसे युक्त पूर्वापरीभूत कर्मोंमें उत्क्षेपणत्व, भ्रमणत्व आदि जातियाँ व्यक्त होती हैं और कहा जाता है कि पूर्वपूर्व कर्मके प्रत्यक्षसे उत्पन्न संस्कारके साथ अन्तिम कर्मके प्रत्यक्षसे भ्रमणत्व आदि जातियाँ व्यक्त होती हैं । वैसे यत्नविशेषसे उत्पन्न घकार घटशब्दत्वका आश्रय होते हुए भी घट शब्दके घकारसे भिन्न नहीं प्रतीत होता और घटशब्दत्व जातिको व्यक्त भी नहीं कर पाता किन्तु वही घकार उत्तरोत्तर वर्णोंके साथ अपेक्षाबुद्धिके बलसे क्रमानुवृत्ति उत्पन्न करता है । तब पूर्व पूर्व वर्णके प्रत्यक्षसे उत्पन्न संस्कारके साथ अन्तिम वर्णके प्रत्यक्षसे पूर्व अगृहीत घटशब्दत्वरूप जातिको संस्कारवाले अन्तःकरणसे ग्रहण करते हैं ।

परेतु—नष्टविद्यमानयोरव्यवहितोत्तरत्वस्य वक्तुमशक्यतया पूर्वापरीभावरूप-क्रमविशेषस्य ज्ञानासम्भव इति पूर्वोक्तरीत्या अन्त्यवर्णानुभवोद्बुद्धसंस्कारेण युगप-त्सर्ववर्णस्मरणेन पदप्रत्यक्षोपपादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् येन क्रमेणानुभवस्तेनैव क्रमेण तत्संस्कारोद्बोध इति नियमाभावेन विपरीतक्रमेण संस्कारोद्बोधे सरो रसः नदी दीन इति विपरीतक्रमापत्तौ प्रत्येकमन्यार्थबोधापत्तेः, अविद्यमानस्य घटशब्दस्य शक्त्याश्र-

---

तु जात्या कथमतदाश्रयः क्रमः शक्यते लक्षयितुमत आह–यथैवेति । वितति (क्रम) विशेषयुक्ताः बहवः पूर्वापरीभूतक्रियाक्षणा भ्रमणमुच्यते तेषां च क्रमानुवृत्तिर्यथा भ्रमणभागक्रियाक्षणसमवेतया क्रियात्वजात्या लक्ष्यते तथा तात्वादिध्वनिवर्णभागेऽपि क्रमानुवृत्तिः तात्वादिजात्यैव शक्योप-लक्षयितुम्—भागैर्जात्या चेति । 'जात्युपलक्षितैर्भ्रमणभागैः क्रमोपलक्षणमित्यर्थः' इति ।

यत्वानुपपत्तिश्च, अविद्यमानस्याश्रयत्वाङ्गीकारे नष्टो घटो जलवानित्यापत्तिश्चेति—आकृतिमनङ्गीकुर्वन्तोऽनेकध्वनिव्यङ्ग्यां नित्यामक्रमां शब्दव्यक्तिं स्फोटाख्यां वाचकत्वेनाहुः। तथाच **कैयटः**—'वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्, आनर्थक्ये तु (समुदायस्य वाचकत्वमुपेयं तत्तु न युक्तम्) प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यसंभवात् अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्तया समुदायाभावादेकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः [१]स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो[२] वाचक इति विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः' इति।

किन्तु इस मीमांसक के मतमें दोष यह है कि नष्ट और वर्तमानसे अव्यवधान नहीं बन सकता, अन्तिम वर्णके अनुभवसे एक साथ सब वर्णोंका स्मरणके द्वारा पदप्रत्यक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि जिस क्रमसे अनुभव हो स्मरणमें वहीं क्रम रहे यह नियम नहीं है, अविद्यमान घट शब्द शक्तिका आश्रय नहीं माना जा सकता अन्यथा 'नष्टो घटो जलवान्' यह प्रतीति भी होने लगेगी। अतः वाक्यपदीयकार के मतमें अनेक ध्वनियोंसे व्यङ्ग्य, नित्य और अक्रम स्फोट नामकी शब्दमें रहनेवाली शक्ति ही वाचक है यह कैय्यटने कहा है।

यत्तु उत्तरवर्णप्रत्यक्षसमये तस्मिन्नव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनोपस्थितपूर्ववर्णवत्त्वं तथा तदुत्तरवर्णप्रत्यक्षकाले उपस्थितविशिष्टतद्वर्णवत्त्वं तस्मिन् सुग्रहमिति तादृशानुपूर्वीविदितपदत्वस्येव वाक्यत्वस्यापि सुग्रहत्वात् श्रूयमाणवर्णा एव वाचकाः त एव च स्फोट इत्यङ्गीकृत्य कैयटमतं निराकृतं कौण्डभट्टेन, तत्तुच्छम् नष्टविद्यमानयोरयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासंभवेनाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धस्य वक्तुमशक्यतया निरुक्तरीत्या पदस्य वाक्यस्य वा ग्रहीतुमशक्यत्वात्।

स्फोटस्य वाचकत्वमभ्युपगच्छतामपि केचित् सखण्डस्फोटवादिनस्ते स्फोटे वर्णादीनां सत्त्वमाहुः। अन्ये तु अखण्डस्फोटवादिनस्ते च प्रतिवर्णं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं च एक एव शब्दात्मा क्रमोत्पन्नध्वनिगतकत्वादिरूपेण क्रमोत्पन्नावयवरूपप्रतिभासो

---

१. 'स्फोटपदस्य च—तत्तद्वर्णपदादिरूपेण ताल्वाद्यभिघाताज्ज्ञानविषयो मध्यमावस्थोऽर्थ इति' 'एवं च पदादिरूपः आन्तरः स्फोटो वाचक इति' 'तत्र मध्यमाया यो नादोंऽशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतेः' इति ग्रन्थैर्मध्यमावस्थस्य नादस्य स्फोटत्वमुक्तं मञ्जूषायाम्। स च स्फोटो यद्यप्येकोऽखण्ड एकैकवर्णेनाभिव्यज्यते तथाप्यन्त्यवर्णाभिव्यक्तो बोधहेतुः। अतो नैकवर्णजाभिव्यक्त्युत्तरमर्थप्रत्ययः। अयं चान्तरत्वाच्छ्रोत्रग्राह्यवैखरीसंस्कृतान्तःकरणग्राह्य एव व्यञ्जकरूपरूपितस्य तस्यैवार्थे सकेतग्रहः। अतो घटकलशादिपर्यायाभिव्यक्तस्फोटे गृहीतशक्तिकस्य पुंसोऽप्रसिद्धपदश्रवणे नार्थबोधः एतदेव 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्द' इति भाष्ये उक्तम्। कत्वादिनाभिव्यक्तः श्रोत्रग्राह्यः पदादिरूपेण बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेण वैखरीरूपेण अभिज्वलितः आकाशदेशः हृदयाकाशदेश इति तदर्थः॥

२. नादाभिव्यङ्ग्यः इति। नादो वर्णः। ननूक्तदोषात्तत्रापि कथं निस्तार इति चेदुच्यते—यथा नानारञ्जकद्रव्यवृत्ति नानावर्णोपरागः क्रमेण तथा एकस्मिन्नेव तस्मिन्नुच्चारणक्रमेण क्रमवानेव तत्र स्वरूपानुरागः स च स्थिरः तस्य च मनसा ग्रहणमिति न दोषः॥

भासते परमार्थतश्च तत्र वर्णाः पदानि च न सन्तीति मन्यन्ते। तथाच ऐऔच् सूत्रे भाष्यम्—'उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति। अत्रोद्योतः 'वस्तुतः स्फोट एव श्रोत्रग्राह्यः वायुनिष्ठकत्वादिना च तदभिव्यक्तिः। एवं च साक्षाद्रत्ववतोऽभावेन कल्पत इत्यत्रापि अप्रवृत्तावस्य वैयर्थ्यापत्तिः एवं च रेफावभासिनः स्फोटस्य प्रसङ्गे लकारावभासः स्फोट इत्यर्थः' इति।

तदयं निष्कर्षः—शब्दनित्यतावादिनां मीमांसकानां[1] व्यक्तिस्फोटवादिनां जातिस्फोटवादिनां वा वैयाकरणानां मते शब्दनित्यत्वं सूपपादम्। कार्यशब्दिकानां मते स्वतोऽनित्यत्वेऽपि व्यवहारनित्यतया आकृतिनित्यतया शब्दपदस्य शब्दाकृतिपरतया वा शब्दस्य नित्यत्वोक्तिरिति।

ननु अक्रमं वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं वा वाचकमिति वदतो वैयाकरणस्य मते पदादेर्नित्यत्वेऽपि मीमांसकमते पदवाक्यादीनां नित्यत्वासंभवः। तथा हि-आनुपूर्वीभेदवन्तो हि वर्णाः पदम्, पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्, ध्वनिधर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यविरहात्। ध्वनयो हि क्रमवर्तिनः क्रमेण शब्दानभिव्यञ्जयन्तः स्वीयं क्रमं वर्णेषु दर्शयन्ति क्रमरचना च पुरुषाधीना इति परमाणूनां नित्यत्वेऽपि तदारब्धघटानित्यत्ववत् वर्णानां नित्यत्वेऽपि पदस्यानित्यत्वमिति सुतरां वाक्यस्यानित्यत्वम्। किञ्च क्रमं विना वर्णानां प्रतिपादकत्वासम्भवात् क्रमस्य च वाचकत्वात् पदत्वं न क्रमविशिष्टानां वर्णानां तस्य च पुरुषाधीनत्वेनानित्यत्वमिति चेदुच्यते—क्रमविशिष्टानां वर्णानामेव वाचकत्वं प्राधान्यात् न वर्णक्रमस्य तस्य सर्वपदार्थाङ्गत्वेनाप्राधान्यात् न ह्यसौ स्वतन्त्र एव वस्त्वन्तरत्वेन क्वचिद्व्यवह्रियते इति तदुक्तं 'गकारौकारविसर्जनीयाः पदम्' इति शाबरभाष्ये तथा च वर्णानां नित्यत्वाद्वर्णात्मकपदानां नित्यत्वमक्षतम्।

नन्वेवमपि—क्रमस्यानित्यत्वे तद्विशिष्टवर्णानामनित्यतया पदस्यानित्यत्वं पुनरापन्नमिति चेन्न, येन क्रमेण पदं परेणोच्यते तेनैवापरेणेति व्यवहारनित्यतया क्रमस्य नित्यत्वमिति तद्वदेव पदस्य नित्यत्वमित्यदोषात्। इत्थमेव वेदेऽपि नित्यत्वं बोध्यम्। इदमेव च वेदापौरुषेयत्वं नाम यत्तदीयक्रमे न पुरुषस्वातन्त्र्यं लौकिकवाक्ये तु क्रमस्य पुरुषतन्त्रत्वात् पौरुषेयत्वमिति तत्त्वम्।

यद्वा पौर्वापर्यं क्रमः पूर्वापर-चिर-क्षिप्रप्रत्ययाश्च कालालम्बनाः तेन ध्वनिभिर्वर्णेषु व्यज्यमानेषु पूर्वापरभागेन व्यज्यमानः काल एव क्रमः स च नित्य इति तद्विशि-

---

१. इमे पक्षाः—'केचिद् ध्वनिव्यङ्ग्यं वर्णात्मकं नित्यं शब्दमाहुः। अन्ये वर्णव्यतिरिक्तं पदस्फोटमिच्छन्ति। वाक्यस्फोटमपरे सङ्गिरन्ते। अन्ये तु ध्वनिरेव शब्दः स च कार्यस्तद्व्यतिरेकेणान्यस्यानुपलम्भादित्याक्षते' इति 'तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा' इति च कैयटेन उक्ताः।

ष्टस्य वर्णस्य नित्यत्वे बाधकाभाव इति। यदाहुर्वाक्यपदीयकाराः—'प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाद्वर्णैकत्वं प्रतिष्ठितम्। वर्णात्मकं पदं तच्च तद्भेदान्न भिद्यते॥ इति।

ननु काल एव चेत् क्रमः स चैको विभुर्नित्यश्चेति कथं पूर्वापररूपेण विभक्तो भासते। उच्यते—यथा वर्णो नित्यः सर्वगतोऽपि दीर्घादिरूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाधिवशात् तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि आदित्यगतिक्रियोपाधिवशाद्भिन्नो भासते उपाधयश्च विनष्टवर्तमानानागताः सूर्यादिक्रियाः इति तद्वशेन कालेऽपि चिरक्षिप्रविभागः बहुक्रियाल्पक्रियापरिच्छेदाभ्यामिति क्रमस्य नित्यत्वे सुतरां पदस्य नित्यत्वमिति स्पष्टं चेदं सर्वं शब्दनित्यताधिकरणे श्लोकवार्तिके।

अर्थानामपि व्यक्तिः[1]शब्दार्थ इति पक्षे आकृतिनित्यतया प्रवाहनित्यतया वा नित्यता, सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति मते जातिः शब्दार्थ इति मते च सुतराम्। सा अर्थनित्यता 'जात्याख्यायाम्' इति सूत्रेण 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' इति वार्तिकेन तद्भाष्येण च उक्ता।

अर्थ नित्यता तो व्यक्ति शब्दार्थ पक्षमें आकृति-नित्यता अथवा प्रवाह-नित्यतासे नित्य है। सब शब्दों का असत्य उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मत्व ही यदि वाच्य है तब तो जाति शब्दार्थ मतमें नित्य है। यह अर्थ नित्यता 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक द्वारा तथा 'जात्याख्यायाम्' के भाष्यद्वारा शब्दतः उक्त है।

एवं शब्दार्थयोः संबन्धोऽपि नित्यः स हि नेदंप्रथमतया केनापि शक्यः कर्तुम्, सर्वपदशक्तिग्रहकाले केनापि पदेन अर्थादेशनस्याशक्यकर्तव्यत्वात्। यदाहतुर्वार्तिककारभाष्यकारौ 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' 'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध' इति। जैमिनिरपि 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इत्याह। 'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम' इति तद्भाष्यम्। औत्पत्तिकः स्वभावसिद्धोऽनादिरिति यावत्। शब्दार्थयोर्नित्यत्वे तयोः सम्बन्धस्य सुतरां नित्यत्वम्। शब्दार्थयोरनित्यत्वे तयोरिव सम्बन्धस्यापि नित्यत्वम्। स च सम्बन्धः—शब्दैरर्थानां बुद्धौ कल्पनात् अर्थबुद्ध्या च तत्प्रतिपादनाय शब्दकल्पनात् कार्यकारणभावलक्षणः, यथेन्द्रियविषययोः प्रकाश्यप्रकाशकभावस्तद्वद् योग्यतालक्षणो वा। योग्यता च बोधजनकत्वरूपा इति केचित्[2]।

---

१. 'तत्र जातिवादिन आहुः—जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते व्यक्तीनामानन्त्यात् सम्बन्धग्रहणासम्भवात्। सा च जातिः सर्वव्यक्तिष्वेकाकारप्रत्ययदर्शनादस्तीत्यवसीयते तत्र गवादयः शब्दाः भिन्नद्रव्यसमवेतां जातिमभिदधति तस्यां प्रतीतायां तदावेशात्तदवच्छिन्नं द्रव्यं प्रतीयते शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते गुणे तु तत्सम्बन्धात् प्रत्ययः द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात् संज्ञाशब्दानामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशात् पिण्डस्य कौमारयौवनाद्यवस्थाभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययनिमित्ता डित्थत्वादिका जातिर्वाच्या क्रियास्वपि जातिर्विद्यते। सैव धातुवाच्या पठति पठतः पठन्तीत्यादेरभिन्नस्य प्रत्ययस्य सद्भावात् तन्निमित्तजात्यभ्युपगमः। व्यक्तिवादिनस्त्वाहुः शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या जातेरुपलक्षणभावेनाश्रयणादानन्त्यादिदोषानवकाशः' इति कैयटः॥

२. अयं पक्षः 'अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेत् योग्यतालक्षणत्वात्सम्बन्धस्य' इति कैयटेन उक्तः। योग्यता-बोधजनकत्वम्।

वाच्यवाचकभावरूपशक्तिग्राहकतादात्म्यरूपा इत्यपरे।[1] उभयविधस्यापि सम्बन्धस्य परिच्छेदकः सङ्केत इति नागृहीतसङ्केताच्छब्दादर्थबोधः। ईश्वरेच्छारूपा शक्तिरेव सम्बन्धः सा च नित्या इति तार्किकाः। वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः। शक्तिस्तु पदार्थान्तरमिति मीमांसका इत्यलम् ॥

शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी नित्य है। वह सम्बन्ध इन्द्रिय और विषयके प्रकाश्य-प्रकाशककी भांति योग्यतारूप, अथवा कार्यकारणभाव रूप है। योग्यता किसीके मतमें बोधजनकतारूप और किसीके मतमें 'वाच्यवाचक भावरूप शक्तिग्राहक तादात्म्यरूप है।

ननु साधुत्वव्यवस्थार्थं शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वे आश्रीयमाणे व्याकरणशास्त्रानर्थक्यमिति वृश्चिकभिया पलायमानस्य आशीविषमुखनिपातन्यायापातः। न हीदानीं शब्दनिष्पत्तये व्याकरणम् शब्दानां स्वतः सिद्धत्वात् नापि सम्बन्धज्ञानार्थं लोकत एव धर्मोत्पत्तेः 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः' इतिश्रुत्या बोधनेन व्याकरणसार्थक्यात् ॥ २३ ॥

इस प्रकार शब्द अर्थ तथा उसके सम्बन्धके नित्य होनेके कारण व्याकरणशास्त्रकी इसलिए सार्थकता है कि श्रुतिने शास्त्र द्वारा प्रदर्शित विधिके स्मरणके साथ शब्दके प्रयोगसे धर्मोत्पत्ति कहा है। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' ॥२३॥

एवं शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वे सिद्धे साधुत्वबोधनार्थं व्याकरणमिति स्थितम्। तत्र न अपशब्दबोधनद्वारा साधुशब्दा व्याकरणेन बोधनीया किन्तु साधुशब्दा एवेति निरूपयन्—अष्टपदार्थीरूपं शास्त्रशरीरमाह त्रिभिः श्लोकैः—

इसलिए नित्य शब्दोंकी साधुता बताना भी व्याकरणका कर्तव्य हो गया है। क्योंकि जब शब्द नित्य हैं तब उनमें किसी भी कालमें कोई विकार नहीं आ सकता अतः उनका ठीक ज्ञान प्राप्त करना और व्याकरणके द्वारा उनका निरूपण करना उचित है। शब्दोंका साधुत्व दो प्रकारसे बताया जा सकता है। एकतो साधुशब्दों को बताकर शेषको असाधु कह देना और दूसरा असाधु शब्दों को बताकर शेषको साधु कह देना इन दोनों क्रमोंमें साधु शब्दोंका बताना ही उचित है। क्योंकि व्याकरण का प्रयोजन है सरल उपायसे शब्द समुदायका ज्ञान कराना। साधु शब्दोंकी अपेक्षा असाधु शब्दोंकी संख्या अधिक है। जैसे एक गो शब्दके ही गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैं। अतः—

अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ॥ २४ ॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे च प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥ २५ ॥
ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।

---

१. अयं पक्षः 'शब्दार्थयोः सम्बन्धश्च शक्तिरूपं तादात्म्यमेवेत्यन्यत्र प्रपञ्चितम्' इति ग्रन्थेन 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' इति वार्तिके उद्योत उक्तः।

स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥ २६ ॥

साध्वसाधुषु—शब्दार्थसम्बन्धेषु ये धर्मे धर्मोत्पत्तौ प्रत्यये अर्थावबोधे अङ्गम् ते अस्मिन् शास्त्रे व्याकरणे लिङ्गैः प्रकृतिप्रत्ययैः स्वशब्दैश्च उपवर्णिताः नासाधवः तेषामर्थावबोधमात्रोपकारकत्वात्, तत्र पदानि वाक्यानि च लिङ्गैः प्रकृतिप्रत्ययाश्च[1] स्वशब्दैरिति विवेकः। साधवः शब्दार्थसंबन्धाः के इत्यपेक्षामाह—अपोद्धार-पदार्था इति। तत्र ये प्रतिपादकाः प्रकृतिप्रत्यय-रूपाः, ये च अन्वाख्येयाः, पदवाक्यरूपाश्च शब्दाः ये अपोद्धारपदार्थाः प्रकृतिप्रत्ययार्थाः ये च स्थितलक्षणाः पदवाक्यार्थरूपाश्च अर्थाः ते द्विविधा अपि शब्दाः अर्थाश्च कार्यकारणभावेन योग्यभावेन तादात्म्येन च स्थिताः साधवः यस्य शब्दस्य येनार्थेन कार्यकारणभावः तादात्म्यं च वर्तते तस्मिन्नर्थे स साधुरिति यावत्। ततश्च कार्यकारणभवलक्षणा योग्यतालक्षणाश्च संबन्धाः साधव इति लब्धम्। नन्वसाधव एव किमिति न वर्णिताः असाधुषु गाव्यादिषू-पदिष्टेषु तदन्येषां गौरित्यादीनां साधुत्वेनावगमसंभवादत आह—स्मृत्यर्थमिति। स्मृत्यर्थं लाघवेन स्मृतिप्रणयनार्थं, केचित्—साधव एव आगममनतिक्रम्य इति यथागमं यथाशास्त्रम् अनुगम्यन्ते नासाधवः यतो गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिका इत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशास्तेषामुपदेशे गौरवम्।

साधुशब्द, अर्थ और सम्बन्ध तथा असाधु शब्द, अर्थ और सम्बन्धमें जिसके (साधुशब्द) ज्ञानसे धर्मकी उत्पत्ति और अर्थज्ञानमें सहायता मिलती है, वे ही पद और वाक्य इस व्याकरण शास्त्रमें लिङ्गों, प्रकृति, प्रत्यय और स्वशब्दसे वर्णित हैं और जो अपने स्वरूप बोधनके साथ पद और वाक्योंका प्रतिपादन करते हैं वे प्रतिपादक (प्रकृति और प्रत्यय) जो शब्दोंमें प्रकृति और प्रत्ययकी कल्पना द्वारा सरलतासे पद और वाक्योंका ज्ञान कराते हैं वे अन्वाख्येय (पदरूप और वाक्यरूप, शब्द) जो पदार्थों से विभक्त होते हैं वे अपोद्धार और जिनसे अर्थ का ज्ञान होता है वे प्रकृति और प्रत्यय, पद उनके अर्थ पदार्थ रूप अपोद्धार पदार्थ (प्रकृति-प्रत्ययार्थ) जो अपने स्वरूपकी किसी प्रकार रक्षा करते हैं वे स्थितिलक्षण अर्थ (पदार्थ और वाक्यार्थ) हैं और जो कार्यकारण भाव सम्बन्ध और योग्यभाव (तदात्म्य सम्बन्ध) से स्थित है; अर्थात् साधु हैं उनका ही लघुभूत उपायके द्वारा शास्त्रज्ञानके साथ स्मरणके लिये इस शास्त्रमें वर्णन किया गया है।

इदमत्र ध्येयम् साधूनां शब्दानामर्थः संबन्धश्च साधुः असाधूनामर्थः सम्बन्धश्च असाधुः साधुत्वस्य शब्दार्थसम्बन्धत्रितयमाश्रित्यैव शास्त्रेण बोधनात्। अत एव अस्वशब्दस्य दरिद्रे साधुत्वेऽपि न वाजिनि साधुतेति ॥

पदार्थादपोद्ध्रियन्ते विभज्यन्ते इति अपोद्धाराः, पद्यते बोध्यतेऽर्थोऽनेनेति

१. क्वचित्पदानि ते मे वा नौ वः नः इत्यादीनि क्वचिद्वाक्यानि ऐकागारिकः श्रोत्रियः इरेऽन्न इत्यादीनि स्वशब्दैरुपवर्णितानि।

पदं प्रकृतिः प्रत्ययश्च न पारिभाषिकम् तस्यार्थाः अपोद्धाराश्च ते पदार्थाः **अपोद्धारपदार्थाः** प्रकृतिप्रत्ययार्थाः।

यहां 'अपोद्धारपदार्थ' में दो पद हैं। प्रथम पद 'अपोद्धार' का अर्थ है 'विभाग' और दूसरे पदार्थ पदका पदस्यार्थः इस व्युत्पत्तिसे प्रकृति प्रत्ययार्थ अर्थ है। 'सुप्तिङन्तं पदं' सूत्रसे परिभाषित पद शब्दका अर्थ नहीं है। अतः पदार्थोंसे विभक्त प्रकृत्यर्थ और प्रत्यार्थ अपोद्धारपदार्थ पदका अर्थ होता है।

स्थितमप्रच्युतं लक्षणं स्वरूपमेषां ते **स्थितलक्षणाः अर्थाः**—पदार्थाः, वाक्यार्थाश्च, प्रकृतिप्रत्ययार्थावबोधो हि पदार्थवबोधोपाय इति पदार्थे प्रकृतिप्रत्ययार्थास्तिरोहिता भवन्ति न तु पदार्थ इति पदार्थस्य स्वरूपमप्रच्युतं भवति। एवं पदार्थावबोधो वाक्यार्थावबोधोपाय इति पदार्था वाक्यार्थे तिरोहिता भवन्ति न वाक्यार्थ इति पदार्थापेक्षयाऽपि वाक्यार्थस्याप्रच्युतस्वरूपत्वमिति स्थितलक्षणपदेन तयोर्ग्रहणं युक्तं न प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थस्य वा किमप्यपेक्षया तयोरप्रच्युतस्वरूपत्वाभावात्।

अन्वाख्यायन्त इति **अन्वाख्येयाः शब्दाः** पदानि वाक्यानि च लाघवेन प्रकृतिप्रत्ययकल्पनया पदानि वाक्यानि चान्वाख्यायन्ते व्याकरणेनेति भावः। **एतदुक्तं भवति**—यद्यपि वाक्यस्फोटो वास्तवस्तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात् तेनैवार्थाकांक्षापूर्तेश्च न पदस्फोटो वर्णस्फोटो वा, लोके वृक्ष इत्युक्ते तन्मात्रेणार्थाकाङ्क्षापूर्त्यभावादव्यवस्थितत्वाच्च[1] एवं वाक्यार्थ एव वास्तवो न पदार्थः तस्याव्यवस्थितत्वेनासत्यत्वात्, तथापि प्रतिवाक्यं शक्तिग्रहस्य साधुत्वबोधनस्य च लघूपायेनाशक्यत्वात् वाक्यार्थेभ्यः[2] पदार्थान् तेभ्यश्च प्रकृतिप्रत्ययार्थानपोद्धृत्य वाक्येभ्यः पदानि पदेभ्यश्च प्रकृतिप्रत्ययानपोद्धृत्य प्रकृत्यर्थे प्रकृतेः, प्रत्यार्थे च प्रत्यस्य शक्तिः साधुत्वं च व्याकरणेन बोध्यते तद्द्वारा च पदार्थे पदस्य वाक्यार्थे च वाक्यस्य शक्तिः साधुत्वं च सुग्रहमिति आन्वाख्यानलाघवाय प्रकृतिप्रत्ययकल्पनं न तु तयोरेवान्वाख्येयत्वं तदन्वाख्यानद्वारा पदवाक्यान्वाख्यानस्यैव शास्त्रकृत्तात्पर्यविषयत्वादिति आन्वाख्येयशब्देन पदवाक्ययोर्ग्रहणं युक्तम्।

स्वस्वरूपबोधनद्वारा पदानि वा प्रतिपादयन्तीति **प्रतिपादकाः** प्रकृतिप्रत्ययाः। प्रकृतिप्रत्ययौ हि पदप्रतिपत्त्युपाय इति प्रतिपादकशब्देन तयोर्ग्रहणम्। यद्यपि पदमपि वाक्यप्रतिपत्त्युपायस्तथापि प्रकृतिप्रत्ययापेक्षया प्रतिपाद्यत्वमपि तत्रास्ति प्रकृतिप्रत्यययोस्तु न किमप्यपेक्षया प्रतिपाद्यत्वमिति प्रतिपाद्यत्वासमानाधिकरणं प्रतिपादकत्वमिह विवक्षितमिति न प्रतिपादकशब्देन पदस्य ग्रहणमिति।

१. पदानां सत्यत्वे राजरूपार्थप्रत्यायनाय राजा राजानं राज्ञा इत्यादेर्यदनियतत्वं दृश्यते तन्न स्यात् सत्यस्य नियतत्वादिति भावः।

२. तदुक्तं सङ्ग्रहे—'नहि किञ्चित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित्। पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते'॥ इति।

कार्यकारणभावेन—कार्यकारणात्मना, शब्दैरर्थानां बुद्धौ कल्पनात् अर्थबुद्ध्या च तत्प्रतिपादनाय शब्दकल्पनात् बौद्धशब्दार्थयोः कार्यकारणभाव इति भावः।

यहाँ शब्द और अर्थका कार्यकारणभाव सम्बन्ध बौद्ध हैं। क्योंकि शब्दोंको सुनकर अर्थका भाव बुद्धिमें होता है फिर प्रयोग की इच्छापर अर्थका ध्यान रखकर शब्दोंका प्रयोग होता है। अतः शब्दों और अर्थोंका बौद्धकार्यकारणभाव बनता है। अन्यथा शब्द और अर्थ के भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहनेके कारण कार्यकारणभाव बनता ही नहीं।

योग्यभावेन—तादात्म्येन यथेन्द्रियविषययोः प्रकाश्यप्रकाशकभावस्सम्बन्धस्तथा तयोः समयोपाधिस्तादात्म्यमस्तीति भावः।

तदेवम् अपोद्धारपदार्थस्थितिलक्षणभेदेनार्थो द्विधा, अन्वाख्येयप्रतिपादकभेदेन शब्दो द्विधा, कार्यकारणभावयोग्यताभेदेन संबन्धो द्विधा, धर्मार्थावबोधभेदेन प्रयोजनं द्विधेति अष्टविधासु शास्त्रतत्त्वं परिसमाप्यते ॥ २४–२६ ॥

इस प्रकार अर्थ दो प्रकार का है। एक अपोद्धार पदार्थ और दूसरा स्थिति लक्षण। शब्द भी दो प्रकार का है एक अन्वाख्येय और दूसरा प्रतिपादक। सम्बन्ध भी दो प्रकार का है एक कार्यकारणभाव और दूसरा योग्यता। धर्मज्ञान तथा अर्थज्ञानके भेदसे दो प्रकारका प्रयोजन इन आठ प्रकारोंमें शब्द तत्त्व की पूर्णता है ॥ २४–२६ ॥

नन्वेषा साध्वसाधुव्यवस्था निर्मूलेत्यत आह—

यह साधुशब्द और असाधु शब्दकी व्यवस्था निर्मूल नहीं कही जा सकती क्योंकि—

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्ययनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ॥ २७ ॥

साधूनामसाधूनां च **अर्थप्रत्ययनाभेदे** अर्थप्रत्यायकत्वस्य तौल्येऽपि, तदुक्तं भाष्ये 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति', **शिष्टेभ्यो** लब्धात् **आगमात्** व्याकरणात् **सिद्धाः** धर्मसाधनत्वेन बोधिताः **साधवः धर्मसाधनम्**, **विपरीता** असिद्धाः अनिष्टसाधनत्वेन बोधिता इति यावत् **असाधवो** ऽधर्मसाधनमित्यर्थः ॥

साधुशब्द और असाधु शब्दोंसे समानरूपसे अर्थज्ञान होनेपर भी शिष्टोंके द्वारा प्राप्त व्याकरणागमसे सिद्ध साधुशब्दोंके प्रयोगसे धर्म और असाधुशब्दोंके प्रयोगसे अधर्म उत्पन्न होता है।

'इको यणचि' इत्यादिभिः स्वविधेयघटिते साधुत्वं तदितरस्मिन् स्वोत्तरशास्त्राबोधितेऽसाधुत्वं च बोध्यते, अन्यथा समासविधायकशास्त्रेण सुधीउपास्य इत्यस्यापि साधुत्वबोधनात्तस्यापि प्रयोगापत्तिः असाधुत्वासमानाधिकरणं च साधुत्वं लोकप्रयोगार्हत्वसम्पादकमिति तत्त्वम् ॥

'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इति श्रुत्या साधूनां धर्मसाधनत्वस्य 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः तस्माद्

ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' इति श्रुत्या असाधूनामधर्मसाधनत्वस्य बोधनात् आगमसिद्धेऽर्थे न विवदितव्यम्। यथा अन्येषु आगमविहितेषु, अष्टकाश्राद्धादिषु यथा वा आगमनिषिद्धेषु हिंसानृतवदनस्तेयादिषु धर्माधर्मसाधनत्वविषये न कश्चिद्विप्रतिपद्यते तद्वदिति भावः॥

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुम् भवति। इस श्रुतिके अनुसार साधुशब्दज्ञान धर्मका साधन कहा गया है और 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः, तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेक्षितवै नापभाषितवै म्लेक्षो हवा एष यद पशब्दः' इस श्रुतिके द्वारा असाधुशब्द-ज्ञान अधर्मसाधन माना गया है। अतः साधुशब्दका प्रयोग करना ही उचित है॥ २७॥

एतदुक्तं भवति—आगमा द्विविधाः-शिष्टागमा बाह्यागमाश्च। शिष्टो नामानुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि यो नान्यथावादी, यथा मन्वादिः। तेषामागमा मनुस्मृत्यादयः, बाह्या वेदबाह्या बुद्धादयस्तेषामागमा बुद्धाद्यागमाः तत्र शिष्टागमानामेव धर्मे प्रामाण्यं न बाह्यागमानामित्येतत्सूचयितुमुक्तं शिष्टेभ्य आगमा इति।

एतदेवाभिप्रेत्य स्मृतिचरणे तन्त्रवार्तिके बौद्धाद्यागमानां परिहार्यत्वमुक्तम्। तथाहि—ननु बौद्धाद्यागमा अपि धर्मे किमिति न प्रमाणम् तेष्वपि अहिंसाब्रह्मचर्यतपोदानादयो विहिताः तेऽपि हि स्वपितृपितामहादिचरितानुयायिनः तेषामाप्यगमाः द्वीपान्तरस्थमहाजनैरनुगृहीताः—महाजनगृहीतत्वं पित्राद्यनुगमादि च। तेऽपि द्वीपान्तरापेक्षं वदन्त्येव स्वदर्शने॥ नच ते न वेदमूला इति वाच्यम्, उत्सन्नशाखामूलत्वस्य तेष्वपि कल्पयितुं शक्यत्वादिति चेद्—अत्रोच्यते—कतिपयदानदमादिवर्जं सर्वाण्येव शाक्यादिवचनानि समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि त्रयीबाह्येभ्यश्चाण्डालादिप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानि न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते। स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः। उक्तं च—

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्।
आत्मानं योऽतिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः॥ इति।

बुद्धादेः पुनरयं व्यतिक्रमोऽलङ्कारबुद्धौ स्थितः येनैवमाह—
कलिकलुषकृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोकः॥ इति।

यः किल लोकहितार्थं क्षत्रियधर्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रतिषेधातिक्रमासमर्थैर्ब्राह्मणैरननुशिष्टं धर्मं बाह्यजनाननुशासद्धर्मपीडामप्यात्मनोऽङ्गीकृत्य परानुग्रहं कृतवान् इत्येवंविधैरेव गुणैः स्तूयते तदनुसारिणश्च सर्व एव श्रुतिस्मृतिविहितधर्मातिक्रमेण व्यवहरन्तो विरुद्धाचरणत्वेन ज्ञायन्ते। ततश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धत्वादेषामागमा न वेदमूला इति न धर्मे प्रमाणम्। किं च यथा उपनयनादिस्मृतीनां

शाखान्तरदृष्टश्रुतिसंवादः न तथा चैत्यकरणतद्वन्दनशूद्रसम्प्रदानकदानादीनां संवादः सम्भवति। न च मूलान्तरकल्पनावकाशः—

लोभादि कारणं चात्र बह्वेवान्यत्प्रतीयते। यस्मिन्सन्निहिते दृष्टे नास्ति मूलान्तरानुमा॥
शाक्यादयश्च सर्वत्र कुर्वाणा धर्मदेशनाम्। हेतुजालविनिर्मुक्तां न कदाचन कुर्वते॥
न च तैर्वेदमूलत्वमुच्यते गौतमादिवत्। हेतवश्चाभिधीयन्ते ये धर्माद् दूरतः स्थिताः॥
एत एव च ते येषां वाङ्मात्रेणापि नार्चनम्। पाखण्डिनो विकर्मस्था हैतुकाश्चैत एव हि॥

एतदीयग्रन्था एव च मन्वादिभिः परिहार्यत्वेनोक्ताः—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥

तस्माद्धर्मं प्रति त्रयीबाह्यं बौद्धादिशास्त्रमप्रमाणमिति सिद्धम्॥ २७॥

ननु नित्यशब्दवादे शब्दानां व्यवस्थितत्वात् साधुत्वव्यवस्था युज्यतां कार्यशब्दवादे तु अभिनवान् कांश्चिच्छब्दानुत्पाद्य तेषां स्वकल्पितव्याकरणेन स्वगोष्ठीषु साधुत्वबोधनसम्भवात् कथं साधुत्वव्यवस्था स्यादत आह—

साधुशब्दोंका ज्ञान भी व्याकरणसे ही हो सकता है। व्याकरण भी यदि शब्द नित्य हों तो उनका साधुत्व बतावे। शब्दोंकी नित्यताके बारे में विद्वानोंमें मतभेद है। कोई नित्य मानते हैं कोई अनित्य। जो नित्य मानते हैं उनके मतसे व्याकरण रचना ठीक है, किन्तु जो शब्दको अनित्य मानते हैं वे तो नया शब्द गढ़ेंगे और नया व्याकरण मनमानी रचेंगे, फिर आपके व्याकरणकी दुर्दशा ही हो जायगी यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि—

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते॥ २८॥

ये हि वैशेषिकादयः आत्मनां नित्यत्वमातिष्ठन्ते तेषां कूटस्थनित्यतया ये च चार्वाकादयः आत्मनां शरीरेन्द्रियरूपतां मन्यमाना अनित्यत्वमातिष्ठन्ते तेषामनादौ संसारे अप्रवृत्तप्राणिव्यवहारस्य कालस्यासत्त्वात् प्रवाहनित्यतया **प्राणिनाम्** आत्मनाम् **इव नित्यत्वे** शब्दनित्यत्ववादे कूटस्थनित्यतया **कृतकत्वे** कार्यशब्दवादे **वा** अनादौ संसारे अप्रवृत्तशब्दव्यवहारस्य कालस्यासत्त्वात् प्रवाहनित्यतया[1] **तेषां** शब्दानाम् **आदिः** इदंप्रथमता **न विद्यते** नास्तीत्यर्थः। एवं चायं साधुरयमसाधुरिति व्यवहारप्रवाहस्यानादितया नाभिनवान् शब्दानुत्पाद्य तेषां साधुत्वबोधनं शक्य-

१. अनादौ संसारे सृष्टिप्रलयवादेऽपि पूर्वकल्पीयैरेव शब्दार्थसम्बन्धैरुत्तरकल्पेऽपि व्यवहारः स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधव्यवहारवदिति न प्रवाहनित्यताहानिः। तदुक्तं शाङ्करभाष्ये 'अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारसत्त्वात् कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोध' इति। कालो न लोकशून्यः कालत्वादिदानींतनकालवदिति सृष्टिप्रलयानङ्गीकर्तृमीमांसकमते तु सुतरां प्रवाहनित्यतेति बोध्यम्।

सम्भवमिति साधुत्वव्यवस्था निर्विवादेति भावः। ननु केयं नित्यता या शब्दानां जन्यत्वेऽपि न विरुद्धेत्यत आह—सा चैषा कूटस्थनित्यताया अन्या व्यवस्थानित्यता प्रवाहनित्यता उच्यते शास्त्रदर्शिभिरित्यर्थः। तदुक्तं भाष्ये 'तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते' इति यस्मिन् विहतेऽपि आश्रयप्रवाहाविच्छेदात् तद्वृत्तिधर्मो न विहन्यते इति तदर्थः॥ २८॥

जैसे वैशेषिक दर्शनके आचार्य आत्माको नित्य मानते हुए आत्माको कूटस्थ नित्यता, शरीर और इन्द्रियको आत्मा माननेवाले चार्वाकदर्शनके आचार्य आत्माको अनित्य मानने पर भी अनादि संसारप्रवाहको नित्य मानते हुए प्रवाह नित्यता मानते हैं। किन्तु किसीके दर्शनकी दुर्दशा नहीं हैं।

वैसे आत्माकी नित्यताकी भाँति शब्दोंकी नित्यता मानने पर कूटस्थ नित्यता और कृत्रिमता (अनित्यता) मानने पर अनादि संसार-प्रवाहमें प्रवाह नित्यता मानने से व्याकरण की रचना व्यर्थ न होगी।

तात्पर्य यह है कि नए शब्दोंका निर्माण दोनों पक्षोंमें नहीं हो सकता॥ २८॥

ननु नियमद्वयार्थं हि व्याकरणं 'साधूनेव प्रयुञ्जीत नासाधून्' इत्येकः प्रयोग-नियमः, 'गवादय एव साधवो न गाव्यादयः' इति अपरः साधुस्वरूपनियमः। तदेतद्द्वयमपि न नियन्तुं शक्यते। तथाहि—न तावत्साधूनेव प्रयुञ्जीतेति नियम-सम्भवः शब्दप्रयोगफलस्यार्थाववोधस्य असाधुभ्योऽपि सम्भवेन नियमस्यानर्थ-कत्वात्। ननु न शब्दोच्चारणमर्थाववोधायैव किन्तु धर्मायापि। तथाच नियमस्यार्था-ववोधेऽनुपयोगेऽपि धर्मे उपयोगो भविष्यतीति चेन्न मूलासम्भवात्। न तत्र प्रत्यक्षं मूलं तस्य धर्माधर्मयोरप्रवृत्तेः, नापि व्याकरणस्मृतिकल्पितानि मूलं तेषां प्रतिपदं कल्पने अनन्तवाक्यपाठासम्भवः सुशब्दं प्रयुञ्जीत नापशब्दमित्येवंरूपमेकमेव वेदवाक्यं तु कल्पयितुमशक्यं श्रोत्रग्राह्यत्वरूपस्य वाचकत्वरूपस्य वा सुशब्दत्वस्या-साधुशब्देष्वपि सत्त्वेनाव्यवर्तकत्वात् अन्यादृशस्य चासम्भवात्। अत एव न साधुस्वरूपनियमोऽपि सम्भवति श्रोत्रग्राह्यत्वरूपस्य वाचकत्वरूपस्य वा साधुत्वस्या-साधुशब्देष्वपि सत्त्वेन नियन्तुमशक्यत्वात् तस्मादियमनर्थिका साधुत्वासाधुत्व-व्यवस्था सर्वैरेव शब्दैः व्यवहारस्य कर्तुं शक्यत्वादित्यत आह—

व्याकरण दो नियम बना सकते हैं। एक 'साधुशब्द का ही प्रयोग करना असाधु का नहीं' और 'दूसरा गोशब्द ही साधु है गावी आदि नहीं', किन्तु सब शब्दों से व्यवहार जब बन जाता है तब दोनों नियमों में कोई मूल नहीं है। अतः यह साधुत्व और असाधुत्व की व्यवस्था व्यर्थ है यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि

नानर्थिकामिमां कश्चिद्व्यवस्थां कर्तुमर्हति।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः॥ २९॥

कश्चित् मन्दोऽपि अनर्थिकां निष्प्रयोजनाम् इमां साधुत्वविषयिकां दुर्ज्ञेयां दुरध्येयां[1] च व्यवस्थां कर्तुं नार्हति 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'

१. उदात्तादिस्वरज्ञानेऽपि तस्याशक्योच्चारणत्वाद्दुरध्येयत्वम्।

इति न्यायान्मन्दस्यापि निष्प्रयोजने कर्मणि प्रवृत्त्यदर्शनेन पाणिन्यादेः प्रवृत्तेः सुतरामसम्भवात् इति पाणिन्यादेः साग्रहं साधुत्वविषयकव्यवस्थायां प्रवृत्तिदर्शनात्सप्रयोजनत्वं तस्या अध्यवसीयत इति भावः । **तस्मात्** साधुत्वविषयकव्यवस्थायाः सप्रयोजनत्वात् **शिष्टैः** पाणिन्यादिभिः **साधुत्वविषया स्मृतिः** अनादिगुरुपूर्वक्रमागता व्याकरणस्मृतिः समान्यविशेषवल्लक्षणेन च **निबध्यते** इत्यर्थः ॥

अयंभावः अनादिवाचकत्वरूपस्य पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मविशेषरूपस्य वा व्याकरणाभिव्यङ्ग्यस्य साधुत्वस्य असाधुशब्दव्यावृत्तस्य सम्भवेन साधुशब्दप्रयोगनियमस्य साधुस्वरूपनियमस्य च संभवः तादृशं साधुत्वमेवोपलक्षणीकृत्य साधूनेव प्रयुञ्जीत नासाधूनिति वेदस्य कल्पयितुं शक्यता चेति समूलत्वाद् धर्मप्रयोजनिकेयं साधुत्वव्यवस्था नानर्थिकेति ॥ २९ ॥

अतः, कोई भी व्यक्ति चाहे समझदार हो या नासमझ यह इस व्यवस्थाको निष्प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता। इसीलिए आचार्य पाणिनिने अनादि गुरु परम्परासे सीखी हुई साधुत्व विषयक स्मृति (व्याकरण शास्त्र) का निर्माण किया ॥ २९ ॥

ननु साधुशब्दानां धर्माङ्गत्वेऽपि न साधुशब्दव्यवस्थार्थं व्याकरणागमापेक्षा 'अर्के चेन्मधु विन्देदि'तिन्यायेन 'अयं साधुः शिष्टप्रयुक्तत्वात् गोशब्दवत्' इति तर्कादेव साधुत्वज्ञानस्य सम्भवात् । तथाच वदन्ति 'लोकाज्ञो लौकिकाः शब्दाः सिद्धाः वेदाच्च वैदिका अनर्थकं व्याकरणम्' इति यत्र कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तर्कानवतारस्तत्रापि अतीन्द्रियार्थविषयकार्षज्ञानादेव साधुत्वज्ञानसम्भवाच्चेति शङ्कां समाधातुमतीन्द्रियार्थस्य तर्कागम्यत्वं पञ्चभिः श्लोकैराह—

शब्दोंका साधुत्वज्ञान 'अयं साधुः, शिष्टप्रयुक्तत्वात्, गोशब्दवत्' इस प्रकार के तर्कों द्वारा तथा बड़े महर्षियोंके ज्ञानके आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते ।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥ ३० ॥

धर्मो यागादिः[1] **आगमादृते** आगमानपेक्षेण **तर्केण न व्यवतिष्ठते** स्वर्गसाधनत्वेन न निश्चीयते, यागत्वस्वर्गसाधनत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावस्य कुत्राप्यदृष्टचरत्वेन व्याप्तिग्रहाभावेन तर्कस्य प्रवृत्त्ययोगात् । यतः सर्वेऽपि युक्तिवादिनः किमिति वह्निर्दहति न जलमिति स्वभाव एव वह्नेरित्येव वदन्ति न कांचिद्युक्तिमुद्धाटयन्ति । एवं यागःस्वर्गसाधनमितिविषये स्वभाव एव यागस्येत्येव तार्किकेण वक्तव्यं तत्र वह्नेर्दाहजनकत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धतया दाहजननस्वभावो वह्निरिति युक्तमवगन्तुमिह तु स्वर्गसाधनतायां अप्रत्यक्षत्वात् यागः स्वर्गजननस्वभाव इत्यागमादेवावगन्तुं शक्यमिति

---

१. धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसामिति दर्शनेन यागादिरेव धर्म इति बोध्यम् ।
द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते । तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥
श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते ; ताद्रूप्येग तु धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥

न सर्वप्रवृत्त्यवसरः। आगमात् यागत्वस्वर्गसाधनत्वयोः व्याप्यव्यापकभावं गृहीत्वा सिषाधयिषया तर्कप्रवृत्तिरिति चेत्तर्हि न तादृशस्तर्को साधुत्वव्यवस्थायां व्याकरणागमानपेक्षत्वसंपादकः स्वोदयायैव तेनागमापेक्षणादिति। तथा आगमादृते इत्यनेनागमसमुत्थस्तर्को निर्णयहेतुर्भवति यथा जैमिनीयं मीमांसाशास्त्रम्, तदुक्तं 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' इति सूचितम्। 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' इति निषेधस्त्वागमानपेक्षशुष्कतर्कविषयक इति भावः। धर्मस्य तर्कागम्यत्वमुक्त्वार्षज्ञानागम्यत्वमाह—ऋषीणामिति। ऋषीणामपि यद् अतीन्द्रियार्थविषयकं प्रातिभं ज्ञानं[1] भवति तदपि आगमपूर्वकम् न स्वोत्प्रेक्षापूर्वकम्। आगमोक्तधर्मेण तपश्चर्यादिना संस्कृतात्मनामेव ऋषित्वेन तदीयज्ञानस्य प्रतिभाख्यधर्मविशेषजन्यस्यागममूलकत्वौचित्यादन्यथाऋष्युक्तस्यागमत्वादागमोक्तानुष्ठातुश्च ऋषित्वादन्योन्यान्याश्रयापातः स्यात्तदुक्तं श्लोकवार्तिके—'एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥ नर्ते तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना' इति न साधुत्वव्यवस्थायां व्याकरणागमस्यानावश्यकत्वसाधकमार्षज्ञानमपीति भावः॥ ३०॥

याग आदि धर्म भी आगम (वेद) के विना केवल तर्कके बलपर सिद्ध नहीं हो सकते और महर्षियोंके अतीन्द्रिय ज्ञान भी आगमोक्त विधानके द्वारा तप करनेसे ही प्राप्त हुए हैं।

तात्पर्य यह है कि 'यागसे स्वर्ग होता है' यह अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता। अनुमान वहीं होता है जहाँ सहचार-दर्शन द्वारा व्याप्य व्यापकभाव गृहीत हो। अतः जैसे आगमें दाहकता क्यों है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि 'वह आगका स्वभाव है' वैसे यागसे स्वर्ग क्यों होता है इस प्रश्नका उत्तर यही होगा कि 'यह यागका स्वभाव है'। आगमके द्वारा याग और स्वर्गके व्याप्य व्यापकभाव गृहीत होने पर भी यह व्याप्य व्यापकभाव भी जब आगम प्रमाणकी अपेक्षा रखता है तब व्याकरणागमसे शब्दके साधुत्व बतानेमें बाधक नहीं होगा। ऋषियोंने तो आगमोक्त अनुष्ठानोंके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध कर हो दिव्यदृष्टि पाई है। अतः उनका भी ज्ञान आगममूलक है। अतः किसी भी प्रकारका तर्क शब्दसाधुत्वके बारेमें व्याकरणागमका बाधक नहीं है॥ ३०॥

ननु यत्र तर्कानवतारस्तत्र मास्तु तर्केण धर्मप्रमितिः यत्र तु नरकपालशुचित्वहिंसादौ 'नरकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात्' अग्नीषोमीयपशुहिंसा नरकसाधनं पीडाजनकत्वाद्ब्रह्मवधादिवत्' इत्येवंरूपस्तर्कः सम्भवति तत्र तर्केणापि धर्मप्रमितिरस्तु तथाच तादृशतर्केण आगमो बाध्यतामत आह—

इसीलिए तर्कसे आगम प्रबल माना गया है। और वह 'नरकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात्, अग्निसोमीय पशुहिंसा, नरकसाधनं हिंसात्वात्, ब्रह्मवधादिवत् इत्यादि स्थलोंमें तर्कको बाँधता है बाधित नहीं होता। क्योंकि—

---

१. योगाभ्यासजनितसंस्कारविशेषो भावना तद्बलाज्जातं योगिप्रत्यक्षं भविष्यति धर्मे समर्थमिति मनोरथमात्रम् भावना हि अनुभूतार्थगोचरनियतानुभूतेषु निश्चयरूपां स्मृतिं जनयति। न च सात्र प्रमाणं स्मृतित्वादेव।

धर्मस्य चाव्यच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः ।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥ ३१ ॥

ये धर्मस्य पन्थानः धर्मप्रतिपत्त्युपाया श्रुतिस्मृत्यादयः व्यवस्थिता लोकप्रसिद्धाः अव्यवच्छिन्नाः सर्वैः शिष्टैरपरित्यागाद्विच्छेदरहिताः पारम्पर्यक्रमादागताः इति यावत्। तान् आगमान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण न बाधते लोकविरोधे तर्कस्यानुत्पादात्। प्रत्युत नरकपालाशुचित्वबोधकागमेन तर्क एव बाध्यते यत आगमाल्लोकविरुद्धं तर्कविरुद्धं च अग्निषोमीयपशुहिंसादिलक्षणमाचरणं प्रतिपद्यन्ते शिष्टाः अतो नागमस्तर्कबाध्य इति भावः ॥

इदमेवोक्तं चोदनासूत्रे श्लोकवार्तिके—धर्माधर्मावबोधस्य तेनायुक्तानुमानगीः। अनुग्रहाच्च धर्मत्वं पीडातश्चाप्यधर्मताम् ॥ वदतो जपसीध्वादिपानादौ नोभयं भवेत्। क्रोशता हृदयेनापि गुरुदाराभिगामिनाम् ॥ भूयान् धर्मः प्रसज्येत भूयसी ह्युपकारिता। अनुमानप्रधानस्य प्रतिषेधानपेक्षिणः ॥ हृदयक्रोशनं कस्माद् दृष्टां पीडामपश्यतः। तस्मादनुग्रहं पीडां तदभावमपास्य च। धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधिनिषेधकौ ॥ तस्माद्यद्यादृशं कर्म यत्फलोत्पत्तिशक्तिकम् । शास्त्रेण गम्यते तस्य तादृशस्यैव तत्फलम् ॥ इति ॥ ३१ ॥

जो धर्मके प्रतिपादक (श्रुति, स्मृति आदि) आगम हैं वे व्यवस्थित (लोकप्रसिद्ध) हैं और सब शिष्टों (गुरुपरम्परा) से ज्ञात हैं। अतः उन लोक प्रसिद्ध आगमोंका तर्कसे बाध नहीं हो सकता। क्योंकि लोकके विरोध पर तर्कका ही बाध होता है ॥ ३१ ॥

इदानीं लौकिकपदार्थेष्वपि शक्तिभेदेन व्यभिचारादनुमानस्य न सामर्थ्यमित्याह-

अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥ ३२ ॥

भावानां पदार्थानां शक्तिषु अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु सतीषु अनुमानेन भावानां शक्तेरिति शेषः, भावानां तत्तत्कार्यजननसामर्थ्यस्य प्रसिद्धिः अनुमितिः अतिदुर्लभा असंभवा इत्यर्थः।

इन तर्कोंकी आगमोंमें ही नहीं लोकमें भी विफलता सिद्ध है। जब भावों (पदार्थों) की शक्तियाँ अवस्था, देश और कालके भेदसे भिन्न-भिन्न होती हैं। तब अनुमानके द्वारा उन-उन पदार्थोंमें उन-उन शक्तियोंकी अनुमिति अतिदुर्लभ है।

अवस्थाभेदात् धान्यबीजानामवस्थान्तरे अङ्कुरजननशक्तिः मूषिकाघ्रातानां च न, पिप्पल्याख्यौषधेरार्द्रस्य कफजननशक्तिः शुष्कस्य च त्रिदोषशमनशक्तिः, यौवने यादृशं बलं न तथा वार्धके, देशभेदात् हैमवतीनामपां स्पर्शोऽतिशीतः बलाहकाग्निकुण्डादिषु तु उष्णः, कालभेदात् हेमन्ते कूपोदकमुष्णं ग्रीष्मे च शीतम्, ग्रीष्मे अग्नेरत्युष्णः स्पर्शः न तथा हेमन्ते इति शक्तिभेदः। एवं च जलत्वहेतुना जले उष्णत्वस्य शीतत्वस्य वा नानुमानं क्रमेण हैमवतीष्वप्सु अग्निकुण्डोदकेषु च

व्यभिचारात्। किञ्च अग्निर्न धूमं व्यभिचरति इत्यभिमानमात्रं नाव्यभिचारः यतोऽवस्थाभेदादनेकरूपाः पादार्थास्तत्र स्यादपि कश्चिद् धूमो यो नाग्नेः यथा शाल्कादपि शाल्को गोमयादपि इति। एवञ्च यदि लौकिकेषु पदार्थेष्वियं दुरवस्था अनुमानस्य तर्हि का वार्ता अप्राकृतगम्ये धर्मे इति तमागमचक्षुरन्तरेण अनुमानमात्रेण कोऽमूढः साधयितुं प्रयततेति आगमैकसंवेद्य एव धर्मादिरर्थ इति भावः॥

अवस्थाके भेदसे जैसे—हरी पीपर कफ पैदा करती है और सूखी त्रिदोष नाश करती है। अन्नमें किसी अवस्थामें अङ्कुर उत्पन्न होता है, दूसरी अवस्थामें नहीं। देशके भेदसे जैसे-हिमालयका जल ठण्डा होता है किन्तु किसी-किसी कुण्डमें उष्ण (गरम) भी होता है। कालके भेदसे जैसे—हेमन्त ऋतुमें कुआँका जल गरम और ग्रीष्ममें ठण्डा होता है।

एतदेवोक्तं शाङ्करभाष्येऽपि तथाहि—'लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावस्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति किमुताचिन्त्यस्वभावस्य''' '''तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्यावगम' इति॥ ३२॥

इस तरह शक्तियाँ अवस्था, देश और कालके भेदसे भिन्न-भिन्न हैं। फिर जलत्व हेतुसे जलमें शीतत्वानुमान नहीं हो सकता। 'अयं शीतः जलत्वात्'। इसी तरह उष्णत्वानुमान भी नहीं हो सकता। अतः जब लौकिक पदार्थोंके बारेमें तर्ककी दुर्दशा ही है तब धर्म निर्णयमें आगमरूपी नेत्रके विना कोई मार्ग ही नहीं है॥ ३२॥

शक्तिप्रतिबन्धेन व्यभिचाराच्चानुमानस्य न सामर्थ्यमित्याह—

निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते॥ ३३॥

तां ताम् अर्थस्य वह्नेः क्रिया दाहादिः ताम् अर्थक्रियां प्रति निर्ज्ञातशक्तेः निश्चितशक्तेरपि द्रव्यस्य वह्न्यादेः विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे अभ्रपटलचन्द्रकान्तादिद्रव्यसम्बन्धे सति सा शक्तिः दाहजननसामर्थ्यं प्रतिबध्यते इति संबन्धः॥

और उन उन वस्तुओंकी उन-उन क्रियाओंमें शक्तियोंके नियत रहने पर भी किसी विशिष्टद्रव्यके सम्बन्धसे उसकी शक्ति नष्ट भी हो जाया करती है।

अयं दहति अग्नित्वात् इत्यादिभिरनुमानैर्न शक्यते दाहजनकत्वमनुमातुं चन्द्रकान्तादिप्रतिबन्धकद्रव्यसमवधाने अग्नित्वस्य दाहजनकत्वव्यभिचारादिति वस्तुस्वभावो नानुमानादवगन्तुं शक्यः किं त्वागमादेवेति भावः॥ ३३॥

अतः 'अयं दहति अग्नित्वात्' यह अनुमान भी चन्द्रकान्तमणिके रहने पर व्यर्थ ही होगा। इस प्रकार वस्तु स्वभाव जाननेके लिए तर्क व्यर्थ है किन्तु आगम ही सहायक है॥ ३३॥

ननु केनचिन्महापुरुषेण कृतस्तर्को व्यवस्थितो भविष्यति तथा च तेन तर्केण धर्माधर्मप्रमितिर्भविष्यतीति चेन्महापुरुषाणामपि कपिलकणादादीनां मिथो विप्रतिपत्तिदर्शनेन तदीयतर्काणामप्यवस्थितत्वमित्याह—

बड़े बड़े महापुरुषोंके तर्कसे भी धर्म और अधर्मका निर्णय असम्भव है। क्योंकि—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ ३४ ॥

यतः कुशलैः अनुमातृभिः कपिलादिभिः यत्नेन अनुमितोऽपि 'जगतः कारणं प्रधानम्' इत्येवंरूपोऽर्थः अन्यैः अभियुक्ततरैः कणादादिभिः अन्यथैव 'परिमाणुः जगत्कारणम्' इत्येवंरूपेण उपपाद्यते एवं तदन्यैरपि अन्यथा इति, ततश्च युक्तमुक्तं 'न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते' इति। यतः यत्नेन विवेचिता अपि आगमानपेक्षाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अव्यवस्थिता भवन्तीति नागमगम्ये-ऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यमिति तथा चाहुर्बादरायणपादाः 'तर्काप्रतिष्ठाना-त्......' इति भावः ॥ ३४ ॥

अनुमान करनेमें बड़े चतुर कपिल आदि महर्षियोंने जिसको सिद्धि बड़े यत्नसे अनुमान द्वारा की हैं। उसीका दूसरे (कणादि) महर्षिने उलटा अर्थ कर दिया है।

जैसे कपिलने यत्नपूर्वक अनुमानसे जगत्का कारण प्रधान सिद्ध किया है और वैसी ही युक्तियोंसे कणादने परमाणुको जगत्का कारण मान लिया। अतः चतुर अनुमाता भी धर्मके बारेमें अनुमानसे कोई निर्णय नहीं कर सकता है ॥ ३४ ॥

नन्वेवं धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षागोचरत्वेन शब्दोपमानयोश्च[1] 'एते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमत्पदोपस्थापितत्वात्, गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपद-त्वात्,' इत्यनुमानविधयैव प्रामाण्येन अनुमानानतिरिक्तत्वात् अनुमानस्य चाव्य-वस्थितत्वेन धर्माधर्मप्रमापकत्वायोगात् धर्माधर्मप्रमितिर्निर्मूलैव स्यादित्याशङ्कामपा-कर्तुं प्रत्यक्षानुमाने एव प्रमाणे इत्यभ्युपगमनं व्यभिचारयितुं प्रमाणान्तरमाह—यद्वा तर्कस्याव्यवस्थितत्वेन धर्माद्यप्रमापकत्वमुपपाद्य आर्षज्ञानस्य धर्मादिप्रमापकत्वेऽपि तस्यागममूलकत्वमुपपादयितुं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधमार्षज्ञानं वक्तुमुपक्रमते—

इस प्रकार अनुमान धर्माधर्म निर्णय में अप्रमाण है। आर्षज्ञान प्रमाण होते हुए भी आगममूलक है क्योंकि—आर्ष ज्ञान दो प्रकारका होता है। एक लौकिक और दूसरा अलौकिक—

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥ ३५ ॥

परेषामसमाख्येयं परेभ्यो वक्तुमशक्यम् मणिरूप्यादिविज्ञानम् मणिरूप्या-दितारतम्यज्ञानं यत् तद्विदां मणिरूप्यादिविदां रूपतर्काणां[2] सूक्ष्मान् कार्षापणा-दितारतम्यसमधिगमहेतून् कल्पयित्वापि परेभ्यो वक्तुमशक्नुवताम् अभ्यासादेव अपरमणिपरिचेतृवचनपूर्वकात् प्रत्यक्षपौनःपुन्यात् नेन्द्रियादिभ्यः जायते तत् नानुमानिकं व्याप्तिज्ञानाजन्यत्वात्, न प्रत्यक्षं पटुभिरिन्द्रियैरपि अभ्यासरहितैरधि-

१. शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते। अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ॥
२. रूपं रूपकभेदः दीनारादिः तं तर्कयन्ति परीक्षन्ते इति रूपतर्काः सौवर्णिकाः।

गन्तुमशक्यतया इन्द्रियमात्राजन्यत्वात्, इति लौकिकप्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं किंचित् लौकिकसमाधिजन्यं भावनापरपर्यायमभ्यासाख्यं प्रमाणान्तरसाश्रयितव्यम्। एवं षड्जर्षभगान्धारधैवतादिभेदः प्रत्यक्षप्रमाणविषयोऽपि अभ्यासरहितः प्रणिहितमनोभिरपि अभियुक्तैरधिगन्तुमशक्यतया गान्धर्वशास्त्रपूर्वकेण प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तेनाभ्यासाख्यप्रमाणेन संवेद्य इत्यास्थेयम्। तमिमं 'श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति' इतिकन्यकाज्ञानमिव लौकिकमार्षमित्याचक्षते। स्पष्टं चेदं प्रशस्तपादभाष्ये। शब्दोपमानयोश्च[1] व्याप्तिज्ञानाजन्यत्वान्नानुमानान्तर्भाव इति तत्त्वम्॥ ३५॥

लौकिक मणि और गिन्नी आदिके मूल्यके तारतम्यका ज्ञान जानकार स्वर्णकारोंको ही होता है। वे इसे चाहने पर भी बता नहीं सकते। क्योंकि किसी वस्तुकी विशेषताका ज्ञान तो अभ्याससे ही होता है। इस अभ्याससे होनेवाले ज्ञानको अनुमान नहीं कहा जा सकता। (क्योंकि व्याप्ति ज्ञानसे जन्य नहीं है।)

यह अभ्यास नामका ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न हैं और लौकिक समाधिसे जन्य है। अतः यह कोई अन्य प्रमाण है॥ ३५॥

अलौकिकस्यापि आर्षज्ञानस्यागममूलकत्वोपपादनायादृष्टविशेषजन्यत्वमाख्यातुमदृष्टविशेषजन्यं पित्रादिनामलौकिकमार्षज्ञानमाह—

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः॥ ३६॥

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः लौकिकप्रत्यक्षानुमानागोचरत्वेन लोकप्रसिद्धाः पितृरक्षःपिशाचानां सिद्धयः कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरैव गृहान्तःस्थितवस्तुविषयकं दर्शनमन्तर्धानादयश्च कर्मजा कर्माधीनादृष्टविशेषसिद्धा एव सन्तीत्यर्थः। एवमृषीणामपि ज्ञानं तपःसाध्यादृष्टजन्यं न प्रत्यक्षानुमानजन्यमिति भावः॥ ३६॥

और, अलौलिक जो लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमानसे न जानने योग्य लोकमें प्रसिद्ध पितर, राक्षस और पिशाच आदिकी सिद्धियाँ (जैसे बन्द कमरेकी बात कह देना, प्रकट होना, छिप जाना आदि) कर्माधीन होती हैं।

यह दो प्रकारका आर्ष ज्ञान तपके द्वारा उत्पन्न अदृष्टसे जन्य है। अतः तर्क जन्य नहीं है॥ ३६॥

ननु आर्षज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रियाजन्यत्वान्नानुमानिकं व्याप्तिज्ञानाजन्यत्वान्नौपमानिकं सादृश्यज्ञानाजन्यत्वात् नागमिकं शब्दज्ञानाजन्यत्वादित्यप्रमाणमेव किं तदित्यत आह—

यद्यपि आर्षज्ञान इन्द्रियजन्य न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं, व्याप्तिज्ञान जन्य न होनेसे अनुमान नहीं, सादृश्यज्ञान जन्य न होनेसे उपमान नहीं, और शब्दज्ञान जन्य न होनेसे शाब्द नहीं। तथापि —

१. तथा च—'तत्र सम्यग्विना व्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः' इति मुक्तावली।

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥ ३७ ॥

न उपप्लुतानि रजस्तमोभिराक्रान्तानि चेतांसि येषां तेषामनुपप्लुतचेतसाम् तपसा क्षीणकल्मषाणाम् अत एव आविर्भूत आवरणरहितः प्रकाशो ज्ञानं येषां ते तेषाम् आविर्भूतप्रकाशानां निरावरणख्यातीनां योगिनाम् यत् अतीतानागतज्ञानं जायते तत् प्रत्यक्षात् अस्मदादिप्रत्यक्षात् न विशिष्यते न भिद्यते न विलक्षणमिति यावत् ॥ यदपि लौकिकमार्षं तदपि आगमसहकृतयत्नपूर्वकप्रत्यक्षाभ्यासजन्यतया प्रयत्नपूर्वकमञ्जनादिना दृश्यद्रष्टॄणां सिद्धानां ज्ञानमिव उपनेत्रसहकृतचाक्षुषमिव च प्रत्यक्षमेवेति ध्येयम् । यथा लोकः स्वमुखमपश्यन्नपि स्वच्छदर्पणे प्रतिबिम्बरूपेण पश्यत्येवम् ऋषयः तपसा विशुद्धे अन्तःकरणे अस्मदादिभिरग्राह्यमपि वस्तु अव्यभिचरितं पश्यन्ति तच्च ज्ञानं योगजप्रत्यक्षजन्यं न लौकिकप्रत्यक्षजन्यमनुमानजन्यं वा येन लौकिकप्रत्यक्षानुमानयोरसंभवाल्लोकानां तत्राविश्वासो भवेदिति भावः ॥ ३७ ॥

जिनके चित्त रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत नहीं है। जिन्हें प्रकाश (ज्ञान) हो गया है उन महर्षियोंको जो भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है। वह भी हम लोगोंके प्रत्यक्षकी ही भाँति प्रत्यक्ष है ॥ ३७ ॥

नन्विन्द्रियासम्बद्धविषयकम् ऋषीनां ज्ञानं कथं प्रत्यक्षम् कुतो वा 'आर्षं ज्ञानं मिथ्या इन्द्रियासम्बद्धविषयकत्वे सति प्रत्यक्षत्वाच्छुक्तिरजतवदिति' इत्यनुमानेन न बाध्यते इत्यत आह—

यद्यपि महर्षियोंका यह प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। तथापि 'आर्षज्ञानं मिथ्या इन्द्रियासम्बद्धविषयकत्वे सति प्रत्यक्षत्वात्' इस अनुमानसे बाधित नहीं होता। क्योंकि—

अतीन्द्रियानसंवेद्यान्पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥ ३८ ॥

इन्द्रियमतिक्रान्ता अतीन्द्रियास्तान् अतीन्द्रियान्—इन्द्रियैरग्राह्यान् अत एव असंवेद्यान् प्रत्यक्षपूर्वकैरनुमानादिभिरपि अग्राह्यान् भावान् अन्तर्यामिणं, चतुर्विधपरमाणून्, अविवृत्तं शब्दब्रह्म, देवताः, कर्मणां फलप्रदसंस्कारम् फलजननशक्तिवैकल्यं सहायान्तरप्रतिबोधितशक्तेः फलदानाभिमुख्यम्, आतिवाहिकं[1] शरीरम्, इत्येवमादीन् ये ऋषयः आर्षेण व्यावहारिकादन्येन अलौकिकसमाधिरूपतपोलब्धेन चक्षुषा चक्षुः सदृशेन योगजधर्मेण पश्यन्ति तेषां वचनम् अनुमानेन अव्यवस्थितेन अतीन्द्रियार्थे प्रवर्तितुमशक्तेन च न बाध्यते इत्यर्थः ॥ लौकिकप्रत्यक्षे विषयेन्द्रियसम्बन्धस्य कारणत्वेपि योगजप्रत्यक्षे तस्याकारणत्वेन आर्षज्ञानस्य

१. इह मृतस्य देशान्तरे शरीरान्तरग्रहणाय यदन्तरा भवं शरीरं तद्देशमतिवाहयति तदातिवाहिकम् ॥

प्रत्यक्षत्वे बाधकाभावः प्रत्यक्षपूर्वकस्यानुमानस्यातीन्द्रियार्थे अप्रवृत्त्या अनुमानाबाध्यत्वं चेति भावः ॥ ३८ ॥

जो इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं हो सकते और जो प्रत्यक्षमूलक अनुमानसे भी अग्राह्य हैं। वे भाव (पदार्थ जैसे भगवान्, परमाणु, शब्दब्रह्म, देवता आदि) जिन्हें महर्षियोंने आर्ष (अलौकिक समाधि रूप तपसे प्राप्त) नेत्र (नेत्र सदृश योगसे उत्पन्न धर्म) के द्वारा देखा है। उनके वचन अव्यवस्थित अनुमानसे बाधित नहीं हो सकते ॥ ३८ ॥

यद्यपि ऋषीणां वचनमनुमानेन न बाध्यते तथापि तद्वचनात् ये प्रवंतन्ते तेषां निवृत्तिः शक्या कर्तुम्, अनुमानेन तद्वचनप्रामाण्ये संशयोत्पादादत आह—

और इन वचनोंको प्रमाण मानकर जो कार्यरत हैं उन्हें रोका भी नहीं जा सकता। क्योंकि—

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते ।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ॥ ३९ ॥

यः परिग्रहीता यस्य योगिनः दर्शनं स्वं ज्ञानमिव नातिशङ्कते न व्यभिचारशङ्कां याति प्रत्यक्षपक्षे स्थितं योगिनां वचनं स्वं प्रत्यक्षमिव मन्यमानम् तम् अन्यः तर्कशरणः कथं निवर्तयेत् तदीयानुमानेषु तस्यानाश्वासादिति भावः ॥ ३९ ॥

जो व्यक्ति जिस योगीके प्रत्यक्षको अपना प्रत्यक्ष मान बैठा है। उसे दूसरा व्यक्ति तर्कके द्वारा अपनी ओर कैसे खींच सकता है। क्योंकि उसे उसके तर्क पर विश्वास ही नहीं है ॥ ३९ ॥

इह कृतानां कर्मणां देहादूर्ध्वम् इष्टानिष्टफलप्राप्तिर्भविष्यतीति ऋषिवचनानुसारिणामाप्तानां वचनबलादेव सर्वैर्मनुष्यैः शास्त्रोपदेशं विना ब्राह्मणत्वादिजातिरिव निस्सन्दिग्धं मन्यते तथैवानुगम्यते चेत्याह—

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन्पदद्वये ।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥ ४० ॥

चण्डालेभ्य आ इति आचण्डालं चण्डालपर्यन्तं मनुष्याणाम् इदं पापं इदं पुण्यम् इत्येतस्मिन्पदद्वये शास्त्रप्रयोजनम् अल्पम् इति सम्बन्धः ॥ एतादृशीं ख्यातिं प्राप्तमृषीणां वचनं यत् पामरा अपि जनाः शास्त्रमनधीत्यापि ऋषिवचनानुसार्याप्तवचनविश्वासादेव पुण्यं पापं च जानन्तीति ततः कथं केनापि ऋषिवचनानुसारिणः निवर्तयितुं शक्या इति भावः ॥ ४० ॥

यही कारण है कि—ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक जितने मनुष्य हैं। वे सब 'यह पुण्य है' और 'यह पाप है' (यह ऋषियोंके वचनोंसे ही जान लेते हैं और विश्वास करते हैं।) अतः उनके लिए शास्त्रका प्रयोजन अल्प ही है।

तात्पर्य यह है कि आर्षज्ञान तर्ककी सहायताके विना स्वयं प्रमाण है। क्योंकि वह आगममूलक है ॥ ४० ॥

ननु द्विविधमपि आर्षं प्रत्यक्षं यद्यपि लौकिकप्रत्यक्षानुमानागमेभ्योऽतिरिक्तं तथापि आगमसहकृतप्रत्यक्षजन्यतया आगमोदीरिततपोनुष्ठानजन्यादृष्टजन्यतया च आगममूलकमेव तत्। अत एवोक्तम् 'ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्' इति। एवं च आगमः स्वप्रामाण्याय तर्कमपेक्षत इति तर्कापेक्षया दुर्बल इति तन्मूलकस्य आर्षज्ञानस्य सुतरां दौर्बल्यमिति शङ्कामपनुदन् आगमस्य स्वतः प्रमाणत्वेन तर्कानपेक्षणात् तर्काबाध्यत्वमाह—यद्वा एवमार्षज्ञानस्यादृष्टविशेषजन्यत्वे उपपादिते अदृष्टस्यागमवेद्यतया तज्जन्यमार्षं ज्ञानमागममूलकमिति सिद्धमिति सांप्रतमागमस्य सर्वतो बलवत्त्वाय स्वतः प्रमाणतामाह—

इसी तरह आगमोंका प्रामाण्य भी तर्कके अधीन नहीं है। किन्तु आगम तर्ककी अपेक्षा प्रबल और स्वतः प्रमाण है।

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते॥ ४१॥

अविच्छेदेन—स्वतः, स्वप्रकाशतया वर्तमानं चैतन्यमिव यश्चायं श्रुतिलक्षणः आगमः अविच्छेदेन विच्छेदोऽप्रामाण्यम् अविच्छेदः प्रामाण्यम् तेन स्वतः प्रमाणतया वर्तते तम् स्वतः प्रमाणमागमम् उपासीनः आगमानुरोधेन प्रवर्तमानः हेतुवादैः तार्किकवादैः, न बाध्यते न्याय्यात्पथो न विचाल्यते इत्यर्थः॥

जैसे अविच्छेद रूपसे (स्वयं प्रकाश) चैतन्य वर्तमान है। वैसे यह वेदरूपी आगम भी अविच्छेदरूपसे (स्वतः प्रामाण्यसे) युक्त है। ऐसे स्वतःप्रमाण आगमों पर विश्वास करनेवाले लोग तर्कवादसे विचलित होकर आगमसे विश्वास नहीं खो बैठते।

एतदुक्तं भवति यथा विज्ञाने जाते कश्चिदपि जानामि नवेति न संदिग्धे न जानामीति वा न विपर्यस्यति अतः विज्ञानं स्वप्रकाशमास्थीयते इति न तत्प्रकाशायानुव्यवसायो[1] ज्ञाततालिङ्गकानुमितिर्वापेक्ष्यते एवं आगमेऽपि कश्चिदपि 'आगमः प्रमाणं न वे'ति न संदिग्धे 'न प्रमाणमि'ति वा न विपर्यस्यति अतः आगमः स्वतः प्रमाणमित्यास्थीयते इति न तत्प्रामाण्याय तर्कादिकमपेक्ष्यते इति आगमोऽनपेक्षतया तर्कादिभ्यो बलवानिति तर्काबाध्य इति॥

यद्वा चैतन्यमिव यथा कश्चिदपि अहमस्मीति प्रत्ययानुगते अनादिचैतन्यरूपे आत्मनि 'अहं वा नाहं वा' इति न संदिग्धे न च 'नाहमेव' इति विपर्यस्यति तथा योऽयं श्रुतिस्मृतिलक्षणः आगमः अविच्छेदेन अनादिशिष्टपरम्परया वर्तते प्रमाणमेवेति स्वीक्रियते न च तत्र कश्चिदपि 'प्रमाणं न वा' इति सन्दिग्धे न च 'अप्रमाणमेव' इति विपर्यस्यति किं बहुना येऽपि भिन्नाः प्रवादिनस्तेऽपि कार्याकार्य-

१. मुरारिमिश्राणां मते ज्ञानमनुव्यवसायेन गृह्यते। भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तया ज्ञानमनुमीयते। वेदान्तिनस्तु ज्ञानं स्वप्रकाशमातिष्ठन्ते तन्मतेनेदमिति ध्येयम्।

भक्ष्याभक्ष्यागम्यागम्यादिषु अहिंसादयादानब्रह्मचर्यतपःसत्यवदनप्रभृतिषु च यमा-गममुपजीव्यैव प्रवर्तन्ते न हि तेषां कार्याकार्यादिनिर्णयः स्वागममूलः स्वागमस्य अतीन्द्रियार्थादर्शिपुरुषबुद्धिप्रभवत्वेनाप्रमाणत्वात् तं सर्ववादिभिरुपसेवितमागमम्, उपासीनः आश्रितः हेतुवादैः तार्किकवादैः न बाध्यते न न्याय्यात्पथो विचाल्यत इत्यर्थः ॥

अथवा—जैसे 'मैं हूँ' इस ज्ञानके बाद 'यह मैं हूँ या नहीं' यह सन्देह नहीं होता और 'मैं नहीं हूँ' इस तरह उलटा ज्ञान भी नहीं होता। वैसे यह श्रुतिस्मृतिरूपी आगम अनादि परम्परासे प्रमाणरूपमें स्वीकृत हैं और इसके प्रामाण्यके बारेमें न तो किसीको सन्देह है और न तो अप्रामाण्यरूप उलटा ज्ञान ही है। इस तरह सब लोगोंके द्वारा स्वीकृत आगमपर विश्वास करनेवाले लोग तार्किकवादोंके द्वारा न्यायमार्गसे विचलित भी नहीं किए जा सकते हैं।

तात्पर्य यह हैं कि आगम भी तर्कसे प्रबल है ॥ ४१ ॥

स्पष्टीकृतश्चायमर्थो न्यायमञ्जर्याम् तद्यथा—'चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यरूपश्चैष महाजनो वेदपथप्रवृत्तः आगमान्तरवादिभिरप्यप्रत्याख्येय एव। तथा चैते बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चाण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति निरस्ते हि जातिवादावलेपे क्व चाण्डालादिस्पर्शे दोषः······ईदृशश्चायमनन्यसामान्यविभवो महाभागो वेदनामा ग्रन्थराशिः यदन्ये बाह्यागमवादिन एवमेनं स्पर्धन्ते ते स्वागमप्रामाण्यमभिवदन्तो वेदरीत्याभिदधति। वेदे यथा तथा प्रवेष्टुमीहन्ते वैदिकानर्थानन्तरान्तरा स्वागमेषु निबध्नन्ति वेदस्पर्शपूतमिवात्मानं मन्यन्ते तेषामप्यन्तर्हृदये ज्वलतीव (वेद) प्रामाण्यम्' इति ॥ ४१ ॥ आ॰ लो॰

तदेवमागमस्य तर्काद्बलवत्त्वमुक्त्वा आगमानपेक्षादनुमानाद्धर्माधर्मादिविषये प्रवर्तमानस्य दण्डमाह—

और धर्म-अधर्मका निर्णय भी केवल अनुमान के बलपर नहीं हो सकता। क्योंकि—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥ ४२ ॥

विषमे दुर्गमे पथि गिरिमार्गे चक्षुष्मन्तं नेतारमन्तरेण हस्तस्पर्शात् कञ्चिन्मार्गैकदेशं हस्तस्पर्शेनावगम्य तत्प्रत्ययादपरमपि मार्गैकदेशं धावता त्वरया गच्छता अन्धेन इव विषमे प्रत्यक्षानुमानाभ्यामसंवेद्ये पथि दृष्टादृष्टफले कर्मणि आगमं नेतारमन्तरेण एकदेशं केवलेनानुमानेन प्रतीत्य स्थालीपुलाकन्यायेन एकदेशान्तरमपि तत्प्रत्ययात् धावता त्वरया आगममनपेक्ष्य प्रवर्तमानेन अनुमानं प्रधानं यस्य तेन अनुमानप्रधानेन विनिपातः पतनम् अपरत्र प्रत्यवायः न दुर्लभः अवश्यम्भावीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

जैसे विषम (दुर्गम) मार्गमें किसी आँखवालेकी सहायताके विना केवल हाथसे छूकर सर्वत्र समतल भूमिका अनुमानकर अन्धा व्यक्ति दौड़ता है और बिना गिरे नहीं बचता। वैसे अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे न जानने योग्य दृष्ट और अदृष्ट फल देनेवाले कर्ममें आगमरूपी

सहायकके विना अनुमानके आधार पर कार्य करनेवाले व्यक्तिका पतन दुर्लभ नहीं है ॥ ४२ ॥

'न चागमादृते' इत्यारभ्य एतावता प्रवन्धेन धर्माधर्मयोस्तर्कागम्यत्वमार्षज्ञानस्य च आगमपूर्वकत्वमुपपाद्य धर्माधर्मयोरागमैकवेद्यत्वमुपसंहरति—

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम् ।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ॥ ४३ ॥

तस्मात् तर्कस्याव्यवस्थितत्वेन आर्षज्ञानस्य चागमपूर्वकत्वेन धर्माधर्मयोरागमैकवेद्यत्वात् अकृतकम् अपौरुषेयं शास्त्रं पुरुषहितोपदेशाय प्रवृत्तमाम्नायं निवध्यतेऽनेनेति निवन्धनं मूलं तेन सहितां सनिवन्धनां शिष्टपरम्पराचरणानुगृहीतां 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इत्यादिरूपां स्मृतिं च आश्रित्य प्रमाणीकृत्य शिष्टैः पाणिन्यादिभिः शब्दानामनुशासनमारभ्यते क्रियते इत्यर्थः ॥

अयं भावः शब्दानुशासनमारभमाणाः पाणिन्यादयः अनादिप्रवृत्तं व्याकरणागममुपजीव्यैवारभन्ते अत एव शाकल्यस्य शाकटायनस्य इति पूर्वागमस्मर्तॄन् स्मरन्ति तेऽपि हि स्वपूर्वान् स्मर्तॄन् इति अनादिप्रवृत्तव्याकरणागमूलभूतश्रुतिमूलक एव साध्वसाधुप्रविभाग इति 'तस्मान्निबध्यते पूर्वैः साधुत्वविषया स्मृतिः' इति यदुक्तं तदुपपन्नमिति ॥ ४३ ॥

इसलिए अपौरुषेय शास्त्र और शिष्टाचार परम्परासे स्वीकृत स्मृतियोंको प्रमाण मानकर पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि आदि शिष्टमहर्षियोंने शब्दानुशासन (व्याकरण-शास्त्र) का निर्माण किया है ॥ ४३ ॥

(वाक्यपदीयकी इस कारिका तक व्याकरणशास्त्रके निर्माणका प्रयोजन कहा गया है और 'अथशब्दानुशासनम्' वाक्य की यह विस्तृत व्याख्या है। अब वाक्यपदीय ग्रन्थका आरम्भ विषयकी दृष्टिसे किया जा रहा है।)

लोके नदीघोषतन्त्रीशब्दकाकवाशितादौ, व्यवहर्तृषु, पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धे श्रोत्रेन्द्रियग्राह्ये ध्वनौ च शब्दशब्दप्रयोगात् शब्दशब्दस्य सामान्यशब्दतया प्रकरणादिकं विना विशेषेऽवस्थानासम्भवेन शब्दानुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे नदीघोषादीनामप्यनुशासनप्रसङ्ग इति इदानीमनुशासनकर्मीभूतं तपरसूत्रभाष्यादावुक्तं ध्वनिव्यङ्ग्यं शब्दविशेषमभिधातुमाह—

यद्यपि नदीकी हरहराहट, वीणाका नाद और कौवे की काँव काँव भी शब्द ही कही जाती है। तथापि इस व्याकरण शास्त्रमें हम उन शब्दोंका अनुशासन (साधुत्व) बतावेंगे—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ ४४ ॥

उपादीयते स्वरूपेऽध्यारोप्यते अर्थरूपतां विहाय स्वरूपमिव आपाद्यतेऽर्थो येन स उपादानः वाचकः शब्दस्तस्यार्थरूपेण रज्जोः सर्परूपेणेव विवर्तनाद्रज्जुरिव सर्पस्य अर्थस्य विवर्तोपादानं शब्दः, शब्दार्थयोः कार्यकारणभावादेव योऽर्थः स शब्दः या

शब्दः सोऽर्थ इति शब्दार्थयोस्तदात्म्यमिति ध्येयम्। ननु अग्नेर्ढगित्यादौ वाच्य-वाचकयोरुभयोरपि एकरूपतया नार्थरूपस्य शब्दे आरोप इति न तत्राग्निशब्दोऽग्नि-शब्दस्य विवर्तोपादानमिति तस्य उपादानशब्दपदेन ग्रहणं न स्यादिति चेदुच्यते द्वयोः शब्दयोर्भेदमारोप्य संज्ञासंज्ञिभावस्येव उपादानोपादेयभावस्य स्वीकार इत्य-दोषात्। यद्वा उपादीयतेऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्या उपादानशब्दोऽत्र बोधकपर एव न विवर्तोपादानपर इति न क्षतिः इति॥

तथा च उपादानशब्देषु वाचकशब्देषु उच्चारणेन प्रकाशनीयेषु द्वौ शब्दौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकरूपौ लक्ष्येते इति शब्दविदो वैयाकरणाः विदुः। शब्दद्वयाङ्गीकारे किंमानमिति चेत् शब्दस्वरूपावधारणरूपम् अर्थावधारणरूपं च कार्यद्वयमेव तदङ्गी-कारे मानमित्याह—एक इति। एकः स्फोटस्य (यत्र निलीय स्थिताः येनानु-गृहीताः श्रूयमाणाः पर्यायाः शब्दाः अर्थं प्रतिपद्यन्ते सः) शब्दानां वैखरीरूपाणां निमित्तम्। अयं भावः—श्रूयमाणशब्दानां न वाचकत्वं किन्तु तदभिव्यङ्ग्यस्फोट-स्यैवेति स्फोटव्यञ्जकत्वादेव अर्थविवक्षया प्रयोक्ता शब्दान् वैखरीरूपान् प्रयुङ्क्ते इति स्फोटः एषां शब्दानां निमित्तमध्ययनेन वसतीत्यादौ फलस्यापि हेतुत्वदर्शनादिति, अपरः स्थानवाय्वभिघातरूपात्करणव्यापारात् श्रोत्रानुपाती वैखरीरूपः अर्थे प्रयुज्यते अर्थबोधेच्छया स्फोटप्रकाशनाय उच्चार्यते। यद्वा एकः करणव्या-पाराद्रुपजातक्रमः वैखरीरूपः श्रोतृबुद्धिस्थस्य अक्रमस्य प्रत्यायकस्य निमित्तम् तदुपायत्वात्तस्य, अपरः श्रोतृबुद्धिस्थः अक्रमः स्फोटः अर्थे अर्थबोधाय प्रयुज्यते, उपस्थाप्यते तत्रैव प्रत्याय्यप्रत्यायकशक्तेरवस्थानादित्यर्थः॥

जो उपादान (वाचक) शब्द वैय्याकरणोंके द्वारा व्यङ्ग्य और व्यञ्जकके रूपमें माना गया है। जिसमें एक स्फोट रूपी शब्द जो वैखरीका निमित्त (कारण) है और दूसरा वैखरी रूपी शब्द जो अर्थबोधकी इच्छासे उच्चारित होता है।

अथवा जो उपादान (वाचक) शब्द वैय्याकरणोंके द्वारा व्यङ्ग्य और व्यञ्जकके रूपमें माना गया है। जिसमें एक (वैखरी रूप) स्फोटका निमित्त है और दूसरा वह है जो श्रोताओंकी बुद्धिमें स्थित अक्रम स्फोट है और अर्थबोधके लिए उपस्थित होता है।

यदाहुः सङ्ग्रहकाराः—

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति॥

अविभक्तोऽक्रमः श्रोतृबुद्धिस्थः विभक्तेभ्यः क्रमवद्भ्यो वर्णेभ्यः वैखरीरूपेभ्यः अभिव्यक्तः अर्थस्य वाचको जायते तत्र बुद्धौ अर्थरूपात्मा शब्दः सम्भेदं तादात्म्य-मुपगच्छति बौद्धशब्दार्थयोस्तादात्म्यमिति बौद्धेनैव शब्देनार्थप्रतीतिरिति भावः।

एतदेव तपरसूत्रे भाष्ये उक्तम्—

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥

अत्र कैयटः 'ध्वनिः स्फोटश्च व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्च स्त इति शेषः, शब्दानां व्यङ्ग्यानां सम्बन्धी व्यञ्जको यो ध्वनिः स एव महानल्पश्च लक्ष्यते व्यङ्ग्यस्त्व-भिन्नकाल एव, उभयं—व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्च प्रमाणेन स्वभावतः—स्वरूपेण सिद्धौ केषांचित् व्यक्तानामुभयं गृह्यते अव्यक्तानां तु ध्वनिरेव' इति। एतदेव 'एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुण' इति भाष्येणाप्युक्तम् 'शब्दगुणः—उपकारको व्यञ्ज-कत्वेनेत्यर्थः इति कैयटः। ध्वनिः—वर्णा वैकृतध्वनिश्च, वैकृतध्वनेरप्युपलब्धिपौनः पुन्यकारणत्वात् व्यञ्जकत्वम् 'व्यञ्जकत्वेनेति—स्फोटोपलब्धिप्रतिबन्धकस्तिमितवाय्व-पसारणद्वारा स्वधर्मरूपिततदुपलब्धिहेतुत्वेनेत्यर्थः' इत्युद्योतः। ध्वनिपदेन वैखरी, स्फोटपदेनाभिव्यक्तकत्वादिक आन्तरः शब्दः। ध्वनिस्तु इत्यस्य वैकृतध्वनिस्तु इत्यर्थः॥

ये दोनों अर्थ परस्पर भिन्न नहीं हैं। प्रथम अर्थमें अक्रम स्फोट निमित्त और सक्रम वैखरी प्रतिपादक माना गया है। इनका अभिप्राय प्रयोक्ता से है। क्योंकि वक्ताकी बुद्धिमें स्थित अक्रम स्फोट है। वह जब बोलता है तो अक्रम स्फोटसे वैखरी रूपी सक्रम स्फोट उत्पन्न करता है।

दूसरा मत वैखरीको निमित्त और अक्रम (स्फोट) को प्रतिपादक मानता है। इनका अभिप्राय श्रोतासे है। क्योंकि श्रोता पहले वैखरी वाणीसे शब्द सुनता है फिर बुद्धिमें अक्रम स्फोटसे वही अर्थरूपमें समझता है। तात्पर्य यही है कि जिससे प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है वह निमित्त है और जिससे बादमें ज्ञान होता है वह प्रतिपादक है। वक्ता पहले मनमें सोचकर बोलता है इसलिए प्रथम अर्थ उसके पक्षमें है। श्रोता सुनकर समझता है अतः दूसरा अर्थ उसके पक्षमें है॥ ४४॥

व्यङ्ग्यव्यञ्जकशब्दयोर्भेदमाह—

इस प्रकार स्फोट व्यङ्ग्य और वैखरी व्यञ्जक सिद्ध होती है। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक शब्दोंके भेदके बारेमें विद्वानोंके दो मत हैं।

आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥ ४५॥

केचित् कार्यकारणयोर्भेदवादिनः[1] पुराणगाः पूर्वे स्मर्तारः तयोः निमि-त्तप्रतिपादकयोः स्फोटवैखर्योः आत्मभेदः स्वभावान्यत्वं भेद इति यावत् अस्ती-त्याहुः। एके कार्यकारणयोरभेदवादिनः[2] अभिन्नस्य एकस्यैव शब्दस्य बुद्धिभे-दात् स्फोटः मनोग्राह्यः वैखरी श्रोत्रग्राह्या इत्येवंरूपात् भेदं नानात्वं प्रचक्षते न स्वत इत्यर्थः॥ ४५॥

उनमें एक कार्यकारणमें भेद माननेवाले प्राचीन लोग हैं। जो स्फोट और वैखरीमें स्वभावभेद होनेसे भेद मानते हैं। और दूसरे कार्य और कारणमें अभेद माननेवाले हैं। वे एकही स्फोटके बुद्धि-भेद होनेके कारण भेद मानते हैं।

१. कपालेन जलाहरणादिरूपकार्यस्यासंभवः घटेन तस्य संभवश्च तयोर्भेदे बीजम्।
२. मृद्घट इति समानाधिकरण्येन प्रतीतिस्तयोरभेदे बीजम्।

जो भेद वादी हैं वे घटके कारण कपालमें पानी भरनेकी शक्ति न रहने परभी कार्य घटमें उस शक्तिको देखकर कार्यकारणमें परस्पर भेद मानते हैं। और इसे स्वाभाविक भेद कहते हैं।

और जो अभेद वादी हैं वे 'मिट्टी का घड़ा' इस वाक्यमें मिट्टी और घड़े में भेद नहीं मानते। इनके मतसे एकही शब्द बुद्धि भेदसे भिन्न-भिन्न माना गया है। जैसे मनोग्राह्य स्फोट और श्रोत्रग्राह्य वैखरी ॥ ४५ ॥

'तत्रैको निमित्तं शब्दानाम्' इति यः स्फोटवैखर्योः कार्यकारणभाव उक्तस्त-मुपपादयति—

स्फोट और वैखरीके अभेद पक्षमें भी कार्यकारण भाव बना रहता है।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥ ४६ ॥

अरणिस्थं निघर्षणात्प्राक् काष्ठान्तः स्थितं अविवृत्तं ज्योतिः यथा विवर्त-काले प्रकाशान्तरकारणं प्रकाशान्तरस्य उद्बुद्धस्य वह्नेः कारणमुपादानं भवति तद्वत् तथा बुद्धिस्थः बुद्धिरन्तःकरणं तत्र भिन्नशब्दबीजरूपेणावस्थितः तदवच्छि-न्नहृदयाकाशदेशस्थ इत्यर्थः, हृदयदेशे बुद्धिविषयीकृत इति यावत्। 'तेनाकाशदेशः शब्द' इति भाष्येण न विरोधः। शब्दः अविवृत्तः अक्रमः स्फोटोऽपि अर्थबोध-नेच्छया स्थानकरणाद्यनुगृहीतः विवर्तकाले पौर्वापर्यवानुपलभ्यमानः पृथक् भिन्नानां श्रूयन्त इति श्रुतयस्तासां श्रुतीनां भिन्नभिन्नघटपटादिशब्दानां कारणं भवति इत्यर्थः॥

जैसे अरणि (काष्ठ) में रहनेवाली ज्योति (अग्नि) जब मथनके बाद प्रकट होती है। तब दाहक अग्निका कारण हो जाती है। वैसे बुद्धि (अन्तःकरण) में स्थित शब्द (अक्रम स्फोट) भी अर्थबोधकी इच्छासे क्रमसे प्रकट होकर भिन्न भिन्न श्रुतियों (शब्दों) का कारण माना जाता है।

अयं भावः यथा बीजावस्थमविवृत्तं ज्योतिरुत्तरेण प्रकाशात्मनाऽभिज्वलितं स्वरूपपररूपप्रतिपत्तिकारणं भवति एवं वक्तृबुद्धिस्थः स्फोटः वक्तृप्रयत्नाभिव्यङ्ग्य-ध्वनिरूपरूषितः परश्रवणगोचरो भवति स च परेण श्रुतः तद्बुद्धिस्थं स्फोटमभि-व्यनक्ति ततोऽर्थबोध इति व्यञ्जकध्वनिभेदानुपातेन पौर्वापर्यवानुपलभ्यमानः स्फोटः स्वरूपपररूपयोः प्रकाशको भवति इति प्रकाश्यप्रकाशभावमूलक एव वैखरी-स्फोटयोः कार्यकारणभाव इति ॥ ४६ ॥

अरणीमें आग बीजरूपमें है। वह मन्थनके बाद प्रकट होकर प्रकाशक आग बन जाती है और प्रकाश करती है। इसी तरह वक्ताकी बुद्धिमें वक्ताके प्रयत्नसे ध्वनि बनता है और श्रोताके कानों तक पहुँचकर उसकी बुद्धिमें स्थित स्फोटको अभिव्यक्त करता है तब अर्थज्ञान होता है। इस लिए स्फोट ही अपना और वैखरीका प्रकाशक है ॥ ४६ ॥

स्फोटस्य बुद्धिस्थत्वं ध्वनिव्यङ्ग्यत्वं चोपपादयन् तस्यैकत्वेऽपि घटध्वन्यभिव्य-क्तिकाले न पटबोधकत्वमित्याह—

यह एक, बुद्धिस्थ और ध्वनिव्यङ्ग्य स्फोट एक ध्वनिसे दूसरी ध्वनिका बोधक नहीं होता। क्योंकि—

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः ।
कारणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥ ४७ ॥

पुरा उच्चारणात् प्राक् **बुद्ध्या** अन्तःकरणवृत्त्या योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः इत्येवंरूपाध्यासात्मकसङ्केतबुद्धिरूपया **वितर्कितः** विशिष्टेन अन्यव्यावृत्तेन रूपेण विषयीकृतः **क्वचिदर्थे** यस्मिन्नर्थे यादृशध्वन्यभिव्यक्तस्य स्फोटरूपस्य शब्दस्याध्यासस्तस्मिन् **निवेशितः** तत्तादात्म्यापन्नः यः शब्दः **सः** तद्बोधनेच्छया कारणेभ्यः स्थानप्रयत्नेभ्यः **विवृत्तेन** सूक्ष्मे ध्वनौ कारणव्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन **ध्वनिना अनुगृह्यते** अविक्रियाधर्मकोऽपि विक्रियाधर्माणं ध्वनिमनु ध्वनिधर्मेण कत्वगत्वादिना भासते इत्यर्थः । तथा च घटध्वन्यभिव्यक्तस्फोटस्य पटध्वन्यभिव्यक्तस्फोटाद्भेदेन न घटध्वन्यभिव्यक्तस्य तस्य पटबोधकतेति भावः ॥

उच्चारणके पहले ही बुद्धि (अन्तःकरणकी वृत्ति) से शब्द और अर्थमें अभेदाध्यास कर किसी एक अर्थमें विचारा गया और उसी अर्थसे तादात्म्य प्राप्त शब्द (स्फोट) फिर बोध कराने की इच्छा से स्थान और प्रयत्नोंके द्वारा भासित होकर स्वयं अविकारी भी कत्व, गत्वरूप विकृतधर्मोंमें भासता है और घटध्वनिसे अभिव्यक्तस्फोट पटध्वनिसे अभिव्यक्तस्फोटसे भिन्न है अतः घटध्वनि पटका बोध नहीं कराता ॥ ४७ ॥

एतदुक्तं भवति—बौद्धस्य शब्दस्य बौद्धेनार्थेनाध्यासरूपात्सङ्केतात् बौद्धशब्दार्थयोस्तादात्म्यमुपगम्यते इति बौद्धे शब्दे अर्थबोधजनिका वाच्यवाचकभावरूपा शक्तिरस्तीत्यवगम्यते । तदुक्तं निरुक्तभाष्ये 'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य' इति प्रतीके [निरुक्तनिघण्टु १।१।२]' अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता परबोधनेच्छया पुरुषेणोदीर्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्यमाना बाह्याकाशदेशस्थं शब्दं स्वस्वरूपं कृत्वा श्रोत्रद्वारेण स्थितां श्रोतुर्बुद्धिमनुप्रविश्य सर्वार्थसर्वाभिधानरूपां तद्बुद्धिं व्याप्नोति पुरुषप्रयत्नजा वक्त्रोद्घाताः परं विनश्यन्ति न शब्दः स च तदनुरक्तोऽर्थप्रत्ययं जनयति इति तत्रत्यपदत्वादिकं वक्त्रोद्घातेष्वारोपयन्ति तद्गतनाशादि च तस्मिन् पुरुषबुद्ध्यवस्थस्यैव चार्थस्य प्रत्ययमादधाति शब्दः तेनैव तस्य सम्बन्धात्' इति । एवंच अभ्यासः तादात्म्यग्राहकः तादात्म्यं च शक्तिग्राहकमिति। प्रयोक्ता अर्थबोधनेच्छायां सत्यां यादृशध्वन्यभिव्यक्तस्य स्फोटरूपस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थे तादात्म्यं गृहीतवान् तदभिव्यञ्जनाय तादृशध्वनिं करोतीति तेन च ध्वनिना स्वरूपरूपितः स शब्दः अभिव्यज्यते ततः शक्तिविषयकसंस्कारे उद्बुद्धे शाब्दबोधो भवति। यथा घटादौ मृदाद्यात्मकत्वग्रहे मृदादौ घटाद्यभिव्यक्तिशक्तिर्गृह्यते तथा शब्दे बोधात्मकघटादितादात्म्यग्रहे बोधात्मकघटाद्यभिव्यक्तिशक्तिर्गृह्यते। एवंच बौद्धशब्दज्ञानाय ध्वनेर्जननात् बौद्धशब्दस्य ध्वनिनिमित्तत्वं ध्वनेश्च तत्प्रकाशकत्वमुपपन्नम् ।

तात्पर्य यह है कि बौद्ध शब्दका बौद्ध अर्थसे अध्यासरूपी संकेतके द्वारा बौद्धशब्द और बौद्ध अर्थमें तादात्म्य मानते हैं । इस प्रकार अध्यास तादात्म्य ग्राहक और तादात्म्य शक्ति-

ग्राहक है। फिर प्रयोक्ता अर्थ समझानेके लिए स्फोटरूप शब्दका जिस अर्थमें तादात्म्य गृहीत करता है उस प्रकारकी ध्वनि उसकी प्रतीतिके लिए करता है। उसी ध्वनिसे स्वरूपावस्थित शब्द अभिव्यक्त होता है और शक्तिविषयक संस्कारके उद्बुद्ध हो जाने पर शाब्दबोध होता है। जैसे घटको मिट्टीका रूप जाननेके बाद मिट्टीमें घटके अभिव्यक्ति की शक्ति मानते हैं। वैसे शब्दमें बोधात्मक घटसे तादात्म्य ग्रहण होने पर बोधात्मक घटाभिव्यक्तिशक्ति स्वीकारते हैं। इस प्रकार जब बौद्ध-शब्दके ज्ञानके लिए ध्वनि उत्पन्न हुई तब बौद्ध शब्दका ध्वनि निमित्त है और बौद्ध-शब्द ध्वनिका प्रकाशक है।

नन्वध्यासस्य सङ्केतरूपत्वे किम्मानमिति चेदुच्यते—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्रेषु, 'वृद्धिरादैच्' इत्यादौ व्याकरणे, 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इत्यादौ लोके, 'अमरा निर्जरा देवा' इत्यादौ कोशे च योऽयं शब्दः सोर्थः योऽर्थः स शब्दः इत्येवमितरेतराध्यासरूपस्य सङ्केतस्य दर्शनमेवेति गृहाण। न च ओमित्येकाक्षरमित्यादौ तत्तच्छब्दवाच्ये लक्षणेति न तेन शब्दार्थाध्याससिद्धिरिति वाच्यम्—लक्षणायां मानाभावात्। अत एव ईदृशानाद्यभेदारोपेणैवागमिनो मन्त्रार्थयोरभेदेनोपासनामामनन्ति। मीमांसकाश्च मन्त्रमयीं देवतामाचक्षते। ईदृश एव सङ्केतो मुख्यः। क्वचित्तु भेदं परिकल्प्य अस्यार्थस्यायं वाचक इत्यपि कदाचित् सङ्केतः यथा पाणिनेः 'कर्मणि द्वितीया' 'उञः' प्रगृह्यमित्यादिः॥

तदिदं बौद्धं स्फोटाख्यं नित्यमक्रमं निरंशं शब्दतत्त्वम् अन्त्यवर्णप्रत्ययरूपव्यापारेणाभिव्यक्तं परं प्रति प्रतिपिपादयिषया वक्तृभिरुच्यमानैः श्रोतृभिः श्रूयमाणैर्वर्णैरुपरागादनादिवाग्व्यवहारवासनावशीकृतया लोकबुद्ध्या परमार्थवदन्योन्याभेदेन सङ्केतेन प्रतीयते न तु तदतिरिक्तरूपेण। यद्यपि लाक्षाद्युपाधेरपगमे स्फटिकः स्वच्छधवलोऽनुभूयते उपाधिं विनापि प्रकाशात् अस्य तूपाधिव्यतिरेकेण प्रतीत्यभावान्न केवलस्य प्रत्ययः यथा राहोश्चन्द्रव्यतिरेकेणेति॥ ४७॥

नन्वेवं स्फोटो नाना स्यादित्याशङ्क्य औपाधिकं भेदमुपपादयन् बुद्धिस्थस्य शब्दस्य स्वरूपमाह—

नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च स।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥ ४८॥

यद्यपि सः बुद्धिस्थः नादव्यङ्ग्यः स्फोटाख्यः शब्दः न पूर्वो नापरश्च चो हेतौ यतः पूर्वापरीभावरहितः अतः अक्रमः तथापि नादस्य स्फोटाभिव्यञ्जकध्वनेः वैखर्याः क्रमेण जन्म यस्य तत्त्वात् क्रमजन्मत्वात् ध्वनिकारणीभूतैः क्रमवद्भिः स्थानकरणाभिघातैः जायमानस्य ध्वनेरपि क्रमवत्त्वेन तद्गतेन क्रमरूपेण भेदवानिव सक्रमो भिन्न इव जायते भवति भासते इति यावत्। न तु स्वतस्तस्य वास्तवः क्रमो भेदश्चास्ति नित्यत्वैकत्वाभ्यां विरोधात्। ततश्च घटध्वन्यभिव्यक्तात्स्फोटात् घटरूपार्थस्य बोधः न तु पटरूपार्थस्य घटध्वन्यभिव्यक्तस्फोटे घटरूपार्थस्यैव तादात्म्येन तत्रैव तच्छक्तेः स्वीकारादिति भावः॥ ४८॥

(यद्यपि बुद्धिस्थ नाद व्यंग्य स्फोट रूपी शब्द) न पूर्व है और न तो अपर है किन्तु पूर्वापरीभावरहित है (अतः) अक्रम है। तथापि स्फोटको व्यक्त करनेवाले नादकी उत्पत्ति क्रमसे होती है इसीलिए स्फोट भी सक्रमकी तरह भासित होता है ॥ ४८ ॥

अन्यधर्मस्यान्यत्र भानं दृष्टान्तेनोपपादयति—

यद्यपि दूसरेका धर्म दूसरी वस्तुमें नहीं प्रतीत होना चाहिए यह कहा जा सकता है। तथापि ठीक नहीं। क्योंकि एक दूसरेके भी धर्म दूसरेमें प्रतीत होते हैं।

प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ॥ ४९ ॥

यथा अन्यत्र तोये स्थितं भासमानं प्रतिबिम्बं चन्द्रप्रतिबिम्बं वस्तुतोऽक्रियमपि तोयक्रियावशात् तत्प्रवृत्तिं जलक्रियां चाञ्चल्यमन्वेति अनुगच्छति स स्फोटनादयोः धर्मः सादृश्यम् नादवर्तिनं क्रमं कत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वादिकञ्च अतथाभूतोऽपि स्फोटोऽनुगच्छतीत्यर्थः ॥

जैसे जलमें झलकता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब स्वयं नहीं हिलता किन्तु जलके हिलनेसे हिलता हुआ प्रतीत होता है। वैसे नादके धर्म (सादृश्य और नादमें रहनेवाले क्रम जैसे ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, कत्व, गत्व आदि) स्फोटके धर्म न होने पर भी स्फोटके धर्मकी तरह प्रतीत होने लगते हैं।

अयं भावः जलगतं हि चन्द्रबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवंधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः चन्द्रस्य तथात्वम्। एवं परमार्थतोऽक्रमपि एकरूपमपि शब्दत्वं ध्वन्युपाध्यन्तर्भावात् भजत इवोपाधिधर्मान्क्रमकत्वादीनिति।

अत्र दर्शनद्वयम् चन्द्रबिम्बसन्निधाने तच्छायोपरक्तास्तोयावयवाश्चन्द्रप्रतिबिम्बमित्येकम्[1]। अत्र पक्षे तोयक्रिययैव तोयावयवाश्चन्द्रप्रतिबिम्बरूपाः क्रियावन्तोऽवभासन्ते न वस्तुतस्तोयावयवेषु क्रियास्ति तथा सति अवयवविभागपूर्वकोऽवयविनाशः स्यात्। तोयभिन्नं चन्द्रप्रतिबिम्बमित्यपरम्। तत्र च मतद्वयम् स्वदेशस्थमेव चन्द्रप्रतिबिम्बं जलादिस्वच्छद्रव्योपाधिसन्निधानरूपात् दोषात् उपाध्यन्तर्गतत्वेन भासते बिम्बमेव प्रतिबिम्बमित्येकम्, तीये[2] बिम्बसन्निधावनिर्वचनीयं मिथ्याभूतं चन्द्रप्रतिबिम्बं शुक्तिरजतमिवोत्पद्यते इति परम्, मतद्वयेऽपि तोयादन्यदेव प्रतिबिम्बमिति सुतरां प्रतिबिम्बमक्रियमिति बोध्यम् ॥ ४९ ॥

प्रतिबिम्ब के बारेमें दार्शनिकोंके दो मत हैं. एक मत यह है कि पानीमें चन्द्रमाकी छायासे सम्बद्ध जलके अवयव ही प्रतिबिम्ब है। इनके मतमें जलकी क्रियासे जलके अवयवरूपी चन्द्रप्रतिबिम्ब क्रियावान् मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः जलावयवमें क्रिया नहीं है। अन्यथा जलावयवोंमें क्रिया, क्रियासे विभाग और जलका नाश हो जाता है।

१. इदं पञ्चपादिकाविवरणकर्तां मतम्।
२. इदं चाद्वैतविद्याकृतां मतम्। मतद्वयं शास्त्रसिद्धान्तलेशे निरूपितम्।

दूसरा मत यह है कि जलसे भिन्न किन्तु अनिर्वचनीय और मिथ्या शुक्तिमें रजतकी भाँति जलमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है।

इन दोनों मतोंसे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि जलसे प्रतिबिम्ब भिन्न है और क्रिया रहित है। अतः अन्यके धर्मभी अन्यमें प्रतीत होते हैं यह सिद्ध होता है ॥ ४९ ॥

स्फोटरूपस्य शब्दस्य अर्थप्रकाशत्वमिव स्वप्रकाशत्वमाह—

यह स्फोटरूपी शब्द,

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥ ५० ॥

निर्विषयकस्य ज्ञानस्याभावात् ज्ञानं ज्ञेयपरतन्त्रमिति **यथा ज्ञाने** जाते **ज्ञेयरूपं** घटादिकं तद्विशेषणतया **आत्मरूपं** ज्ञानरूपं **च** 'ज्ञातो घट' इतिप्रतीतौ **दृश्यते** प्रतीयते **तथा** अर्थबोधनेच्छया शब्दप्रयोगात् शब्दः अर्थपरतन्त्रमिति **शब्दे** श्रूयमाणे **अर्थरूपं** घटादि तद्विशेषणतया **स्वरूपं** शब्दरूपं **च** 'घटशब्दबोध्यो घटः' 'युधिष्ठिरशब्दवाच्यः कश्चिदासीत्' इति प्रतीतौ **प्रकाशते** शब्दानालिङ्गितप्रत्ययस्यानभ्युपगमादिति भावः। लोके शब्दे भुज्यादिक्रियाबाधादर्थविशेषणतया व्याकरणे तु अर्थात्परत्वस्य प्रत्यये बाधादर्थविशेष्यतया शब्दस्य भानमिति मन्तव्यम् ॥ ५० ॥

जैसे 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीतिमें (ज्ञान में) ज्ञेयरूप (घट) और उसका विशेषण आत्मरूप (ज्ञानरूप) प्रतीत होता है। वैसे 'घटशब्द बोध्यो घटः' इस ज्ञानमें भी अर्थरूप (घटरूप) और उसका विशेषण स्वरूप (शब्दरूप) भी प्रकाशित होता है।

क्योंकि जैसे कोई भी ज्ञान निर्विषयक नहीं होता किन्तु ज्ञेयके अधीन ही रहता है वैसे शब्द भी अर्थ समझानेके लिए ही प्रयुक्त होता है और अर्थके अधीन रहता है। लोक और शास्त्रमें कुछ विशेषता रहती है। जैसे लोकमें 'भुनक्ति' इस पदमें भोजन क्रिया शब्दकी नहीं हो सकती अतः अर्थमें उसका विशेषण तथा अन्वय होता है। और व्याकरणमें अर्थ (घट) से परे प्रत्यय हो नहीं सकता अतः घट शब्दके आगे ही प्रत्यय होनेकी व्यवस्था भी है ॥ ५० ॥

यदुक्तमेको निमित्तमपरः प्रतिपादक इति तदुदाहरणेन स्पष्टयति—

वह ही निमित्त और प्रतिपादक भी है। (४४ वीं कारिकामें यह बताया गया है।) किन्तु यहाँ दो पक्ष हैं। एक तो यह है कि अक्रम निमित्त और सक्रम प्रतिपादक है। दूसरा मत यह है कि सक्रम निमित्त और अक्रम प्रतिपादक है। जिसमें प्रथम पक्ष वालोंका मत है कि—

आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम् ॥ ५१ ॥

---

१. यदाहुः चित्सुखाचार्याः 'अनुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदीयात्, न च कश्चित् 'अमुमाद्राक्षीन्नो वा भवान्' इति पृष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थव्यवहारं जनयतीति युक्तम्' इति।

यः शब्दसंज्ञकः लोके शब्द इति प्रसिद्धः बाह्यः श्रोत्रानुपाती वर्णरूपावयववान् सक्रमः शब्दः क्रतुः ज्ञानमिवार्थमनतिक्रामन् क्रतुसदृशः 'यत्क्रतुः पुरुषः' इत्यादौ ज्ञाने क्रतुशब्दप्रयोगात् अण्डे भवः आण्डो रसस्तस्य भावः आण्डभावः रसरूपता तम् आण्डभावम् आपन्न इव वर्तते तस्य क्रियारूपा आविर्भावतिरोभावरूपा वृत्तिः भागशः अवयवेषु क्रमं भजते इत्यर्थः ॥

जो लोगोंके कानतक क्रमसे सुनाई पड़ता है वह शब्द नामका क्रतु (ज्ञान) मयूर पक्षीके अण्डेमें स्थित कलल (रस) की तरह है। उसकी क्रियारूप (प्रकट और तिरोहित होनेवाली) वृत्ति अवयवोंमें क्रमसे प्रकट होती हैं।

एतदुक्तं भवति—यथा मयूरादयः अङ्गप्रत्यङ्गचन्द्रकादीनामुपसंहारेण लीयमानाः सूक्ष्मरूपेण तदुत्पादनशक्त्या सह रसभावमापन्ना अण्डे समवतिष्ठन्ते पुनश्च अण्डात्तथैवाविर्भवन्ति। एवं वैखरीरूपः वर्णरूपावयववान् सक्रमः शब्दः अवयवानुपसंहरन् अक्रमान्तरशब्दरूपतामापद्यमानः अन्तः करणे समवतिष्ठते पुनः अर्थबोधनेच्छायां सत्यां तत आविर्भवन् सावयवः सक्रमः आविर्भवति इति ॥

इदमत्र बोध्यम्—'द्वावुपादानशब्देषु' इति कारिकायामेकस्य निमित्तत्वमपरस्य प्रतिपादकत्वमुक्तम्। तत्र च मतद्वयम्—अक्रमो निमित्तम् सक्रमः प्रतिपादकः इत्येकम्, सक्रमो निमित्तमक्रमः प्रतिपादकः इत्यपरम्, तत्रादिमं प्रयोक्त्रभिप्रायेण-प्रयोक्ता हि स्वान्तःस्थं शब्दं बहिः प्रकाशयन् सक्रमं करोतीति बुद्धिस्थोऽक्रमः प्राग्भावित्वात् सक्रमस्य निमित्तम्। द्वितीयं तु श्रोत्रभिप्रायेण श्रोत्रा हि श्रुतेन सक्रमेण आन्तरमक्रमं पश्चाद्बुध्यते इति पूर्वभावितया सक्रमो निमित्तमक्रमस्य इति ॥ ५१ ॥

तात्पर्य यह है कि जैसे मयूरके प्रत्येक अवयवोंके गुण सूक्ष्मरूपसे रसके रूपमें अण्डेमें रहते हैं और फिर बच्चा बनने पर अपना रूप प्रकट कर देते हैं। वैसे ही वैखरी रूपी सक्रम शब्द अपने अवयवों को समेटकर अन्तःकरणमें अक्रमरूपसे स्थिर हो जाता है और जब अर्थको समझानेकी इच्छा होती है तब पुनः सक्रम सावयव शब्द प्रकट होता है ॥ ५१ ॥

उदाहरणान्तरमाह—

और दूसरा पक्ष है कि—

x **यथैकबुद्धिविषया[1] मूर्तिराक्रियते पटे।**
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ॥ ५२ ॥

सूक्ष्म स्फोटमें अक्रम शब्दाकार दोनों को

यथा पूर्वं सावयवा पुरुषमूर्तिरवयवक्रमेण विज्ञाता पश्चात् एकबुद्धिविषया एकबुद्धिविषयीकृता मूर्त्यन्तरस्य पुरुषस्य मूर्तिः पटे आक्रियते क्रमेण आकारवती क्रियते एवं त्रितयं पूर्वं सक्रमत्वं ततोऽक्रमत्वं पुनः सक्रमत्वं शब्देऽपि दृश्यते ॥ यथा पूर्वं सक्रमा तत एकबुद्धिविषयीभूता अक्रमा ततश्चित्रे सक्रमा पुरुषमूर्तिः

१. 'एकबुद्धिविषयः' इति युक्तः पाठो विषयशब्दस्य पुंस्त्वात् 'घञजपः पुंसि' इत्यस्य प्रायिकत्वे तु यथाश्रुतं साधु।

एवं बाह्यः शब्दः सक्रमस्ततोऽनुसंहारबुद्ध्या विषयीकृतः हृदयस्थः आन्तरः स्फोटः अक्रमः ततो बुबोधयिषया प्रयुक्तः सक्रमः नादरूपा वैखरी वाग् भवति इति स्फोटनादयोर्भेद इति भावः ॥ ५२ ॥

जैसे चित्रकार किसी पुरुष की मूर्त्ति बनानेके पहले क्रमसे उस व्यक्तिके प्रत्येक अवयवोंको देखता है और बुद्धिमें उसको एक व्यक्तिके रूपमें स्थिर कर लेता है किन्तु जब चित्र फलक पर चित्रका निर्माण करने लगता है तब फिर अवयवोंके क्रमसे ही मूर्त्तिका निर्माण करता है। वैसे यह तीन क्रम शब्द के विषयमें भी देखा गया है।

अर्थात् शब्द भी पहले सक्रम सुनाई पड़ता है फिर अक्रम रूपमें बुद्धिमें स्थिर होता है और बोलने की इच्छा होने पर सक्रम नादके रूपमें वैखरी वाग् प्रकट होती है। यही स्फोट और नादमें भेद है ॥ ५२ ॥

इदानीं शब्दस्य अर्थविशेषणतामाह—

हम यह बता चुके हैं कि अर्थके प्रति शब्द विशेषण हैं—

यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते ।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते ॥ ५३ ॥

यथा प्रयोक्तुः उच्चारयितुः प्राक् पूर्वं शब्देष्वेव बुद्धिः प्रवर्तते एवं ग्रहीतॄणां श्रोतॄणां व्यवसायो बुद्धिः प्राक् पूर्वं तेष्वेव शब्देष्वेव जायते इति। यथा प्रयोक्ता अर्थबुबोधयिषया शब्दविशेषविषयकं प्रयत्नं कुर्वन् स्पृशन्निव मनः प्रणिधत्ते तथा श्रोताऽपि अर्थबुभुत्सया शब्दान् श्रोतुं यत्नं कुर्वन् मनः प्रणिधत्ते इत्यर्थः। एवञ्च यथा घटत्वज्ञानपूर्विकायां व्यक्तिबुद्धौ घटत्वं प्रकारः एवं शब्दज्ञानपूर्विकायामर्थबुद्धौ शब्दः प्रकार इति अर्थप्रकारतया घटशब्दादेः घटमानयेत्यादौ भानमिति भावः ॥ ५३ ॥

जैसे किसी शब्दके उच्चारण करनेमें उच्चारणकर्ता की बुद्धि पहले शब्दों पर ही जाती है। वैसे उन शब्दोंको सुननेवाले लोग भी पहले शब्द ही सुनते हैं।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि जैसे किसी शब्द का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति जब किसी अर्थका बोध कराना चाहता है तब शब्दोंका स्पर्श करता हुआ सा मनको सचेत करता है। वैसे श्रोता भी अर्थ समझनेके लिए शब्दोंके सुननेका प्रयत्न करता हुआ मनको स्थिर करता है। इसी तरह जैसे घटत्व ज्ञान पूर्वक घट व्यक्तिके ज्ञानमें घटत्व विशेषण है। वैसे शब्दज्ञान पूर्वक अर्थज्ञानमें शब्द विशेषण है। अतः 'घटमानय' इत्यादि वाक्योंमें घट शब्दका बोध अर्थमें विशेषण के रूपमें ही होता है ॥ ५३ ॥

ननु शब्दस्य भानेऽर्थस्येव तस्य क्रियाङ्गता कुतो नेत्यत आह—

फिर भी अन्य विशेषणोंकी भाँति शब्द किसी क्रियासे अन्वित नहीं होता। क्योंकि—

अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित् ।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते ॥ ५४ ॥

परार्थत्वात् अर्थप्रतिपत्त्यर्थत्वात् केषुचित् अभिधेयेषु चरितार्थान्

अभिधेयं प्रतिपाद्य कृत्यकृत्यान् अत एव **अर्थोपसर्जनीभूतान्** अर्थविशेषणतापन्नान् **शब्दान् लोकः न प्रतिपद्यते** क्रियाङ्गत्वेन न जानाति 'एकत्र विशेषणतयाऽन्वितस्य अपरत्र विशेषणतयाऽन्वयायोग' इति न्यायादिति भावः ॥

शब्दसे अर्थज्ञानरूप परार्थ सिद्ध होता है। और किसी वस्तुका प्रतिपादन करके कृतकृत्य हो जाता है। इसलिए अर्थके विशेषण बने हुए शब्दोंको लोग क्रियाका अङ्ग नहीं मानते।

इदमत्रावधेयम्—विद्यमानत्वे सति इतरव्यावर्तकं विधेयान्वयि विशेषणम्। यथा दण्डिनमानय शुक्लं घटं पश्य इत्यत्र विधेयभूतानयनदर्शनक्रिययोः दण्डिघटयोरिव दण्डरूपयोरप्यन्वयः। यथा वा शुक्लं घटमानय इत्यादौ घटद्वारा शुक्लस्याप्यानयनान्वयः। अविद्यमानत्वेऽपीतरव्यावर्तकं विधेयानन्वयि उपलक्षणम्। यथा काकवद्देवदत्तस्य गृहम् इत्यादौ गृहे इव काके न देवदत्तसम्बन्धित्वरूपविधेयस्यान्वयः। एवं च उपलक्षणविधया अर्थशेषतां प्राप्तं शब्दं लोकः न क्रियाङ्गतां नयतीति ॥ ५४ ॥

विशेषण दो प्रकारका होता है। एक विशेषण दूसरा उपलक्षण। 'जो विद्यमान रहकर इतरका व्यावर्तक हो और विधेयसे अन्वित हो वह विशेषण है।' 'जैसे शुक्लं घटमानय' इस वाक्यमें आनयनरूपी क्रियाके साथ घटके द्वारा शुक्ल गुणका भी अन्वय होता है। और 'जो अविद्यमान रहकर इतरका व्यावर्तक हो और विधेयके साथ अन्वित न हो वह उपलक्षण होता है। जैसे 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' इस वाक्य में जैसे देवदत्त का अन्वय गृहपद में वैसे काक में अन्वय नहीं है। इसी प्रकार अर्थ का विशेषण शब्द भी उपलक्षण है और लोक उसे क्रिया में अन्वित नहीं मानता। नियम भी है कि 'एक स्थलमें जो विशेषण बनकर अन्वित हो वह अन्यत्र विशेषण बनकर अन्वित नहीं होता।' ॥ ५४ ॥

संज्ञासंज्ञिभावस्य भेदाधिष्ठानत्वात् 'स्वं रूप'मितिसूत्रबोधितः 'अग्न्यादिशब्दः अग्न्यादिशब्दस्य संज्ञा' इत्येवंरूपः संज्ञासंज्ञिभावोऽनुपपन्न इति एकस्यैव शब्दस्य उपाधिकृतभेदेन संज्ञासंज्ञिभावमुपपादयिष्यन्नुपाधी आह—

यद्यपि संज्ञा और संज्ञि को भिन्न भिन्न होना चाहिये तथापि अग्नि शब्द ही संज्ञा और संज्ञी दोनों है और उचित भी है। क्योंकि एकही शब्द उपाधि भेदसे संज्ञा और संज्ञी बन सकता है।

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते ॥ ५५ ॥

यथा तेजसः प्रदीपादेः ग्राह्यत्वं ज्ञानविषयत्वं ग्राहकत्वं घटादिविषयकज्ञानजनकत्वं च द्वे ग्राह्यत्वग्राहकत्वरूपे शक्ती स्तः तथैव सर्वशब्दानां एते ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्ती शक्तिशक्तिमतोरभेदात् नित्यमात्मभूते अपि पृथक् भिन्ने इव स्थिते प्रतिभासमाने स्त इत्यर्थः। शब्दः स्वं प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयतीति यावत्। यद्यपि घटे ग्राह्यत्वमेव न ग्राहकत्वम्, इन्द्रियेषु ग्राहकत्वमेव न ग्राह्यत्वं स्वभावादिति ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्त्योर्विरोध इव भासते तथापि प्रदीपे तयोः समावेशस्यापि दर्शनात् उ-

भयोरेकत्रावस्थानमविरुद्धमिति शब्दे ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्च स्वभावादिति तात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

जैसे दीपक अपने रूपको प्रकाशित करते हुए अन्य वस्तुओंका भी प्रकाशक होता है। क्योंकि उसमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दो शक्तियां है। वैसे शब्दों में भी ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दो शक्तियां है जो अलग अलग मालूम पड़ती हैं।

इस तरह शब्दमें दीपककी भांति शब्द और अर्थको प्रकाशित करने वाली शक्ति स्वाभावतः वर्तमान है ॥ ५५ ॥

ननु स्वरूपसत एव शब्दस्य बोधकत्वमस्तु न ज्ञातस्येत्यत आह—

यह शब्द एक होनेके कारण (स्वरूपतः) प्रकाशक नहीं होता किन्तु ज्ञान ही शब्द अर्थका प्रकाशक होता है। क्योंकि—

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैनार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ ५६ ॥

यतः ते शब्दाः अगृहीताः श्रोत्रेन्द्रियाविषयाः सन्तः सत्तयैव सत्तामात्रेण चक्षुरादयः इव अर्थानां न प्रकाशकाः न बोधकाः अतः विषयत्वम् ग्राह्यत्वम् अनापन्नैः अप्राप्तैः श्रोत्रेन्द्रियागृहीतैः शब्दैः अर्थो न प्रकाश्यते इति सम्बन्धः ॥ ५६

जो शब्द कानोंतक सुनाई नहीं पड़रहे हैं उनसे अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अतः जो शब्द कानोंसे नहीं सुने गए वे शब्द अर्थबोधक नहीं हो सकते ॥ ५६ ॥

अगृहीतस्य शब्दस्य बोधकत्वे बाधकमाह—

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते ।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा ॥ ५७ ॥

अतः गृहीतस्यैव शब्दस्य बोधकत्वात् यदा शब्दस्वरूपमनिर्ज्ञातं भवति तदा अनिर्ज्ञातरूपत्वात् न निर्ज्ञातं निर्धारितं रूपं यस्य तत्त्वात् अर्थबोधजनकशब्दस्वरूपप्रत्ययाभावात् अर्थप्रत्ययाभावेनार्थबोधजनकशब्दस्वरूपनिर्धारणाय किमाह इत्यभिधीयते पृच्छ्यते, यदि अनिर्ज्ञातमपि शब्दस्वरूपमर्थमवबोधयेत्तदा प्रयोक्त्रा उच्चारितं श्रोत्राऽश्रुतमपि बोधयेदिति 'किमाह' इति प्रश्नो व्यर्थ एव स्यादिति भावः। ननु यथा अर्थावबोधकारणं शब्दो गृहीत एवार्थबोधकः एवं इन्द्रियाण्यपि गृहीतान्येव कुतो नार्थमनवबोधयन्तीत्यत आह—इन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे तथा शब्द इव स्वरूपं न गृह्यते इति तानि सत्तयैवार्थप्रकाशकानि न ज्ञातानि शब्दस्तु नैवं वस्तुस्वभावादिति भावः ॥ ५७ ॥

अत एव जो शब्द ठीक रूपसे नहीं सुने जाते उनके विषयमें लोग पूछते हैं कि 'क्या कहा'। यह नियम इन्द्रियों के बारेमें नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रियां अपने स्वभाववश प्रकाश्य अर्थके विषयमें अपनी सत्तामात्र से अर्थका ज्ञान कर देती है ॥ ५७ ॥

'पृथगिव स्थिते' इत्यनेन शक्त्योर्भेद उक्तस्तस्य साम्प्रतमुपयोगमाह—

अतः एकही शब्द संज्ञा और संज्ञी भी बन सकता है। क्योंकि—

भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः ॥ ५८ ॥

द्वौ शब्दधर्मौ ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्ती यद्यपि शब्दस्वरूपभूते शक्तिशक्तिमतोरभेदात् तथापि अपोद्धृतौ अपोद्धारबुद्ध्या कल्पनया आरोपितभेदौ अतः भेदेनावगृहीतौ भिन्नतया ज्ञातौ भेदकार्येषु भेदाधिष्ठानेषु संज्ञासंज्ञिभावेषु अविरोधेन शब्दभेदमापाद्य विरोधविघटनद्वारा हेतुत्वं गच्छत इत्यर्थः ॥

अयं भावः—लोके देवदत्तशब्दस्य संज्ञात्वं पिण्डस्य च संज्ञित्वं दृष्टमिह तु 'स्वं रूप'मिति शास्त्रेण अग्निशब्दस्यैव संज्ञात्वं संज्ञित्वं च विरुद्धं कथं बोध्यत इति शङ्कापरिहाराय यथा राहोः शिर इत्यत्र षष्ठ्युपपादनाय एकस्मिन्नपि वस्तुनि अनेकावस्थायुक्तशिरसो राहुशब्दार्थत्वं यत्किञ्चिदेकावस्थायुक्तशिरशः शिरः शब्दार्थत्वं वाश्रित्य शब्दार्थभेदाद्भेदमाश्रित्यावयवावयविभावः एवं ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्तिरूपोपाधिकृतमेकस्मिन्नेवाग्निशब्दे भेदमाश्रित्य ग्राह्यत्वशक्तिमतोऽग्निशब्दस्य संज्ञित्वं ग्राहकत्वशक्तिमतोऽग्निशब्दस्य संज्ञात्वमिति औपाधिकभेदमादाय एकस्मिन्नपि अग्निशब्दे संज्ञासंज्ञिभावो न विरुध्यत इति ॥ ५८ ॥

जब शब्दमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व रूप धर्मों की कल्पना करही ली गई और भेदके रूपमें ज्ञात इन शब्दोंसे जहां भिन्न भिन्न कार्य करता है वहां भी एकही शब्दमें (राहोः शिरः) की भाँति औपाधिक भेद मानने पर विना विरोधके अनेक धर्मभी कारण बन सकते हैं ॥५८॥

एतदेव स्पष्टयति—

वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः ।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥५९॥
अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः ।
अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाभिधेयया ॥ ६० ॥

'वृद्धिरादैच्' इत्यादौ यथा वृद्ध्यादयः शब्दाः संज्ञाः स्वरूपमुपनिबध्यते बोध्यते यैस्ते स्वरूपोपनिबन्धना स्वरूपबोधकाः सन्तः आदैच्प्रत्यायितैः आदैच्शब्दबोधितैराकारादिभिः शब्दैः संज्ञिभिः सम्बन्धं तादात्म्यं 'वृद्धिपदाभिन्ना आदैचः' इत्येवं यान्ति प्राप्नुवन्ति तथैव अग्निशब्दः निबध्यते बोध्यते अनेन इति अग्निशब्दनिबन्धनः अग्निशब्दरूपस्वस्वरूपबोधकः सूत्रस्थोऽग्निशब्दः अग्निशब्दाभिधेया अग्निशब्दबोध्यया ग्राह्यत्वशक्तिमत्या अग्निश्रुत्या अग्निशब्देन लक्ष्यस्थेन सम्बन्धं तादात्म्यमेति इति सम्बन्धः ॥

जैसे 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि सूत्रोंमें 'वृद्धि' आदि शब्द संज्ञा के बोधक हैं और 'आदैच्'

शब्दसे बोधित आकार, ऐकार, और औकार आदि संज्ञी शब्दसे 'वृद्धि पदभिन्ना आदैचः' इस प्रकारका सम्बन्ध (तादात्म्य) भी बनाते हैं। वैसे अग्नि शब्दके स्वरूपका बोधक 'अग्नेर्ढक्' सूत्रका अग्नि शब्दभी अपने स्वरूपका और अग्नि शब्दसे बोध्य लक्ष्यस्थ अग्नि शब्दसे तादात्म्य सम्बन्ध बना लेता है।

एतदुक्तं भवति—यथा 'वृद्धिरादैच्' इत्यनेन स्वरूपबोधकस्य वृद्धिशब्दस्य स्वभिन्ने आदैच्शब्दबोधिते तादात्म्यरूपसम्बन्धग्रहः। एवं स्वंरूपमिति सूत्रेण स्वरूपबोधकस्य अग्निशब्दस्य स्वभिन्ने अग्निशब्दे सम्बन्धग्रहः ग्राहकत्वशक्तिमतोऽग्निशब्दस्य ग्राह्यत्वशक्तिमदग्निशब्दभिन्नत्वात्। तत्रैतावानेव विशेषः—यत् वृद्धिशब्दादादैच्शब्दयोः स्फुटावभासो भेदः ग्राहकत्वशक्तिमदग्निशब्दग्राह्यत्वशक्तिमदग्निशब्दयोः समानानुपूर्वीकत्वेन न स्फुटावभासो भेद इति अस्ति तु औपाधिको भेदः राहोः शिर इतिवदिति न संज्ञासंज्ञिभावस्य भेदाधिष्ठानात्त्वतिरिति ॥ ५९ ॥ ६० ॥

विशेषता केवल इतनी है कि वृद्धि शब्दसे आदैच् शब्दकी स्फुट-भेद प्रतीति होती है और ग्राहकत्व शक्तिमान अग्नि शब्द और ग्राह्यत्व शक्तिमान अग्नि शब्दोंकी आनुपूर्वी एक ढंगकी होनेके कारण भेद स्फुट नहीं प्रतीत होता। इसलिए 'राहोः शिरः' की भाँति औपाधिक भेद रहनेसे एकमें संज्ञा-संज्ञि भाव बन सकता है ॥ ५९ ॥ ६० ॥

ननु 'अग्नेर्ढक्' इत्यादावर्थे वह्नौ कार्यस्य ढको बाधेन सूत्रे उच्चारितस्यैव कार्यभाक्त्वमस्त्वत आह—

और उच्चारित शब्द से ही ढक् आदि प्रत्यय भी होते हैं अर्थ से नहीं। क्योंकि अग्नि शब्दका अग्नि अर्थ है उससे परे प्रत्यय आ नहीं सकता। प्रत्यय तो किसी शब्दके सामने आयेगा। अतः प्रत्यय का अधिकारी उच्चरित शब्दही होगा। क्योंकि

यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।
अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते ॥ ६१ ॥

यो यः शब्द अग्नेर्ढक्, जराया जरस् इत्यादिः उच्चार्यते स नियतं नियमेन कार्यभाग् न भवति तस्य ग्राहकत्वशक्तिमत्त्वेन संज्ञात्वाद् ग्राह्यत्वशक्तिमल्लक्ष्यस्थसंज्ञिप्रत्यायनमात्रार्थत्वात् 'संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तते' इति न्यायादिति भावः। नन्वेवं कार्यभाक्त्वाभाव इव तस्य प्रत्यायकत्वमपि न स्यादत आह—अन्यप्रत्यायन इति। तस्य उच्चारितस्य अन्यप्रत्यायने अन्यस्य लक्ष्यस्थशब्दान्तरस्य बोधने शक्तिः प्रत्यायकत्वं न प्रतिबध्यते प्रतिबन्धकाभावादिति भावः॥

जो शब्द 'अग्नेर्ढक्' या 'जराया जरस्' इत्यादि उच्चरित होते हैं। वे सूत्रस्थ शब्द संज्ञा होनेके कारण केवल संज्ञीका निर्देश कर शान्त हो जाते हैं। उनमें कार्य तो नहीं हो सकता किन्तु इनकी लक्ष्यस्थ शब्दको बतलाने वाली शक्तिका (प्रत्यायकत्वका) बाध नहीं होता॥

एतदुक्तं भवति—शब्दो द्विविधः प्रत्याय्यः प्रत्यायकश्च तत्र सूत्रस्थः प्रत्यायकः लक्ष्यस्थः प्रत्याय्यः। प्रत्यायको हि प्रत्याय्यार्थमुच्चरितः तं ढगादिकार्ये नियुङ्क्ते न तु स्वं, प्रत्याय्यश्च अर्थप्रत्यायनार्थमुच्चरितः तमानयनादि कार्ये नियुङ्क्ते न तु स्वं

कार्यान्वयार्थं तयोरनुच्चरितत्वादिति तस्मिन्कार्यान्वयाभावेऽपि प्रत्यायकत्वं न प्रतिबध्यत इति ॥ ६१ ॥

शब्द दो प्रकारके होते हैं। एक प्रत्यायक है जो सूत्रमें पठित है और दूसरा प्रत्याय्य जो लक्ष्यस्थ है। प्रत्यायक शब्द प्रत्याय्य शब्द के निमित्त उच्चरित होता है। इसलिए ढक् आदि प्रत्यय प्रत्याय्य शब्दसे ही आते हैं प्रत्यायकसे नहीं। प्रत्याय्य शब्द उच्चरित होकर अर्थज्ञान कराता है इसलिये आनयन आदि कार्यमें नियुक्त होता है ॥ ६१ ॥

उच्चारितस्य कार्यभाक्त्वाभावे हेतुमाह—

उच्चारित शब्द से कार्य नहीं होता। क्योंकि—

उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैर्न युज्यते ।
तस्मात्तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते ॥ ६२ ॥

उच्चरन्[1] उच्चार्यमाणः शब्दः **परतन्त्रत्वात्** अर्थप्रत्यायनार्थत्वात् **गुणः** अर्थे विशेषणीभूतः अतः **कार्यैर्न युज्यते** कार्यान्वययोग्यो न भवति। 'एकत्र विशेषणतयाऽन्वितस्यापरत्र विशेषणत्वायोग' इति न्यायेन अर्थे विशेषणीभूतस्य क्रियायां विशेषणत्वायोगादिति भावः। **तस्मात्** सूत्रे उच्चरितस्य शब्दस्य कार्यान्वयाभावात् **तदर्थैः** लक्ष्यस्थैरग्निशब्दादिभिः **कार्याणाम्** ढगादीनां **सम्बन्धः परिकल्प्यते** ॥

उच्चरित शब्द केवल अर्थज्ञानके लिए उच्चारित है और अर्थमें विशेषण होनेके कारण गौण है। अतः कार्य-योग नहीं होता क्योंकि 'एकत्र विशेषण रूपसे अन्वित होकर अन्यत्र पुनः विशेषण नहीं बन सकता' इसलिए सूत्रस्थ शब्द के कार्यान्वित न हो सकने पर ही लक्ष्यस्थ अग्नि आदि शब्दों में ढक् आदि प्रत्ययों के सम्बन्ध की कल्पना की गई है ॥ ६२ ॥

एतदुक्तं भवति—यथा गामानयेत्यादौ अर्थबोधनाय प्रयुक्तः गोशब्दः क्रियासु साधनत्वं न प्राप्नोति एवं लक्ष्यस्थशब्दान्तरबोधनाय प्रयुक्तः सूत्रघटकोऽग्न्यादिशब्दोऽपि, पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वात्। प्रत्याय्यश्च लक्ष्यस्थोऽग्निशब्दः चक्षुर्ग्राह्यो गवादिरिव कार्यसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति ॥ ६२ ॥

नन्वेवम्—'अग्नेर्ढक्' इत्यादेरर्थभूतस्याप्याग्नेय इत्यत्रत्यस्याग्निशब्दस्योच्चारणे अर्थपरतन्त्रत्वात् कार्यैर्ढगादिभिर्योगो न स्यात् अनुच्चारितेन तु कार्यबोधनमशक्यमत आह—

उच्चरित प्रयोगस्थ अग्नि शब्द से अर्थप्रत्यायक होनेके कारण ढक् प्रत्यय नहीं हो सकते और अनुच्चारितसे कार्य नहीं हो सकता यह कहना ठीक नहीं।

सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः ।
तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते ॥ ६३ ॥

उपमानोपमेययोः 'ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः' इत्यत्र ब्राह्मणक्षत्रिययोः 'ब्राह्मणाध्ययनेन तुल्यं क्षत्रियाध्ययनम्' इत्यत्र च ब्राह्मणाध्ययनक्षत्रियाध्ययनयोः यद्यद्

१. उच्चरन्नित्यन्तर्भावितण्यर्थः।

सामान्यं साधारणधर्मः आद्ये अध्ययनं द्वितीयेऽध्ययनगतं सौष्ठवम् आश्रितम् उपमेये क्षत्रिये क्षत्रियाध्ययने वा श्रुतं तस्य तस्य[1] क्षत्रियाध्ययनात् क्षत्रियाध्ययनगतसौष्ठवाच्च अन्यः उपमानेषु ब्राह्मणे अध्ययनरूपः ब्राह्मणाध्ययने सौष्ठवरूपश्च धर्मो व्यतिरिच्यते व्यतिरिक्तो वर्तते इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

जैसे 'ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः' यहाँ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, और 'ब्राह्मणाध्ययनेन तुल्यं क्षत्रियाध्ययनम्' यहाँ ब्राह्मणाध्ययन तथा क्षत्रियाध्ययन रूप उपमान और उपमेय में जो-जो साधारण धर्म (जैसे प्रथम वाक्य में अध्ययन और द्वितीय वाक्य में अध्ययनगत सौन्दर्य) उपमेय क्षत्रिय या क्षत्रियाध्ययन में श्रुत हैं वह उन-उन क्षत्रियाध्ययन या क्षत्रियाध्ययनगत-सौष्ठव से भिन्न उपमान ब्राह्मण में अध्ययन रूप और ब्राह्मणाध्ययन में सौष्ठवरूप धर्म अधिक ही है ॥ ६३ ॥

यथा वा—

गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते ।
तस्याश्रिताद् गुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ॥ ६४ ॥

'शुक्लतरः पट' इत्यत्र स्वतः पटरूपद्रव्यस्य न प्रकर्षाप्रकर्षौ किन्तु गुणप्रकर्षादेवेति यः प्रकर्षहेतुः द्रव्यप्रकर्षहेतुः गुणः शुक्लादिः स्वातन्त्र्येण 'शुक्लतरं रूपमस्य' इत्यादौ प्राधान्येन उपदिश्यते तदानीं तस्य द्रव्यत्वेन तत्प्रकर्षहेतुरन्यो गुणः तस्यापि द्रव्यत्वे विवक्षायामन्य इति शुक्लरूपस्य तस्य आश्रितात् संसर्गिभेदकत्वेन विवक्षितात् गुणात् शुक्लत्वरूपाद्धर्मात् एव प्रकृष्टत्वं प्रकर्षः प्रतीयते ॥

वैयाकरणाः प्रधानं द्रव्यमप्रधानं गुण इत्यामनन्ति यदाहुर्वार्तिककृतः 'यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दानिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' इति तदेतदग्रे वक्ष्यति-'संसर्गिभेदकं यद्यत्सव्यापारं प्रतीयते। गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्र उदाहृतम्' स्पष्टं चेदं समर्थः पदविधिः, तस्य भावः इति सूत्रयोर्भाष्यादिषु। ततश्च शुक्लत्वमपि गुण इति शुक्लतरः पट इत्यत्र शुक्ल रूपस्य प्रकर्षः शुक्लतरं रूपमस्येत्यत्र शौक्ल्यस्य प्रकर्षः। यद्यपि शौक्ल्यं जातिरेका तथापि संसर्गिशुक्लभेदेन भेदमारोप्य शौक्ल्ये प्रकर्षव्यपदेश इति भावः ॥ ६४ ॥

और, जैसे 'शुक्लतरः पटः' कहने पर वस्त्र की कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती किन्तु गुण की ही विशेषता प्रतीत होती है और जो गुण द्रव्य के उत्कर्ष के कारण हैं वे ही स्वतन्त्र रूप से 'इस वस्त्र का बड़ा उजला रूप है' इस तरह प्रधान रूप से कहे जाते हैं। इसी से शुक्ल पट में आश्रित गुण की ही उत्तमता कही गई है ॥ ६४ ॥

एवं प्रकृतेऽपीत्याह—

तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः ।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत्तस्माद्विविच्यते ॥ ६५ ॥

तस्य उच्चार्यमाणस्य 'अग्नेर्ढक्' इत्यत्रत्यस्य अग्निशब्दस्य अभिधेयभावेन

---

१. सम्बन्धित्वेन विवक्षया षष्ठी घटीयो भेदः घटस्य भेद इतिवत् ।

वाच्यत्वेन यः शब्दः 'आग्नेय'इत्यत्रत्योऽग्निशब्दः समवस्थितः स्वीकृतः तस्यापि उच्चारणे तस्मात् 'अग्नेर्ढक्' इत्यत्रत्याद् अग्निशब्दोच्चारणात् अन्यद् रूपं विविच्यते विविक्तं गृह्यते इत्यर्थः ॥

वैसे उच्चारित 'अग्नेर्ढक्' सूत्र के अग्निशब्द के वाच्य रूप में स्थित जो 'आग्नेयः' इत्यादि लक्ष्यस्थ अग्निशब्द स्वीकृत है। उसके भी उच्चारण में सूत्रस्थ अग्नि शब्द से भिन्न कोई दूसरा ही रूप है।

एतदुक्तं भवति—यथा ब्राह्मणाध्ययनात्क्षत्रियाध्ययनं भिन्नं यथा वा संसर्गिभेदेन शौक्ल्यं भिन्नमेवं सूत्रस्थाग्निशब्दोच्चारणाल्लक्ष्यस्थाग्निशब्दोच्चारणं भिन्नं सूत्रस्थस्योच्चारणं लक्ष्यस्थप्रतिपत्त्यर्थं लक्ष्यस्थस्योच्चारणं चाग्निरूपार्थप्रतिपत्त्यर्थमिति। एवं च स्वार्थस्य यत्कार्यान्वयबोधनाय यत्र यस्य शब्दस्योच्चारणं तत्र तस्य शब्दस्य तत्कार्यान्वयो न भवतीति नियमः न तूच्चारितस्य कार्यान्वयो न भवतीति। यथा अग्नेर्ढगित्यादौ अग्निशब्दस्योच्चारणं लक्ष्यस्थाग्निशब्दस्य ढग्रूपकार्यान्वयबोधनाय इति लक्ष्यस्थ एव ढक्सम्बन्धं प्रतिपद्यते न सूत्रस्थः। यथा वा गामानय इत्यादौ गोशब्दस्योच्चारणं गोरानयनान्वयबोधनायेति गौरेवानयनान्वयं प्रतिपद्यते न गोशब्दः। एवमाग्नेय इत्यत्राग्निशब्दस्योच्चारणं स्वार्थस्याग्नेर्हविः सम्बन्धाय इति अग्निरेव हविः सम्बन्धं प्रतिपद्यते नाग्निशब्दः इति आग्नेय इत्यत्र उच्चरितस्य अग्निशब्दस्य अग्नेर्ढगित्यत्रोच्चरितत्वाभावेन ढक्सम्बन्धे बाधकाभाव इति ॥ ६५ ॥

तात्पर्य यह है कि जैसे ब्रह्मणाध्ययन से क्षत्रियाध्ययन भिन्न है और जैसे एक ही शुक्ल गुण आश्रय के भेद से भिन्न-भिन्न है। वैसे सूत्रस्थ अग्नि शब्दोच्चारण से लक्ष्यस्थ अग्नि शब्दोच्चारण भिन्न है। क्योंकि सूत्रस्थ का उच्चारण लक्ष्यस्थ की प्रतीति के लिए था और लक्ष्यस्थ का उच्चारण अर्थ की प्रतीति के लिए है। इसी प्रकार 'जो शब्द जिसके कार्यान्वयबोध के लिए उच्चरित होता है वह स्वयं कार्य से अन्वित नहीं होता' यह भी नियम है। इस नियम के आधार पर 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र में अग्नि शब्द का उच्चारण लक्ष्यस्थ अग्नि शब्द में ढक् रूपी कार्य के अन्वय के लिए किया गया। अतः लक्ष्यस्थ अग्नि शब्द से ढक् होगा सूत्रस्थ से नहीं। इसी तरह 'अग्नेयः' इस पद में उच्चरित अग्निशब्द स्वार्थ अग्नि में हविः सम्पादन के लिए प्रयुक्त हुआ अतः अग्नि अर्थ ही हविःसम्बन्ध प्राप्त कर सकता है अग्निशब्द नहीं। किन्तु 'आग्नेयः' इस पद में उच्चरित अग्निशब्द 'अग्नेर्ढक्' सूत्र से उच्चारित न होने के कारण उससे ढक् सम्बन्ध होने में कोई बाधा नहीं है। अतः प्रयोगस्थ अग्निशब्द सूत्रस्थ अग्निशब्द से भिन्न है ॥ ६५ ॥

'वृद्धयादयो यथा शब्दा स्वरूपोपनिबन्धनाः' इति (५९, ६०) यदुक्तं तदुपपादयन्नाह—

प्राक् संज्ञिनाभिसम्बन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका।
षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते ॥ ६६ ॥

संज्ञिना आदैजादिना अभिसंबन्धात् प्राक् संज्ञा वृद्धिपदादिः, रूपं स्वरूपमेव पदार्थो यस्याः सा रूपपदार्थिका सती भेदविवक्षया षष्ठ्याः अभेदविवक्षया प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते समर्था भवतीत्यर्थः ॥

अयं भावः वृद्धिपदस्य आदैजादिना संबन्धात्प्राक् न संज्ञिपदार्थकत्वमिति अर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वं न स्यादतः वृद्धिपदस्य वृद्धिपदमेवार्थः स्वीक्रियते वृद्धिरादैजित्यादौ । ततश्च आदैचु शक्तिग्रहे वृद्धिपदस्यादैज्भिरभेदे विवक्षिते प्रथमा, भेदे 'उञ' इत्यादौ षष्ठीति ॥ ६६ ॥

'वृद्धि' आदि संज्ञावाचक शब्द 'आदैच्' आदि संज्ञी शब्दों के सम्बन्ध से पूर्व केवल शब्द स्वरूप परक हैं (अन्यथा निरर्थक होते और प्रातिपदिक संज्ञा ही न होती) बाद में जब शक्ति-ग्रह (सम्बन्ध) हो जाता है तब आदैच् के साथ अभेद विवक्षा में प्रथमा और भेद विवक्षा में षष्ठी का निमित्त बनता है ॥ ६६ ॥

उक्तयोः प्रथमाषष्ठ्योर्विषयविभागमाह—

तत्रार्थवत्त्वात्प्रथमा संज्ञाशब्दाद्विधीयते ।
अस्येतिव्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते ॥ ६७ ॥

तत्र तयोः षष्ठीप्रथमयोः यदा 'अयं देवदत्त' इति शब्दस्वरूपं संज्ञिनि तादात्म्येन[1] निवेशयितुमिच्छति तदा संज्ञाशब्दात् अर्थवत्त्वात्प्रथमा विधीयते यदा तु 'अस्य वाचकः देवदत्त' इति शब्दस्वरूपं संज्ञिनि तादात्म्येन निवेशयितुं नेच्छति तदा अस्येति व्यतिरेकः भेदः तदर्थादेव शब्दस्य जायते प्रतीयते इत्यर्थः। स एव च भेदः षष्ठीनिमित्तमिति भावः ॥ ६७ ॥

यहाँ भी जब संज्ञाशब्द और संज्ञी में तादात्म्यसम्बन्ध आरोप करते हैं तब अर्थवान् होता है तथा उस संज्ञाशब्द से प्रथमा आती है और जब तादात्म्यारोप नहीं करना चाहते (जैसे 'अस्य वाचकः देवदत्तः') तब अस्य यह शब्द ही भेद बताता है और भेद विवक्षा में षष्ठी आती है ॥ ६७ ॥

स्वं रूपमितिसूत्रमेवं शक्तिभेदकल्पनया व्याख्याय जातिव्यक्तिभेदेनान्यथा व्याचक्षणानां मते पद्यद्वयेनाह—

कुछ लोग स्वरूप-सूत्र की व्याख्या दूसरे ढंग से करते हैं। उनका मत है कि अनेक व्यक्तियों से उच्चारित भिन्न-भिन्न अग्नि शब्द में अग्नि-शब्दत्व एक है वही 'स्वरूप' है और 'शब्दस्य' पद से शब्दरूप व्यक्ति का बोध होता है और बोध्यस् का अध्याहार करते हैं। फिर मिलकर अर्थ होगा कि 'शब्दस्य (अग्निशब्द का) स्वं रूपं (स्वरूप) अग्नि शब्दत्व है'। इस प्रकार इस अर्थ में व्यक्ति संज्ञा है और जाति संज्ञी यह अर्थ सिद्ध होता है। जैसे—

स्वंरूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते ।
व्यक्तेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ॥ ६८ ॥

स्वंरूपमिति[2] सूत्रे स्वं रूपमित्यनेन शुकसारिकापुरुषोदीरितभिन्नभिन्नशब्दव्यक्तिसमवेतमग्निशब्दत्वादिकं सामान्यं, शब्दस्येतिशब्दपदेन च शब्दव्यक्तिरभि-

---

१. निवेशयितुम्-आरोपयितुम् ।
२. वृषभदेवस्तु । स्वंरूपमित्यनेन व्यक्तिः शब्दशब्देन च जातिरुपात्तेत्याह ।

धीयते। बोध्यमिति[1] चाध्याहियते। तथा च शब्दस्य-अग्निशब्दादेः स्वं रूपम्-अग्निशब्दत्वादिकं बोध्यमिति स्वंरूपमिति सूत्रस्यार्थः। एवञ्च स्वंरूपमिति सूत्रे व्यक्तेः संज्ञात्वं जातेश्च संज्ञित्वं बोध्यते। तदाह—**कैश्चित्तु स्वंरूपमिति सूत्रेण व्यक्तिः अग्निशब्दरूपा संज्ञा उपदिश्यते जातिश्च संज्ञिनीति** तद्भावः। नन्वेवमग्नेर्ढगित्यादौ अग्निशब्देन अग्निशब्दत्वजातेः प्रतीतौ तया ढकः पौर्वापर्यासम्भवात्सूत्रार्थानुपपत्तिरत आह—**व्यक्तेरिति**। व्यक्तेः—व्यक्तिसम्बन्धीनि, **कार्याणि**—पौर्वापर्यादीनि, **संसृष्टा**—व्यक्तिसंसृष्टा **जातिः प्रतिपद्यते** व्यक्तिद्वारा जातेः पौर्वापर्यमादाय सूत्रार्थोपपत्तिरिति भावः॥ ६९॥

कोई लोग 'स्वंरूपं' इस सूत्र में (अग्निशब्दरूपा) व्यक्ति संज्ञा (और जाति संज्ञी) मानते हैं और व्यक्ति सम्बन्धी पौर्वापर्यादि कार्य उस (व्यक्ति) में सदा संसृष्ट रहने वाली जाति में व्यक्ति के द्वारा माना जाता है। अत एव 'अग्नेर्ढक्' सूत्र के अग्निशब्द से अग्निशब्दत्व जाति की प्रतीति होने पर भी पौर्वापर्व बनता है॥ ६८॥

दूसरे लोग ऐसे हैं जो 'स्वंरूपं' सूत्र में बोधक पद का अध्याहार करते हैं। उनके मत से 'शब्दस्य (अग्निशब्द रूपी व्यक्ति का) स्वंरूपं (अग्निशब्दत्व) आदि बोधक हैं। इस प्रकार अग्निशब्दत्व जाति संज्ञा और अग्निशब्द व्यक्ति संज्ञी मानी जाती हैं। जैसे—

संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रग्राह्यामथापरे।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥ ६९॥

यदि तु स्वंरूपमिति सूत्रे बोधकमित्यध्याहियते तदा शब्दस्य-अग्निशब्दादिव्यक्तेः, स्वंरूपम्—अग्निशब्दत्वादिकं बोधकमित्यर्थः इति अग्निशब्दत्वादिजातिः संज्ञा अग्निशब्दादिव्यक्तिश्च संज्ञिनी तदाह—**अथापरे सूत्रग्राह्यां** सूत्रबोध्यां **व्यक्तिम्** अग्निशब्दादिरूपां **संज्ञिनीमिच्छन्ति** जातिं च संज्ञामिति भावः। तथा च **जातिप्रत्यायिता** जात्या बोधिता आक्षिप्ता **व्यक्तिः प्रदेशेषु** 'अग्नेर्ढक्' इत्यादिषू**पतिष्ठते** इत्यर्थः। जातेः शक्यत्व इव शक्तत्वे लाघवमिति भावः॥

ये लोग सूत्र से गृहीत (बोध्य) होने वाली अग्निशब्दरूप व्यक्ति को संज्ञिनी (और जातिको संज्ञा) मानते हैं और जाति से उपस्थित व्यक्ति ही 'अग्नेर्ढक्' आदि सूत्रों से उपस्थित होती है॥ ६९॥

उद्योतकारास्तु—प्रायेण संज्ञासंज्ञिनोः सामानाधिकरण्यस्यैव दर्शनात् शब्दस्य रूपम्—अग्निशब्दत्वादिकं, स्वं-व्यक्तिसंज्ञकमित्यर्थेन व्यक्तेः, शब्दस्य-तत्तज्जातिविशिष्टस्य स्वं-व्यक्तिः रूपं-समान्यसंज्ञकमित्यर्थेन च जातेः संज्ञात्वं लभ्यते इति वर्णयन्ति।

इदमत्र बोध्यम्—जातेः व्यक्तेर्वा संज्ञात्वमिति पक्षद्वयेऽपि फले न कश्चिद्भेदः।

---

१. 'इह केचिद् वृत्तिकाराः पठन्ति स्वंरूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति द्योतकं प्रत्यायकमिति। अपरे तु स्वंरूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यमिति' पुञ्जराजः।

नन्वेवं किंकृतस्तर्हि पक्षभेद इति चेदुच्यते जातौ विवक्षितायां व्यक्तिर्नान्तरीयका जातिः प्रधानम्, व्यक्तौ विवक्षितायां जातिर्नान्तरीयका व्यक्तिः प्रधानम्, यदा जातिः संस्कर्तुमिष्टा तदा नान्तरीयको व्यक्तिसंस्कारः यदा च व्यक्तिः संस्कर्तुमिष्टा तदा तद्द्वारको जातिसंस्कार इत्युभयमुभयत्र संस्क्रियते इति जातिः संज्ञाः व्यक्तिः संज्ञा इति प्रतिज्ञाभेदमात्रं फले तु न भेदः[1] इति ॥ ६९ ॥

इन दोनों पक्षों में कोई भेद नहीं हैं। जाति संज्ञा हो या व्यक्ति संज्ञा हो। विशेषता दोनों पक्षों में यही है कि जब जाति की विवक्षा होगी तब जाति प्रधान और व्यक्ति अप्रधान और जब व्यक्ति की विवक्षा करते हैं तब व्यक्ति प्रधान और जाति अप्रधान होती है। संज्ञा प्रधान में होती है। संस्कार के बारे में भी नियम यही होगा। जब जाति में संस्कार करने चलेगें तो व्यक्ति के द्वारा ही होगा और जब व्यक्ति में संस्कार करेंगें तब जाति के द्वारा संस्कार होगा। क्योंकि जाति और व्यक्ति एक दूसरे के निकट हैं। इसी प्रकार शब्दों के एकत्व और अनेकत्व के विषय में विद्वानों के मतभेद हैं।

येषामर्थभेदेऽपि नवसु अर्थेषु एक एव गोशब्दो न बहवः इति मतं तेषां जातिमन्तरेणापि व्यक्त्यैव 'स एवायम्' इति प्रत्ययोपपत्तेर्न जातिपरिकल्पनेति तेषां जातेः संज्ञात्वमिति नास्ति, येषां च अर्थभेदेन शब्दभेद इति मतं तेषामनेकेषु गोशब्देषु 'स एवायम्' इति प्रत्ययो गोशब्दत्वजातिनिबन्धन इति तेषां जातिः संज्ञेत्यस्ति इति पक्षद्वयोपपादकं शब्दानामेकत्वमनेकत्वं चाह—

कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः ॥ ७० ॥

प्रक्रान्तत्वाच्छब्दस्येति सम्बध्यते। शब्दस्य **कार्यत्वे नित्यतायां वा केचित् एकत्ववादिनः** यन्मतमाश्रित्य 'एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादाः माषा इति' अभेदव्यवहारः **केचित्** शब्दस्य **कार्यत्वे नित्यतायां वा नानात्ववादिनः** यन्मतमाश्रित्य 'तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्' इति भेदव्यवहार इति।

कुछ लोग शब्दों के कार्यत्वपक्ष और नित्यत्वपक्ष में शब्द को एक मानते हैं। दूसरे लोग कार्यत्वपक्ष या नित्यत्व पक्ष में शब्दों में भेद मानते हैं।

इदं तु बोध्यं शब्दकार्यत्वपक्षे नानात्वं मुख्यमेकत्वं तु सकृदुच्चरितस्य वर्णस्य पदस्य वाक्यस्य वा पुनरुच्चारणे भेदेऽपि रूपसामान्यमूलिकया 'स एवायं शब्द' इतिप्रत्यभिज्ञया अभेदप्रत्ययादौपचारिकम्। तदुक्तं 'रूपसामान्याद्वा सिद्धम्' इति शब्दनित्यत्वपक्षे एकत्वं मुख्यं नानात्वं त्वर्थभेदादारोपितशब्दभेदमूलकमौपचारिकम् ॥

---

१. फले तु न भेद इति। 'रूपशब्देन चेहाभिशब्दत्वादिकं शुकसारिकापुरुषोदीरितभिन्नव्यक्तिसमवेतं सामान्यमभिधीयते। तत्र व्यक्तेःसामान्यं संज्ञा सामान्यस्य वा व्यक्तिरिति व्याख्याने कामचारः व्यक्तिः कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते सामान्यमपि कार्यं प्रतिपद्यमानं व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यते इति फले न कश्चिद्भेदः' इति कैयटेन स्फुटीकृतोऽयमर्थः।

महाभाष्य में दोनों मत लिखे हैं। 'एकः शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादाः माषाः' इत्यादि भाष्य की पङ्क्तियाँ शब्दों में अभेद व्यवहार कहती हैं और 'तत् यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिले वर्तते तस्येदं ग्रहणम्' इत्यादि भाष्य की पङ्क्तियाँ भेद व्यवहार बताती हैं।

किन्तु दोनों पक्षों का तात्पर्य यह है कि जो लोग शब्द को कार्य (अनित्य) मानते हैं। उनके मत में शब्दों का नानात्व मुख्य है और एकत्व (अभेद) को 'प्रति उच्चारण में शब्द भेद' होने पर भी 'यह वही शब्द है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान होने से काल्पनिक मानते हैं। इसका मूल 'रूपसामान्याद्वा सिद्धम्' यह वार्तिक है और जो शब्दों को नित्य मानते हैं उनके मत से एकत्व मुख्य है और नानात्व (अर्थ भेद होने के कारण शब्द भेद) काल्पनिक और आरोपित है ॥ ७० ॥

शब्दनित्यतावादिमीमांसकमतेन शब्दानामेकत्वं वर्णयन्नाह—

मीमांसकों के मत में शब्दनित्य तथा एक है। उनका कहना है। कि—

पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥ ७१ ॥

पदभेदेऽपि पदानाम्-अर्कः अश्वः अर्थ इत्यादीनां भेदेऽपि वर्णानाम् अकारादीनामेकत्वं न निवर्तते 'स एवायमकार' इति प्रतीतेः तदुक्तं भाष्ये 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' इति। नन्वकारस्यैकत्वे कालशब्दव्यवायः देशपृथक्त्वदर्शनं च न स्यादिति चेन्न उपलब्धिव्यवधानेन कालशब्दव्यवायस्य सत्तावद्देशपृथक्त्वदर्शनस्य चोपपत्तेः। एवं भिन्नेष्वपि वाक्येषु एकं पदं चोपलभ्यते 'तदेवेदं पदम्' इत्यनुभूयते इत्यर्थः। पदभेदेऽपि वर्णैकत्वमिव वाक्यभेदेऽपि पदैकत्वमेवेति भावः ॥ ७१ ॥

पदों (अर्थः, अर्कः, और अश्वः) के अकार के भेद होने पर भी 'स एवायमकारः' इस प्रतीति के कारण अकार वर्ण वही है (एक ही है) उनकी एकता निवृत्त नहीं हो सकती। इसी भाँति भिन्न-भिन्न देश और कालमें उच्चरित वाक्यों में पदों के भिन्न होने पर भी पद एक ही हैं क्योंकि 'तदेवेदं पदम्' यह अनुभव प्रमाण हैं। इसे भगवान भाष्यकार ने भी 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' वार्तिक से स्पष्ट किया है ॥ ७१ ॥

नन्वेवं वर्णातिरिक्तं पदं पदातिरिक्तं च वाक्यं स्यादित्यत आह—

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वर्ण से भिन्न पद और पद से भिन्न वाक्य है। क्योंकि —

न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन ॥ ७२ ॥

वर्णव्यतिरेकेण वर्णव्यतिरिक्तं पदं च अन्यत् वर्णेभ्योऽन्यत् न विद्यते एवं वर्णपदाभ्यां व्यतिरिक्तं वाक्यं च किञ्चन न विद्यते वर्णा एव पदं वाक्यं चेति यावत् ततश्च वर्णानामेकत्वात्तद्रूपाणां पदानां वाक्यानां चैकत्वमुपपन्नम् ॥

वर्णों से अलग पद की कोई सत्ता ही नहीं है और वर्ण तथा पदों से अलग वाक्य भी कोई वस्तु नहीं है। अर्थात् वर्ण ही पद और वाक्य है। वर्ण भी एक है। अतः पद और वाक्य भी एक ही सिद्ध हैं।

अयं भावः क्रमजन्मभिरुच्चरितप्रध्वंसिभिरयुगपत्कालैः सावयवैः पदैः वाक्यं, क्रमजन्मभिरुच्चरितप्रध्वंसिभिरयुगपत्कालैः वर्णैश्च पदं नारब्धुं शक्यते इति पदातिरिक्तं वाक्यं वर्णातिरिक्तं पदं च नाम न किंचिदस्ति किन्तु नित्या वर्णास्तान्येव पदं वाक्यं च। तदुक्तं शावरभाष्ये 'गौरित्यत्र कः शब्दः गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः' इति स्पष्टीकृतं चैतच्छ्लोकवार्तिके स्फोटवादे—

'विच्छिन्नयत्नव्यङ्ग्यैश्च नित्यैः सर्वगतैरपि। व्यतिरिक्तपदारम्भो वर्णैर्नात्रोपपद्यते॥
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥' इति।

यच्च 'गौरित्येकं पदम्' इति लौकिकानां व्यवहारः स च वर्णविषय एव एकमिति च एकार्थावच्छेदकत्वात् 'येनोच्चारितेनेति' भाष्यमपि वर्णानामेवार्थप्रत्यायकत्वात्तद्विषयमेव न च वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं नाम किंचित्। तदाहुर्भट्टपादाः।

वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः॥ इति।

अत्र न्यायरत्नाकरे पार्थसारथिमिश्राः 'स्फोटपक्षे हि निरवयवं वाक्यं निरवयवस्य वाक्यार्थस्य वाचकम् अवयवास्तु पदात्मका वर्णात्मकाश्च मृषा भूताः इति। ततश्च पदतदवयवाश्रितस्योहादेर्महावाक्यावयवावान्तरवाक्यार्थप्रयाजाद्याश्रितप्रसङ्गतन्त्रादेः[1] कार्यस्य मृषात्वं स्यात् अतस्तत्सत्यतासिद्ध्यर्थं स्फोटवादनिराकरणं न निष्फलमिति' इत्याहुः॥ ७२॥

तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न काल में क्रम से उत्पन्न होने वाले तथा ध्वस्त होने वाले वर्णों से पद तथा इसी प्रकार उत्पन्न होने वाले सावयवपदों से वाक्य बनाया नहीं जा सकता। अतः पद से अतिरिक्त वाक्य और वर्ण से अतिरिक्त पद नहीं हैं किन्तु वर्ण नित्य है और वही पद तथा वाक्य हैं।

भगवान श्रीकुमारिल भट्ट ने भी कहा है कि—

'वर्ण के अतिरिक्त पद और वाक्यों की सत्ता नहीं है। पद और वाक्य तो सावयव हैं। अतः निरवयव वर्णों के ज्ञान के लिए ही पद और वाक्य का प्रपञ्च बना है॥ ७२॥

एवं मीमांसकमतेन वर्णातिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य च मृषात्वमुक्त्वा वर्णानामेव पदत्वं वाक्यत्वं चोपपादितम्। साम्प्रतं स्वमतेन वाक्यस्य सत्यत्वं वर्णपदयोश्च मृषात्वं प्रतिपादयति—

किन्तु वैय्याकरण इस मत को सिद्धान्त नहीं मानते। उनका कहना है कि—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ ७३॥

---

१. अन्योद्देशेनान्यदीयस्यापि सहानुष्ठानं प्रसङ्गः। यथा अग्नीषोमीये पशौ चोदकप्राप्तैरनुष्ठितैः पश्वर्थैः प्रयाजाद्यङ्गैः पशुतन्त्रमध्येऽनुष्ठितस्य पशुपुरोडाशस्योपकारः। उभयोद्देशेन सकृदनुष्ठानं तन्त्रम्। यथाग्नेयाद्युद्देशेन सकृदेव प्रयाजाद्यनुष्ठानम्।

वर्णेषु ऋकारौकारादिषु प्रतीयमाना अपि अवयवाः अवयवसदृशाः रेफादयः नच विद्यन्ते। एवं पदे प्रतीयमाना अपि वर्णा न विद्यन्ते एतेन स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं[1] मिथ्यात्वं वर्णावयवानां वर्णानां चोक्तम्। एवं वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेकः पार्थक्यं पृथक्सत्ता कश्चन न विद्यते एतेन वाक्यसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वस्य पदे प्रतिपादनात् अधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वरूपं मिथ्यात्वं पदानां बोधितम्। वाक्ये प्रतीयमानानि पदानि पदे प्रतीयमाना वर्णाश्च न सन्तीति यावत्॥

जैसे (ऋकार, औकार आदि) वर्णों में जो अवयव के सदृश रेफ और अ, उ आदि प्रतीत होते हैं वे अवयव नहीं हैं। वैसे पदों में जो वर्णों की प्रतीति होती है वह भी भ्रम है। क्योंकि वाक्यों से पृथक् पदों की कोई सत्ता ही नहीं है।

यद्यप्येकोऽखण्डः स्फोटस्तथापि जपाकुसुमादिगतलौहित्यपीतत्वादिव्यञ्जकोपरागवशात् लोहितः पीतः स्फटिकः इति भानवत् मुखे मणिकृपाणदर्पणव्यञ्जकोपाधिवशाद्दैर्ध्यवर्तुलत्वादिभानवच्च प्रतीयमानवर्णावयवादिव्यङ्ग्यः वर्णरूपः पदरूपो वाक्यरूपश्च भासत इति भावः[2]॥

इदमत्र तत्त्वम् वर्णाः पदानि च असत्यानि वाक्यमेव तु अक्रममपूर्वापरमेकं नित्यं सत्यम् तस्मिन्नेव अतत्त्वभूता वर्णपदरूपनिर्भासाः क्रमवत्यो बुद्धय उत्पद्यन्ते न परमार्थतः वर्णाः पदं च नाम न किंचित् व्यञ्जकसादृश्यात्तु शब्दान्तरग्रहणाभिमानः। तदुक्तं स्फोटसिद्धौ—

'नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम्।' इति
'निरस्तभेदं पदतत्त्वमेतद्व्यदर्शि युक्त्यागमसंश्रयेण।
विधूतभेदग्रहमेतयैव दिशा परं सम्प्रतियन्त्वभेदम्॥' इति च।

निरस्ता वर्णात्मानो भेदा यस्य तादृशम्, अत्र तावदयं वर्णानामेव बोधकत्वं त एव च पदानीति वादी प्रष्टव्यः 'गौः' 'अश्वः' इति वा केवलोच्चारणे वा विसर्जनीयस्य

---

१. अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्ध्याऽसम्भववारणाय। यावत्पदं कपिसंयोगाश्रयत्वेनाभिमते वृक्षे मूलावच्छेदेन वर्तमानात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य शाखावच्छेदेन स्थितकपिसंयोगादेरप्यस्तीति तत्रातिव्याप्तिवारणाय। यावत्पददाने तु यावदन्तर्गतमूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभावान्नातिव्याप्तिः॥

२. स्याद्वादरत्नाकरे 'पदेन वर्णा' इति कारिका चेत्थं व्याख्याता—ननु वाक्ये पदानि पदेषु वर्णाः वर्णेष्ववयवाः न सन्ति, पूर्वापरादिभागक्रमवर्णपदरूपावसायः पुनरभिव्यञ्जकानां ध्वनीनां धर्मानुविधानात् क्रमवतां हि ध्वनीनां ये निष्पादकास्ताल्वादयस्तेषां प्रतिध्वनि भिन्ना एव शक्तय इति विभिन्नशक्तिताल्वादिकारणनिष्पादिता ध्वनयः परमार्थतः परस्परमत्यन्तं विसदृशा अपि तुल्यस्थानकरणजन्मतया स्वयं सदृशभावं भजन्तः स्वव्यङ्ग्यानामन्योन्यविलक्षणानां वर्णपदवाक्यस्फोटानामपि तुल्यतामुपकल्पयन्तो भागवद्भिर्भूतानपि तान् भागसंक्रान्तानिवावभासयन्ति। मुखमिव मणिकृपाणदर्पणादयो नियतस्थानवर्णपदपरिमाणसंस्थानमनुपप्लवमेकमनेकमिवानेकविधस्थानवर्णपरिमाणसंस्थानभेदोपप्लवमादर्शयन्ति। इति।

को भेदः यत्कृतोऽर्थधीभेदः प्रत्ययभावाभावौ च। नन्वयमेव भेदो यदेकत्र असहायः अपरत्र वर्णविशेषसहाय इति चेन्न वृत्ताया वर्णविशेषोपलब्धेरसत्त्वेन सहायत्वासंभवात्। नच वर्णाः सहायाः, तेषां व्यापकत्वेन नित्यत्वेन च सर्वदा सर्वत्र सत्त्वात् इति वर्णातिरिक्तमेव पदं वाक्यं चेति युक्तिः। 'येनोच्चारितेन' 'भावार्थाः कर्मशब्दाः' इत्यादिरागमः। परं पदस्फोटात्परम् वाक्यस्फोटम्, अभेदं–निरस्तभेदम् निरवयम् संप्रतियन्तु–जानन्तु इति तदर्थः॥ ७३॥

तात्पर्य यह है कि वर्ण और पद असत्य हैं। वाक्य ही क्रमरहित एक नित्य और सत्य है। उसी में काल्पनिक वर्ण और पद प्रतीत होते हैं। वर्ण और पद मिथ्या है। मिथ्यात्व दो प्रकार का है। एक तो 'स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' रूप है। यह मिथ्यात्व श्लोक के पूर्वार्ध से प्रतीत होता है। (वर्णावयवाश्रयत्वेनाभित जो यावत् वर्ण तन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व वर्णावयव में है और दूसरा 'अधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्व'रूप है। यह मिथ्यात्व श्लोक के उत्तरार्ध से निकलता है। क्योंकि वाक्य की सत्ता से अतिरिक्त किसी पद आदि की सत्ता मानी ही नहीं गई है ॥ ७३॥

द्वे अपि एकत्वनानात्वदर्शने अधिकृत्य शास्त्रे व्यवहार इत्याह—

यद्यपि निरवयव वाक्य ही सत्य है। तथापि व्याकरणशास्त्र में जो व्यवहार हुआ है वह एकत्व और नानात्व दोनों पक्षों को लेकर चला है। क्योंकि—

भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।
तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः॥ ७४॥

भिन्नं दर्शनं शब्दानामेकत्वम् आश्रित्य हलोऽनन्तराः संयोगः इति सूत्रे 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' इति, सरूपसूत्रे 'एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषा' इति व्यवहारः अनुगम्यते भाष्ये क्रियते शब्दानां नानात्वं चाश्रित्य तत्रैव संयोगसंज्ञासूत्रे 'तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्' इति भेदेनोपसंहारः क्रियते। तत्र द्वयोः एकेषां यद् एकत्वं नानात्वं वा मुख्यं तत्रान्येषां विपर्ययः गौणमिति मतिः। एकत्ववादिनः शब्दनानात्वमौपचारिकं शब्दैकत्वं च मुख्यं मन्यन्ते। नानात्ववादिनश्च शब्दैकत्वमौपचारिकं शब्दनानात्वं च मुख्यं मन्यन्त इति विवेकः॥

व्यवहार तो भिन्न-भिन्न दर्शनों के आधार पर ही चलता है। (जैसे 'हलोनन्तराः संयोगः' सूत्र में 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः, तथा 'सरूप' सूत्र में 'एकः शब्दः बह्वर्थो' इत्यादि पंक्तियाँ शब्द के एकत्व पक्ष में लिखी गई हैं और 'संयोग संज्ञा' सूत्र में ही 'तद् यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्' यह भाष्य पंक्ति नानात्व पक्ष में लिखी गई है।) इसमें जिनके मत में एक पक्ष मुख्य है उनके मत में दूसरा पक्ष गौण है।

तदुक्तं कैयटे 'केचिदर्थभेदेन शब्दभेदमिच्छन्ति प्रत्यभिज्ञानं तु' सामान्य-

---

१. सामान्येति। ग्रामशब्दत्वाभिन्नसामन्यनिमित्तैकत्वाभिप्रायमित्यर्थः।

निबन्धनम् अन्ये तु एकशब्दत्वं तत्र चानेकशक्तियोग[1] एकशक्तित्वं[2] वेति दर्शनविकल्पः। तत्र यदा एकशब्दत्वपक्षस्तदा 'यःसारण्यके ससीमके' इति भाष्यं शक्तिभेदादुपचरितभेदाश्रयम् भेदपक्षे तु 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' इति भाष्यम् अभिन्नसामान्यनिमित्तकैकत्वाभिप्रायम्' इति ॥

यद्वा भिन्नं दर्शनं वर्णाः सत्याः पदानि वाक्यानि चासत्यानि इत्येकं दर्शनमाश्रित्य 'गकारौकारविसर्जनीयाः शब्द' इति व्यवहारः वाक्यानि सत्यानि वर्णाः पदानि चासत्यानि इत्यपरं दर्शनमाश्रित्य श्लोकादर्थं प्रतिपद्यामहे इति व्यवहारः अनुगम्यते क्रियते तत्र एकेषां पदवाक्यसत्यत्ववादिनां यन्मुख्यं सत्यं तत्र अन्येषां वर्णसत्यत्ववादिनां विपर्ययः मिथ्यात्वमिति मतिः ॥

अथवा (वर्ण नित्य तथा पद और वाक्य अनित्य हैं। यह) एक दर्शन मानकर (गकार औकार और विसर्ग शब्द हैं। इस प्रकार का) व्यवहार है और (वाक्य को सत्य तथा वर्ण और पदों को असत्य हैं) दूसरा दर्शन मानकर (श्लोक से अर्थ समझ रहे हैं) इस ढङ्ग के व्यवहार किए हैं। इन दोनों पक्षों में जो लोग पद अथवा वाक्य को सत्य तथा मुख्य मानते हैं वहीं दूसरे लोग वर्ण को सत्य मानकर पद और वाक्य को मिथ्या बताते हैं ॥ ७४ ॥

वर्णातिरिक्तो ह्यङ्गीक्रियमाणः स्फोटः वेदस्य प्रामाण्यमापादयति इतरथा वर्णानामवाचकत्वेन तदन्यस्य चासत्त्वेन प्रामाण्यस्यैवासम्भवः स्यात् वाक्यावयवाश्रितान्यूहादीनि तु कार्याणि गत्यन्तरासम्भवादपोद्धृत्य कल्पनया समर्थनीयानि वर्णातिरिक्तस्य वाचकत्वादेव 'सुप्तिङन्तं पदम्' 'अर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे' 'येनोच्चारितेन' 'भावार्थाः कर्मशब्दाः' 'भावमाख्यातेनाचष्टे' 'एतं मन्त्रमपश्यत्' इत्यादयः स्मार्ताः श्रौताश्च व्यवहारा उपपद्यन्ते इति तत्त्वम्—॥ ७४ ॥

'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा' इति कारिकया शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वं प्रतिज्ञातं तत्र कः शब्दः यस्य नित्यत्वमुच्यते इति शिष्यजिज्ञासाशान्तये शब्दद्वैविध्यं ततोऽर्थबोधप्रकारश्चोक्तः सांप्रतं नित्यत्वेनाभिमतस्य स्फोटरूपस्य शब्दस्य सति कालकृतपरिच्छेदे नित्यत्वं न स्यादिति द्रुतादिवृत्तिभेदस्य प्रयोजकमाह—

अब तक शब्दों की नित्यता सिद्ध करने के लिये शब्दों के दो भेद तथा अर्थबोध का प्रकार बताया गया। अब शङ्का उत्पन्न हुई कि यदि काल कृतभेद शब्द में है तब शब्द नित्य नहीं हो सकता। द्रुतादिवृत्तियाँ तो शब्द में ही रहती है। इस पर हमारा कहना है कि—

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ॥ ७५ ॥

न भिन्नः कालः कालभेदो यस्य तस्य अभिन्नकालस्य कालकृतपरिच्छेदशून्यस्य नित्यस्येति यावत् नित्यं हि वस्तु न कालेन परिच्छिद्यते नित्येषु कालिकायोगात् तथापि ध्वनिकालमनुपततीति ध्वनिकालानुपाती तस्य ध्वनिकालानुपातिनः

१. अनेकशक्तीति। निरूपकभेदाच्छक्तिभेद इति भावः।
२. एकशक्तीति। निरूपकभेदेऽपि समवायस्यैवैकत्वं शक्तेरिति भावः।

स्वाभिव्यञ्जकध्वनिकालात् प्राप्तकालपरिच्छेदस्य तावत्कालमुपलभ्यमानस्य स्फोटस्य ग्रहणोपाधिभेदेन गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहणं बुद्धिः व्यञ्जकीभूतो ध्वनिर्वा स एवोपाधिस्तद्भेदेन वृत्तिभेदं वृत्तीनां द्रुतामध्यमाविलम्बितानां ह्रस्वादिप्रमाणरूपाणां च भेदं प्रचक्षते न तु वास्तवस्तस्य द्रुतादिवृत्तिभेद इत्यर्थः। तदुक्तं तपरसूत्रे भाष्ये 'यथा भेर्याहन्ता भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटस्तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः' इति ॥ ७५ ॥

यद्यपि यह स्फोटरूपी शब्द कालकृतपरिच्छेद से रहित है। अतः नित्य है। क्योंकि कालिक सम्बन्ध से नित्य कहीं नहीं रहता। तथापि स्फोट को व्यक्त करने वाली ध्वनि में कालिक सम्बन्ध होने से स्फोट के ग्रहण (बुद्धि या व्यञ्जक ध्वनि) रूपी उपाधियों के भेद से (द्रुत, मध्य, लम्बित, या ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) आदि वृत्तियों के भेद माने जाते हैं।

तपर सूत्र का भाष्य देखने से पता चलता है कि 'जैसे एक नगाड़े में एक आघात करके कोई बीस डग भरता है। कोई तीस। यह भेद ध्वनि के कारण होता है। क्योंकि स्फोट तो एक ही है। इसी प्रकार ध्वनि की द्रुतता से स्फोट की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती ॥ ७५ ॥

नन्वेवं स्फोटे स्वतः कालकृतभेदाभावेऽपि ध्वनिकृतकालभेदेन स्फोटेषु ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु कालभेदमाश्रित्य तपरसूत्रेण अतत्कालयोर्दीर्घप्लुतयोर्यथा व्यावृत्तिः क्रियते तथा द्रुतादिवृत्तीनां भेदेऽपि कालभेदमाश्रित्य अतत्कालव्यावृत्तिः स्यादिति तथा च 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्'[1] इति वार्तिकमानर्थक्यं स्यादित्यत आह—

स्वभावभेदान्नित्यत्वे[2] ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥ ७६ ॥

प्राकृतध्वनिरूपरूषितस्यैव स्फोटस्य भानात् स्फोटप्राकृतध्वन्योर्नीरक्षीरन्यायेन भिन्नत्वेनाप्रत्ययात्प्राकृतो ध्वनिः स्फोटस्य स्वभावः स्वरूपमिवेति स्वभावभेदात् स्वरूपविशेषात् स्फोटापार्थक्येनाग्रहणोपाधिकस्फोटस्वरूपस्वाभिमानवशात् प्राकृतस्य ध्वनेः यः कालः एकमात्रादिरूपः ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु उच्चारणीयेषु वर्तमानः सः शब्दस्य स्फोटस्य नित्यत्वेऽपि उपचर्यते शब्दे अध्यारोप्यते व्यवह्रियते इति यावत् ॥

और, प्राकृत ध्वनि को स्फोट का एक विशेष रूप मान लेने से प्राकृतध्वनि का ही एक मात्रिक आदि काल ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में स्थिर रहता है जो स्फोट के नित्य होने पर भी शब्द में आरोपित है वास्तविक नहीं ॥ ७६ ॥

१. कालभेदादिति। 'ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायां ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम्' इति भाष्यम्। तस्यार्थः द्रुतं श्लोकसूत्रं वा उच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्या नवपानीयपलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशपलानि स्रवन्ति नवानां भागास्त्रिभागास्त्रीणि पलानि तदधिकानि नव द्वादश संपद्यन्ते विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडशपलानि स्रवन्ति। नाडिका-सुषुम्ना ब्रह्माण्डसंबद्धा सामृतबिन्दुस्राविणी। पलानि-बिन्दवः।

२. 'स्वभावतस्तु नित्यत्वात्' लघुमञ्जूषायां पाठः।

अयं भावः प्राकृतो वैकृतश्चेति द्विविधो ध्वनिः तत्र प्राकृतध्वनिं विना स्फोटः सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा न भासते इति प्राकृतध्वनिव्यतिरेकेण स्फोटानुपलम्भात् प्राकृतध्वनिं स्फोटस्वरूपमिव मन्यन्ते प्राकृतध्वनिरेव च ह्रस्वदीर्घप्लुतादिभेदव्यवहारहेतुरिति[1] प्राकृतध्वनिगतकालभेदस्य प्राकृतध्वन्यभिन्नत्वेन प्रतीते स्फोटे प्रतीतौ बाधकाभाव इति 'अत्' इत्युच्चारणे अतत्कालस्य दीर्घादेर्व्यावृत्तिर्युक्ता वैकृतध्वनिस्तु प्राकृतध्वनिप्रतीतं स्फोटमुत्तरकालं स एवायमित्युल्लेखेन चिरकालमुपलम्भयति इति स्फोटप्रतीत्युत्तरकालभावितया स्फोटवैलक्षण्येनावभासमानः द्रुतादीनां वृत्तीनां भेदे कारणमिति तद्गतकालभेदस्य तद्भिन्नत्वेन प्रतीते स्फोटे न प्रतीतिरिति वैकृतध्वनिभिः स्फोटो न भिद्यते तमादाय च 'ध्वनिकृता वृद्धिः' इति[2] भाष्यम्। ध्वनिकृता—वैकृतध्वनिकृता, वृद्धिः—उपलब्धिकालवृद्धिः न तु स्फोटवृद्धिः तस्य वर्णोपरागाभिव्यक्तिजनकयत्नकालोपरागेणैव भानात् वैकृतध्वनिकालोपरागेण तु स्फोटस्य न भानम् उपलब्धिवृद्धावपि 'ह्रस्वाकार एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञानादिति द्रुतादिवृत्तिभेदेऽपि स्फोटवृद्ध्यभावात्—न 'द्रुतायाम्....' वार्तिकावश्यकतेति तद्भावः ॥ ७६ ॥

तात्पर्य यह है कि ध्वनि दो प्रकार की हैं एक प्राकृत और दूसरी वैकृत। जिसमें प्राकृत ध्वनि के विना सामान्य रूप से या विशेष रूप से स्फोट की प्रतीति हो नहीं सकती। अतः प्राकृत ध्वनि को स्फोट का स्वरूप मानते हैं। प्राकृत ध्वनि ही ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद व्यवहार का कारण है। प्राकृत ध्वनि के काल भेद की स्फोट में प्रतीति होनी चाहिये। इसलिए 'अत्' में तपर करने से तत्काल का ही बोध होता है। वैकृत ध्वनि तो प्राकृत ध्वनि के बाद 'यह वही है' इस प्रतीति का नियामक होता है। अतः स्फोट रूप नहीं है और उसके

१. व्यवहारहेतुरिति। यः प्रथमं जातो ध्वनिस्तस्य मात्राकालत्वात्तदुपचारेण तदभिव्यक्तिः स्वतो निरवयवत्वादत्यन्तं पूर्वापरभागरहितः स्फोटोऽपि मात्रकाल इति व्यपदिश्यते तन्निमित्ता च ह्रस्वसंज्ञा शास्त्रेण व्यवहाराय क्रियते। यः प्रथमं जातो ध्वनिर्यश्च तज्जस्ताभ्यामभिव्यक्तः स्फोटोऽपि तयोर्द्विमात्राकालत्वात्तदुपचारेण मात्राद्वयकाल इत्यपदिश्यते तन्निमित्ता च दीर्घसंज्ञा क्रियते। प्रथमध्वनिजातध्वनेर्जातो यस्तृतीयो ध्वनिस्तेन पूर्वाभ्यां ध्वनिभ्यां चाभिव्यक्तस्तेषां त्रिमात्राकालपरिमाणत्वादत्यन्ताप्रमाणोऽपि शब्दस्त्रिमात्र इत्युच्यते तन्निमित्तां प्लुतसंज्ञां लभते। इतीत्थं ध्वनीनां ह्रस्वादिव्यवहारहेतुतां स्याद्वादरत्नाकरकृत आहुः। शेखरकृतस्तु मात्राकालिकत्वरूपह्रस्वत्वादिकं तु वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात् प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पं वायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति वदन्तः ह्रस्वाभिव्यञ्जकध्वन्यपेक्षया विलक्षण एव ध्वनिर्दीर्घमभिव्यनक्ति न तु ह्रस्वाभिञ्जकध्वनिरेव स्वजातध्वनिसहाय इत्यभिप्रयन्ति।

२. 'ध्वनिकृता वृद्धिः' इति भाष्यस्य वैकृतध्वनिकृतोपलब्धिकालवृद्धिरित्यर्थः। वर्णोपरागाभिव्यक्तिजनकयत्नकालोपरागेणैव स्फोटस्य भानम् अत एवास्य प्राकृतत्वेन व्यवहारः वर्णाभिव्यक्त्युत्तरं जायमानस्तु वैकृतः तत्त्वं चालस्यादिकृतत्वात् अयं तूपलब्धेरेव पौनःपुन्ये कारणं पौनःपुन्यं चाविच्छेदेनोपलब्धिधारामात्रेण न तु विच्छिद्यविच्छिद्योपलब्ध्या एतदवच्छिन्नत्वेन तु न स्फोटोपलब्धिः ह्रस्वाकार एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्। आरोपे सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः इति न्यायात् इत्युद्योतः ॥

कालभेद द्रुत आदि स्फोट में प्रतीत नहीं होते जिनसे द्रुत आदि वृत्तियों के ग्रहण को रोकने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

ननु प्राकृतध्वनिकालभेदेनेव वैकृतध्वनिकालभेदेनापि स्फोटभेदः स्यादित्यत आह—

यह ह्रस्व आदि भेद जैसे प्राकृत ध्वनि के काल में है किन्तु स्फोट में आरोपित होता है और स्फोट में उसके वारण के लिये तपर करना पड़ता है वैसे वैकृत ध्वनि प्रतीति कृत कालभेद स्फोट में आरोपित नहीं होते। क्योंकि—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे[1] तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ ७७॥

शब्दस्य स्फोटस्य अभिव्यक्तेः प्राकृतध्वनिजन्याभिव्यक्तेः ऊर्ध्वम् अनन्तरं जायमानाः वैकृता ध्वनयः वृत्तिभेदे द्रुतादिवृत्तिभेदे स्थितिभेदे इति पाठे स्फोटोपलम्भकालभेदे तत्कालं स्फोटोपलम्भे समुपोहन्ते कारणानि भवन्ति तैः वैकृतध्वनिभिः स्फोटात्मा स्फोटस्वरूपं न भिद्यते वृत्तिभेदेऽपि 'स एवायमकार' इति प्रत्ययादित्यर्थः॥

स्फोटरूपी शब्द की अभिव्यक्ति के बाद उत्पन्न होने वाली वैकृत-ध्वनियाँ द्रुतादि वृत्तिभेद (स्थितिभेद पाठ में स्फोट की उपलब्धि काल के भेद) में कारण होती हैं। उन वैकृतध्वनियों से स्फोट के रूप में भेद नहीं होता क्योंकि 'यह वही आकार है' यह ज्ञान होता रहता है।

यदाहुः संग्रहकाराः—

'स्फोटस्य[2] ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यत' इति॥

अयं भावः यथा प्रकाशः उत्पन्नेव पटादिभ्यो भिन्नं घटं प्रकाशयति अनन्तरं तु प्रकाशेन पुनः पुनर्दृश्यमानोऽपि घटो न पूर्वप्रकाशितघटाद् भेदमवलम्बते तथा प्राकृतध्वनिरेव भिन्नं स्फोटमभिव्यञ्जयति अनन्तरं वैकृतध्वनिस्तु पूर्वाभिव्यक्तस्यैव तावत्कालमुपलम्भे हेतुर्भवति न पूर्वाभिव्यक्ताद् भेदे अत एव द्रुतादिवृत्तिभेदेऽपि अकार एव पुनः पुनरुपलभ्यते तथाचानुभवः तमेवायं विलम्बितमुच्चारितवानन्यो

१. वृत्तिभेदे इति। वृत्तयश्च तिस्रः—
अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता।
शिष्याणामुपदेशार्थे वृत्तिरिष्टा विलम्बिता॥
वृत्तिषु उपलब्धय एव भिन्नकालाः वर्णास्तु तत्काला एव सर्वासु वृत्तिषु न वर्णानामुपचयापचयौ। यथा गन्तृणामालस्यादिभेदाद् गतिभेदेऽपि न मार्गभेद इत्यर्थः॥

२. लघुमञ्जूषापरमलघुमञ्जूषयोः 'स्फोटस्य' इति, काशीमुद्रितवाक्यपदीये श्रीगङ्गाधरशास्त्रिसंपादिते तत्स्थाने 'वर्णस्य' इति, लाहौरमुद्रिते 'शब्दस्य' इति, पाठः अर्थे तु न भेदः। लघुमञ्जूषायां 'वृत्तिभेदे' इत्यस्य स्थाने 'स्थितिभेदे' इति पाठः चिराचिरोपलब्धिविशेषे इति तदर्थः इयं कारिका संग्रहकारीया भ्रमात्तु हरिकारिकासु पतिता इति लाहौरपुस्तके उपपादितम्।

द्रुतमिति ह्रस्वदीर्घयोस्तु नैवमनुभव इति तत्र विषयभेद एव इति वृत्तिभेदेऽपि वर्णस्य भेदो न गृह्यते[1] इति सर्ववृत्तिषु तत्कालत्वम्। यदाहुर्वार्त्तिककाराः 'सिद्धं त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते' इति। अत्र प्रदीपः 'सर्वासु वृत्तिषु न वर्णानामुपचापचयौ यथा गन्तॄणामालस्यादिभेदाद् गतिभेदेऽपि न मार्गभेद इत्यर्थः' इति। आलस्यादिनोच्चारणक्रियया वैकृतध्वनिभेदेऽपि न वर्णस्वरूपभेद इति भावः। वक्तुश्चिराचिरवचनात् चिराचिरकालोच्चारणंजनकयत्नात् जायमानवैकृतध्वनेरुपलब्धीनामेव भेदः केवलं वृत्तयो भिद्यन्ते न वर्णा इति भावः। ह्रस्वदीर्घप्लुतास्तु[2] स्वत एव भिन्नाः भिन्नैर्ध्वनिभिर्व्यज्यन्त इति युक्तस्तेषां कालभेदः। तदुक्तं श्लोकवार्त्तिके—वर्णान्तरत्वमेवाहुः केचिद् दीर्घप्लुतादिषु। नहि द्रुतादिवत्तत्र प्रयोगो नान्तरीयकः इति॥ यथाहुर्महाभाष्यकाराः 'भेर्याघातवत्' इति वार्तिकव्याख्याने 'तद्यथा भेर्याहन्ता भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटस्तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः' इति अत्र कैयटः भेरीमाहन्तीति भेर्याघातः उपलब्धिसामान्ये दृष्टान्तः। यथा प्रयत्नवशादुत्पन्नो भेरीशब्दः कश्चिदल्पकालमुपलभ्यते कश्चिच्चिरं कश्चिच्चिरतरं च एवं वृत्तिषूपलब्धीनां कालभेदो विषयस्य त्वभेद' इति॥ 'ननु दृष्टान्ते ध्वनेरुपलभ्यमानस्य भेदो न तथेह वर्णस्य द्रुतादिष्विति वैषम्यमत आह उपलब्धिसामान्य इति। यथा तत्र ध्वनेस्तावत्कालमुपलम्भस्तथेहापि तत्तद्वृत्तौ तावत्तावत्कालं तत्तदभिव्यञ्जकरूपरूपितत्वेन परिच्छिन्नस्यैव स्फोटस्योपलम्भमात्रमित्येतावत्येव दृष्टान्तः न चैतावता स्फोटभेदः परिदृश्यमानकालभेदस्योपलब्धिगतत्वादिति तात्पर्यम्। एक एव स्फोटस्तत्तद्वर्णैस्तत्तद्रूपेणाभिव्यज्यत इति' इत्युद्योतः॥

ननु यदि नित्यः शब्दस्तर्हि तस्य कुतो न सर्वदोपलम्भ इति चेदत्र तपरसूत्रे भाष्यकृतः 'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः' इति स्फोटोपलब्धिप्रतिबन्धकस्तिमितवाय्वपसारणद्वारा स्वधर्मरूपिततदुपलब्धिहेतुत्वेन ध्वनिः स्फोटाख्यस्य शब्दस्य गुण उपकारक इति तदर्थः। एतदुक्तं भवति—'स एवायमकार' इति प्रत्यभिज्ञानात्स्फोटस्य नित्यत्वे सिद्धे सर्वदा तदुपलम्भाभावो व्यञ्जकाभावकृतः न तु स्वाभावकृतः तथा मेघान्धकारे विद्युज्जनिता घटबुद्धिर्न चिरमनुवर्तते तत्र व्यञ्जकाभाव एव कारणम् न तु घटाभावः। तदाहुः श्लोकवार्तिककाराः 'सन्नेव साधनाभावाच्छब्दो-

---

१. भेदो न गृह्यत इति। ध्वनिः शब्दगुण इति भाष्ये ध्वनिशब्देन वर्णाः वैकृतध्वनिश्च उभयोरपि शब्दाभिव्यञ्जकत्वात्। तत्र वैकृतध्वनेः स्फोटस्य तद्रूपेण पुनः पुनरभिव्यक्तिः कार्यमिति न तदभिव्यक्तस्फोटस्य तत्कालत्वं ह्रस्वदीर्घप्लुतरूपस्फोटस्तु भिन्नकालावच्छिन्नैर्विजातीयैर्ध्वनिभिरभिव्यक्तो भिन्न इव लौकिकैर्ध्वनिगतभेदेन तद्भेदस्यापि प्रत्ययात्॥

२. ह्रस्वदीर्घप्लुतास्तु इति। व्यञ्जकभेदेनारोपितभेदा एव भिन्नैर्ध्वनिभिरभिव्यज्यन्त इत्यर्थः।

नैवोपलभ्यते। क्षणिकं साधनं चास्य बुद्धिरप्यनुवर्तते॥ मेघान्धकारशर्वर्यां[1] विद्युज्जनितदृष्टिवत्॥' इति ॥ ७७॥

संग्रहकार ने भी लिखा है कि—

प्राकृतध्वनि स्फोट की प्रकाशिका है और वैकृतध्वनि द्रुतादि वृत्तियों के भेद में निमित्त बन जाती है।

तात्पर्य यह है कि—जैसे प्रकाश उत्पन्न होते ही पट से भिन्न घट को प्रकाशित करता है और प्रकाशित करता रहता है किन्तु प्रथम प्रतीत घट से अनन्तर प्रतीत घट में भेद नहीं उत्पन्न करता। वैसे प्राकृतध्वनि भी भिन्न स्फोट को व्यक्त करती है। उसके बाद उत्पन्न वैकृतध्वनि प्रथम व्यक्त स्फोट के उपलब्धि काल तक प्रतीति में कारण है न कि पूर्व व्यक्त स्फोट के भेद में। इसीलिए द्रुत मध्यमा आदि वृत्तियाँ पूर्वाभिव्यक्त अकार में कोई भेद नहीं प्रतीत करातीं। अनुभव भी इसी का समर्थन करता है कि 'उसी वर्ण को इसने विलम्बित उच्चारण किया और दूसरे व्यक्ति ने द्रुत उच्चारण किया।' किन्तु ह्रस्व और दीर्घ के बारे में ऐसा अनुभव नहीं है। अतः स्फोट के अभिव्यक्तिकाल में प्रतीत होने वाले प्राकृतध्वनि के धर्म स्फोट में न प्रतीत हों इसलिए तपरस्तत्कालस्य सूत्र बनाया गया। वैकृतध्वनि के धर्म स्फोट में नहीं प्रतीत होते अतः उनकी प्रतीति रोकने के लिए कोई यत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

वार्तिककार ने भी कहा है कि—वर्ण सदा एक रूप है किन्तु चिरकाल और अचिरकाल में उच्चारण के कारण वृत्तियों में भेद है। प्रदीपकार ने कहा कि—जैसे आलस्य के कारण गति-भेद हो जाने पर भी मार्ग-भेद नहीं होता वैसे सम्पूर्ण वृत्तियों में वर्णों का उपचय अथवा अपचय नहीं होता। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तो स्वतः भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न ध्वनियों से अभिव्यक्त होते हैं। अतः ह्रस्वादि से द्रुतादि वृत्तियों में बहुत बड़ा अन्तर है।

---

१. वायवीया हि ध्वनयोऽभिव्यञ्जकाः ते च श्रोत्रं प्राप्यैवान्तः प्रयाताः शब्दबुद्धिरपि तदनुवर्तिनी मेघान्धकारे विद्युज्जनिता घटबुद्धिरिव न चिरमनुवर्तत इति॥ ननु कोयमन्धकारो नामद्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भाभावस्तम इति काश्यपीयाः। तथा तु नीलबुद्धिर्निमित्ता स्यात् अभावस्य नीलिमाभावात् न चासतो नीलिम्नः किंचिद्ग्राहकं स्मारकं वास्ति आलोकादर्शन-मात्रेण तु तद्भ्रमो भवँस्तच्छून्यभागेऽपि स्यात् अतो द्रव्यान्तरमिदं वायुवन्नीलिमगुणम्। वायुररूपः स्पर्शवान् इदं चास्पर्शं रूपवदित्येतावान् विशेषः। अथवा य एते पार्थिवास्त्रसरेणवो वातायनविवरेषु दृश्यमानाः सर्वतो भ्रमन्ति तेषां ये नीलगुणकाः तद्गतमिदं नीलरूपं गृह्यमाणं गुणान्तराणां द्रव्यान्तराणां च तदन्तरालस्य चाग्रहणात् व्याप्ताखिलब्रह्माण्डवच्चकास्ति नीलरूप-ग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते। नन्वेवं गवादिगतमपि नीलरूपमन्धकारे गृह्येत केन च नोक्तं नेति तत्तु गोरग्रहणात्तद्गतत्वेन न लभ्यते सर्वमेव नीलरूपं तदा गृह्यते प्रभायां तु प्रभारूपेण गृह्यमाणेन यानि ग्रहणायोग्यसूक्ष्मद्रव्याश्रितानि नीलरूपाणि तान्यभिभू-तानि न गृह्यन्ते निमीलिते तु नेत्रे प्रभारूपाग्रहणादविनाभूतानि गृह्यते निमीलितनेत्रस्यापि कियन्त्यपि चाक्षुषाणि तेजांसि शुक्तिवच्छिद्रादिवन्निःसरन्त्येव यैर्नीलरूपं गृह्यन्ते वस्त्वन्तराणि तु न तावद्भिर्गृह्यन्ते। जात्यन्धानामुद्वृत्तनेत्राणां च यद्यन्धकारदर्शनं नास्ति ततो न किंचिद्वक्त-व्यम्। अथ स्वस्ति ततस्तेषामपि सन्ति कानिचित्तेजांसि इति कार्यबलादेव कल्प्यते। नहि कार-णताकल्पनभयात्कार्यमपह्नोतुं युक्तं सर्ववस्तूपलब्धीनामपह्नवप्रसङ्गात् तत्कारणान्यपि हीन्द्रियाणि कल्पितान्येवेत्यास्तां तावत् इति न्यायरत्नाकरः।

नित्य शब्दों की सर्वदा प्रतीति प्रत्यायक के न रहने के कारण नहीं होती। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है कि 'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः'। तात्पर्य यह है कि जैसे मेघ के घने अन्धकार में बिजली की चमक से प्रतीत भी घटबुद्धि चिरकाल तक नहीं बनी रहती क्योंकि व्यञ्जक नहीं है वैसे ध्वनि के बिना स्फोट की प्रतीति सर्वदा नहीं होती॥ ७७॥

ध्वनयः स्फोटाभिव्यञ्जकाः इत्युक्तम्, तत्र कीदृशं ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वमिति विषये मतत्रयमाह—

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ध्वनियाँ स्फोट की अभिव्यञ्जिका हैं। और,

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥ ७८॥

अभिव्यक्तिवादिनाम् शब्दाभिव्यक्तिवादिनां शब्दाभिव्यक्तिविषये त्रयो-वादाः सन्ति। तत्र ध्वनिभिः इन्द्रियस्यैव श्रोत्रस्यैव संस्कारः क्रियते तत्संस्कृतं च श्रोत्रं शब्दोपलब्धौ द्वारतां प्रतिपद्यते चक्षुष आप्यायनानुग्रहं कुर्वदुपनेत्रं चाक्षुष-स्य लिप्यादेः यथाभिव्यञ्जकं तथा श्रोत्रस्याप्यायनानुग्रहं कुर्वन् ध्वनिः श्रौतस्य शब्दस्याभिव्यञ्जक इत्युच्यते इत्येको वादः। शब्द एव ध्वनिसंसर्गात्प्राप्तसंस्कारः श्रोत्रस्य विषयत्वमापद्यते इति ध्वनिभिः शब्दस्यैव संस्कारः क्रियते इति द्वितीयो वादः। ध्वनिभिः उभयस्य शब्दस्य श्रोत्रस्य च संस्कारः क्रियते इति तृतीयो वादः इति॥ ७८॥

स्फोट की अभिव्यक्ति के बारे में अभिव्यक्तिवादियों के तीन वाद माने गए हैं। जिसमें एक मत है कि 'ध्वनियों से इन्द्रिय (श्रोत्र (कान)) में ही संस्कार (शब्दग्रहण-योग्यता) उत्पन्न होती है।' दूसरे लोगों का मत है कि 'ध्वनियों से शब्द में ही संस्कार होता है। जिससे वह श्रोत्र का विषय बनता है।' तीसरा मत है कि 'ध्वनियों से शब्द और इन्द्रिय दोनों में संस्कार होता है' ॥ ७८॥

तत्राद्यं पक्षं दृष्टान्तद्वारा उपपादयति—

जो लोग पहला पक्ष मानते हैं उनका कहना है कि—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः॥

समाधानाञ्जनादिभिः समाधानेन प्राकृतेन चित्तैकाग्रतारूपेण अञ्जनादिद्रव्येण उपनेत्रेण च इन्द्रियस्यैव चक्षुष एव संस्कारः क्रियते न विषयस्य अलौकिकेनापि समाधानेन सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टोपलब्धौ चक्षुष एव संस्कारः न विषयस्य तथा सति एकेन समाहितचेतसा चक्षुषा विषये संस्कृते असमाहितचेतोभिरपि अन्यैः विष-यस्य ग्रहणं स्यात् एवं ध्वनिभिरपि श्रोत्रस्यैव संकारः न शब्दस्य तथा सति शब्दस्य विभुत्वेन सर्वश्रोत्रसंबद्धतया सर्वैरपि तद्ग्रहणं प्रसज्येत विशेषाभावादिति भावः।

जब हमें दूर की वस्तु नहीं दिखाई पड़ती तब हम आँख में आँजन लगाते हैं या बड़ी सावधानी से चित्त की एकाग्रता से देखने का प्रयत्न करते हैं, तब हम वस्तु देख पाते हैं। अतः इन्द्रियों में ही संस्कार होता है विषय में नहीं॥ ७९३॥

यदाहुः—'तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि' इति। नच केन रूपेण ध्वनेः संस्कारजनकत्वं न हि संस्कारजननानुगुणं किंचिद्रूपं ध्वनावुपलभ्यते इति वाच्यम्, ध्वनेः शब्दजनकत्वं केन रूपेणेति पर्यनुयोगस्य शब्दोत्पत्तिवादिनोऽपि समत्वात्। तद्भावभावितामात्रेण कार्यानुमेयातीन्द्रियशक्त्या समाधाने तु मन्मतेऽपि अभिव्यङ्ग्यानुमेयध्वनिगतातीन्द्रियशक्त्या समाधानसम्भवात्। ननु शब्दविजातीयस्य ध्वनेः कथं व्यञ्जकत्वमिति चेत् घटविजातीयस्य दीपस्य शब्दविजातीयस्य श्रोत्रस्य वा कथं व्यञ्जकत्वमिति पश्य ! तदुक्तं श्लोकवार्तिके—

'न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण संस्कृतिः
उत्पत्तावपि तुल्यत्वाच्छक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥
नित्यं कार्यानुमेयात्र शक्तिः किमनुयुज्यते ।
तद्भावभावितामात्रं प्रमाणं तत्र गम्यते ॥
अतोऽतीन्द्रिययैवेते शक्त्या शक्तिमतीन्द्रियाम् ।
इन्द्रियस्याऽऽदधानाः स्युः शब्दाभिव्यक्तिहेतवः ॥
व्यञ्जको नान्यजातिश्चेच्छ्रोत्रं शब्दस्य ते कथम् ।
पार्थिवानां घटादीनां प्रदीपादिश्च तैजसः ॥' इति ।

द्वितीयं पक्षं दृष्टान्तद्वारा उपपादयति—

जो लोग दूसरा पक्ष मानते हैं। उनका मत है कि—

विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये ॥ ७९ ॥

यथा विषयस्य तैलादेर्गन्धस्य—आतपेन, आतपशुष्कायाश्च पृथिव्या गन्धस्य उदकेन, संस्कारः तद्गन्धप्रतिपत्तये पृथिवीगन्धप्रतिपत्तये क्रियते न घ्राणेन्द्रियस्य संस्कारः तथा सति संस्कृतासंस्कृतयोः पृथिवीगन्धयोर्भेदो न स्याद्विशेषाभावात्। तथा ध्वनिभिरपि शब्दस्यैव संस्कारः क्रियते न श्रोत्रस्येति भावः। यदाहुः श्लोकवार्तिककाराः—'सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत्। घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते ॥' इति ॥ ७९ ॥

जब पृथिवी गर्मी से तप जाती है और हम उसका गन्ध जानना चाहते हैं तब उस पर पानी गिरा कर उसके गन्ध का ग्रहण ठीक रूप से कर लेते हैं। वहाँ गन्ध ग्रहण के लिए विषय (पृथ्वी) में संस्कार करते हैं घ्राणेन्द्रियों में नहीं ॥ ७९ ॥

तृतीयं पक्षं दृष्टान्तद्वारा उपपादयति—

जो लोग तीसरा मत मानते हैं। उनका मत है कि—

चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि ।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमो ध्वनेः ॥ ८० ॥

यथा चक्षुषः प्राप्यकारित्वे विषयदेशं गत्वा विषयग्राहकत्वे तेजसा आलोकेन प्रदीपादिना द्वयोरपि विषयेन्द्रिययोः विषयदेशं गतस्येन्द्रियस्य विषयस्य च

संस्कारः इष्टः स एव ध्वनेः अपि क्रमः तथैव ध्वनिविषयेऽपि मतत्रयं मन्तव्यमित्यर्थः ॥ दीपेन विषये तमोरूपावरणनिवृत्तिरूपः चक्षुषि च चक्षूरश्मिवर्धनरूपः संस्कारः क्रियते ध्वनिना च शब्दश्रोत्रेन्द्रिययोरतीन्द्रियः कश्चनसंस्कारः क्रियते इत्येके। शब्दे शब्दावारकस्थिर[1] वाय्वपसारणरूपः श्रोत्रे च श्रोत्रमभिव्याप्य स्थितस्य कोष्ठयस्य वायोरपसारणरूपः संस्कारः क्रियत इत्यपरे इति तत्त्वम्।

जैसे चक्षुरिन्द्रिय विषय (घट) के समीप जाकर उसका ग्रहण करती है, किन्तु अन्धकार में पड़े हुए घट का प्रत्यक्ष तब होता है जब दीपक की सहायता मिलती है। इससे यह मानना पड़ता है कि दीपक विषय (घट) और इन्द्रिय दोनों में संस्कार करता है। अर्थात् विषय से अन्धकार निवृत्ति और नेत्र में ज्योति की वृद्धि रूप संस्कार करता है। वैसे ध्वनि भी शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय दोनों में कोई अतीन्द्रिय संस्कार करती है ॥ ८० ॥

अयं भावः—यः कश्चन पुरुषः सन्तमसे स्थितः आलोकस्थितं घटं पश्यति तत्र चक्षुषः प्राप्यकारितया घटदेशगतं चक्षुरपि विषयमिवालोकः संस्करोति न चक्षुर्मात्रं तथा सति आलोकदेशस्थितोऽपि अन्धकारस्थं घटं पश्येत् न वा विषयमात्रं तथासति सर्व्वैः आलोकस्थस्य विषयस्य ग्रहणं स्यात् विशेषाभावात्। विषयेन्द्रियसंस्कारपक्षे तु न पूर्वोक्तपक्षद्वयदोषप्रसङ्गः। यदाहुः श्लोकवार्तिककाराः—'द्वयसंस्कारपक्षेऽत्र मृषा दोषद्वये वचः। येनान्यतरवैकल्यात्सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥' इति ॥

येषां बौद्धानां चक्षुर्विषयासंबद्धमेव चक्षुर्विषयग्राहकं यदि प्राप्य प्रकाशकं स्यात्तदा रसनादिवदधिष्ठानसंबद्धं गृह्णीयात् न चैवं गोलकासंबद्धग्रहणात् किं च यदि चक्षुः प्राप्य गृह्णीयात् तर्हि स्वतोऽधिकपरिमाणवन्न गृह्णीयात् न खलु नखरञ्जनिका परशुच्छेद्यं छिनत्ति। एवं च गोलकस्य विषयदेशप्राप्त्यसंभवात् प्राप्यकारित्वानुरोधेन गोलकातिरिक्तस्य चक्षुषः परैरङ्गीकारो वृथेति गोलकमेव चक्षुः इति मतम्। तेषां विषयदेशस्थेनालोकेन न चक्षुषः संस्कारसंभव इति 'चक्षुषः प्राप्यकारित्वे' इत्यनेन सूचितम्।

वस्तुतस्तु अधिष्ठानासंबद्धार्थग्राहिण्याः प्रदीपप्रभाया इव चक्षुषोऽपि प्राप्यकारित्वम् पृथुतरग्रहणं च गोलकनिर्गतस्य महतश्चक्षुषः पृथ्वग्रत्वेऽपि प्रदीपप्रभाया इवोपपन्नम् स्वाधिकपरिमाणग्राहिणा त्वगिन्द्रियेण व्यभिचारेण प्राप्यग्राहिणा नाधिकपरिमाणवद्ग्रहणमिति नियमे मानाभावाच्च प्राप्यकार्येव चक्षुरिति ग्रन्थकर्तुराकूतम् ॥ ८० ॥

स्फोटाभिव्यक्तिविषये इव ध्वनिग्रहणविषयेऽप्यभिव्यक्तिवादिनां मतत्रयमित्याह—

इसी प्रकार ध्वनि के ग्रहण के बारे में भी अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत हैं।

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।

---

१. स्थिरेति। कथं पुनर्वायोः स्थिरत्वं सदागतिरिति हि तं समाचक्षते सत्यं सूक्ष्मत्वात्तु पदार्थान्तराण्यचालयन् स्थिर इव भवतीति स्थिराभिधानम्। न च तत्र वायोः सद्भावे किं मानं व्यजनादिचालनेन वायूपलम्भ एव। न हि तत्र पार्थिवं व्यजनं तदुपादानं व्यस्तास्तु वाय्ववयवा व्यजनेन संहन्यन्त इत्येव युक्तम्।

केश्चित् यथा जपाकुसुमरूपानुपक्त एवं स्फटिकादिर्गृह्यते तथा ध्वनिरूपानुपक्त एव स्फोटो गृह्यते इति स्फोटरूपाविभागेन ताल्वादिकरणाभिघातजन्यध्वन्यभिव्यङ्ग्यस्फोटस्वरूपाभेदेन ध्वनेः प्राकृतध्वनेः ग्रहणं प्रतिपत्तिः इष्यते स्वीक्रियते।

कुछ लोगों का मत है कि—स्फोट और प्राकृतध्वनि का ज्ञान एक रूप (अभेद रूप) से होता है।

तेषामिदमाकूतम्—यथा प्रभाकरादिकारणजन्यालोकाभिव्यङ्ग्यस्तम्भरूपाविभागेन आलोकस्य प्रतिपत्तिर्भवति नालोको न वा स्तम्भः परस्परं विभागेन ग्रहीतुं शक्यते तथापि प्रभाकरजन्य आलोकः काष्ठादिजन्यस्तु स्तम्भादिरिति तयोर्भेदो व्यवस्थाप्यते। तथा ताल्वादिकारणजन्यध्वन्यभिव्यङ्ग्यस्फोटस्वरूपाविभागेन ध्वनेः प्रतिपत्तिर्भवति न ध्वनिर्नापि स्फोटः परस्परं विभागेन ग्रहीतुं शक्यते तथापि ताल्वादिकारणजन्यो ध्वनिः नित्यत्वादकार्यश्च स्फोट इति अनयोर्भेदो व्यवस्थाप्यते न तु तयोर्भेदेन ग्रहणम् केवलमेतदेव संभवति यद् आलोकजनिता स्तम्भादिप्रतिपत्तिः ध्वनिजनिता तु स्फोटप्रतिपत्तिरिति। यदाहुः श्लोकवार्तिककाराः—'नादेन संस्कृताच्छोत्राद्यदा शब्दः प्रतीयते। तदुपश्लेपतस्तस्य बोधं केचित्प्रचक्षते' इति अश्रौत्रस्यापि वायुसंयोगविभागरूपस्य ध्वनेः शब्दोपश्लेषेण ग्रहणमिति भावः॥

इनका तात्पर्य यह है कि—जैसे प्रकाश में खम्भे को देखने पर खम्भे और प्रकाश का अलग-अलग ज्ञान नहीं होता वैसे तालु आदि स्थानों से उत्पन्न ध्वनि द्वारा व्यङ्ग्य स्फोट का भी ध्वनि से अलग ज्ञान नहीं होता। फिर भी जैसे प्रकाश को सूर्यजन्य और स्तम्भ को काष्टजन्य मानते हैं वैसे तालु आदि कारणों से उत्पन्न ध्वनि और नित्य अकार्य स्फोट के भेद भी माने जाते हैं॥ ८०३॥

केश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः॥ ८१॥

केश्चित्तु यथा विषयप्रतिपत्तिं जनयन्त्यपीन्द्रियाणि असंवेद्यानि तथा स्फोटप्रतिपत्तिं जनयन्नपि ध्वनिरसंवेद्य इष्यते विषयप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्याऽनुमेयं किमपीन्द्रियं नाम अस्तीति यथा कार्यदर्शनादवगम्यते तथा स्फोटोपलब्ध्यन्यथानुपपत्त्या कश्चिदत्यन्तापरोक्षो ध्वनिर्नाम स्वकारणजोऽस्तीत्यनुमीयते। पित्तानवगमेऽपि पित्तगततिक्तत्वेन मधुरोपलम्भवत् पित्तगतेन पीतरूपेण शङ्खोपलम्भवच्च ध्वनेरवगमेऽपि ध्वनिरूपमिश्रितः शुद्धः स्फोट उपलभ्यते न ध्वनिः वायोरश्रौत्रत्वेन मीमांसकाभिमतस्य वायुसंयोगविभागरूपस्य संयोगविभागविशिष्टवायुरूपस्य वा तस्याश्रौतत्वादिति तेषां भावः। भेर्याघातस्थलेऽपि स्फोट एव भेरीताडनाभिव्यक्तः श्रोत्रग्राह्यः शब्दानां चिराच्चिरोपलब्धिकराल्पत्वमहत्त्ववान् वैकृतध्वनिरेवाल्पत्वादिना लक्ष्यते इति ध्येयम्। तदुक्तं श्लोकवार्तिके 'नैव वा ग्रहणं तेषां शब्दे बुद्धिस्तु तद्वशात्' इति तेषां ध्वनीनाम्। अगृहीतेऽपि ध्वनिरूपे व्यञ्जके तद्वशात्तत्सत्तामात्रेण शब्दग्रहणमित्यर्थः।

अन्यैः दूरादुपलब्धौ स्वतन्त्रः शुद्धः स्फोटामिश्रितः ध्वनिः[3] प्रकल्पितः इष्यते केवलो ध्वनिरेव गृह्यते वैयाकरणैः शब्दविशेषो ध्वनिर्न वायवो वायुसंयोगा वा इत्यभ्युपगमेन ध्वनेः श्रोत्रत्वात्। तदुक्तं श्लोकवार्तिके 'ननु यस्य द्वयं श्रौत्रं तस्य बुद्धिद्वयं भवेत्' इति। यस्य—वैयाकरणस्य, द्वयं ध्वनिः स्फोटश्च, श्रौत्रं व्यङ्ग्यं व्यञ्जकं च श्रोत्रग्राह्यम् इत्यर्थः॥

दूसरे लोगों का मत है कि—ध्वनि असंवेद्य है (अर्थात् अज्ञेय है) और उसकी अनुमान द्वारा प्रतीति होती है और तीसरा मत है कि स्फोट से अमिश्रित (अर्थात् पृथक्) ध्वनि का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण होता है।

स्पष्टश्चायं पक्षः तपरसूत्रे 'ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः॥' इति ग्रन्थेन भाष्ये। ध्वनिः स्फोटश्चेति = व्यञ्जको व्यङ्ग्यश्चेत्यर्थः। शब्दानां व्यङ्ग्यानां संबन्धी व्यञ्जकत्वेन यो ध्वनिः स एव महानल्पश्च लक्ष्यते व्यङ्ग्यस्त्वभिन्नकाल एवेत्यर्थः। उभयमिति। व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्च प्रमाणेन स्वभावतः सिद्धावित्यर्थः। केषांचिदिति। व्यक्तानामुभयं गृह्यते अव्यक्तानां तु ध्वनिरेव इति प्रदीपः। अत्रोद्योतः 'उभयमित्यावृत्त्या[2] योजनीयम् उभयं गृह्यत इति शेषः। तेन व्यक्तवाचामुभयम्[3] अव्यक्तवाचां वर्णधर्मानाक्रान्तध्वनिरेवेत्यर्थः। ध्वनिपदेन प्राकृतवैकृतावुभावपि उच्येते। ग्रहणकर्मीभूतमुभयं तु प्राकृतध्वनिस्फोटरूपम्। वैकृतस्याल्पत्वादि चिराचिरोपलब्ध्यनुमेयमिति बोध्यम्' इति॥

तदयं निष्कर्षः—ध्वनिः केवलमगृह्यमाणोऽपि स्फोटोपश्लिष्टः गृह्यते इत्येके। ध्वनिर्न गृह्यते तद्रूपरूपितं स्फोटमात्रं तु गृह्यते इत्यपरे। अव्यक्तानां ध्वनिरेव व्यक्तानामुभयम् गृह्यते इत्यन्ये।

केचित्तु 'स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशक' इति पाठमभिप्रेत्य तस्य दूरत्वदोषात्स्फोटस्वरूपानवधारणे केवलो ध्वनिरुपलभ्यते तत्रापि स्फोटो भासत एव किन्तु दूरत्वदोषादस्फुटः यथा दूरत्वदोषात् प्रकाशमानस्यापि चन्द्रमसोऽल्पपरिमाणतया ग्रहणमित्यर्थं संगिरन्ते॥ ८१॥

इनमें दूसरे मत का तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्रियों से विषय का ज्ञान होता है किन्तु इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता और विषय-प्रतीति किससे होती है इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए इन्द्रिय का अनुमान करना पड़ता है; वैसे स्फोट की प्रतीति के कारण की कल्पना में अन्यथानुपपत्ति से अपरोक्षध्वनि का अनुमान करते हैं।

---

१. स्याद्वादरत्नाकरकारास्तु—यदा केवलरुणरुणायितादिकरणे नाकारादिविशेषावगमः तदा स्वतन्त्रो ध्वनिः प्रतीयते अकारादिव्यक्तवर्णप्रतीते तु स्फोटे संसृष्टः प्रतीयते इति व्याचक्षते।

२. एकस्य उभयं वर्तते इत्यर्थः अपरस्य उभयं गृह्यत इत्यर्थः।

३. वायुगुणो ध्वनिः वायौ कर्णविवरं प्राप्ते संयुक्तसमवायेन श्रोत्रं संस्कृत्य तेन गृह्यमाणः कदाचिद्वर्णरहितः केवलो गृह्यते कदाचिद्वर्णानभिव्यञ्जन् तदुपश्लिष्टः प्रतीयते प्रभारूपवत् अस्ति हि वर्णोच्चारणे ध्वन्युपलब्धिः दूरादिभिन्नेषु वर्णरहितध्वन्युलब्धिदर्शनात्।

तीसरे मत का तात्पर्य यह है कि अव्यक्त शब्दों की ध्वनि ही गृहीत होती है और व्यक्त की ध्वनि के साथ स्फोट भी गृहीत होता है ॥ ८१ ॥

ननु एको ध्वनिर्न स्फोटाभिव्यक्तिसमर्थः द्वितीयध्वन्युच्चारणानर्थक्यापातात् न ध्वनिसमुदायः ध्वनीनामुत्पन्नप्रध्वंसितया समुदायाभावात् किन्तु पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिः स्वजन्यसंस्कारद्वारा करणभूताभिर्बुद्धिभिः सहकृतेनान्त्यध्वनिना स्फोटः स्फुटं प्रकाशत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

एक ही ध्वनि स्फोट को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकती क्यों कि दूसरी ध्वनियाँ व्यर्थ हो जायगीं। ध्वनि समुदाय भी स्फोट को व्यक्त नहीं कर सकता क्यों कि ध्वनियाँ उत्पन्न और नष्ट होती हैं फिर समुदाय मिल नहीं सकता फिर भी ध्वनि से स्फोट का ग्रहण होता है ?

यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥ ८२ ॥

यथा अनुवाकः मन्त्रसमूहः श्लोको वा आवृत्त्या चरमावृत्त्या पुनः पुनरावर्तनैरिति वा अस्मिन्पक्षे आवृत्त्येति जातावेकवचनम् सोढत्वं सोढुं शक्यत्वं स्वीकार्यत्वं गुरूच्चारणनूच्चारणमन्तरापि स्वेच्छया पठनयोग्यताम् उपगच्छति प्रत्यावृत्ति तु सः अनुवाकरूपः श्लोकरूपो वा ग्रन्थः न निरूप्यते न बुद्धिविषयो भवति न सोढत्वं यातीति यावत् ~~प्रथमाद्यावर्तने श्लोकस्य स्फुटावभासाभावेऽपि अने~~कावृत्तौ स्फुटावभासो भवति । एवं प्रत्येकं ध्वनिभिः स्फोटस्य स्फुटावभासाभावेऽपि चरमवर्णध्वनिना स्फुटावभासो भवतीति भावः ॥ ८२ ॥

जैसे मन्त्रों का समूह या एक श्लोक बार बार पढ़ने के बाद (बिना किसी सहायता के) पढ़ने योग्य हो जाता है। किन्तु प्रत्येक आवृत्ति में वह बुद्धि का विषय या पढ़ने योग्य नहीं बनता ॥ ८२ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ ८३ ॥

तथा अनुपाख्येयैः प्रत्येकं स्फुटं स्फोटाप्रकाशतया इदं तदित्यव्यपदेश्यैः तथापि ग्रहणानुगुणैः अन्त्यध्वनिजन्यव्यक्तस्फोटग्रहणोन्मुखैः प्रत्ययैः पूर्वपूर्वध्वनिजनितबुद्धिभिः सह ध्वनिप्रकाशिते अन्त्यध्वनिना प्रकाशिते शब्दे स्वरूपं स्वभाविकं रूपम् अक्रमस्फोटस्वरूपम् अवधार्यते स्फुटं निश्चीयते ॥

वैसे प्रत्येक ध्वनि स्पष्ट रूप से स्फोट की प्रकाशिका नहीं है किन्तु स्फोट के ग्रहण के लिए उन्मुख पूर्व पूर्व ध्वनियों से जन्य बुद्धि के साथ अन्त्य ध्वनि से प्रकाशित शब्द में जब स्फोट का स्पष्ट स्वरूप प्रकाशित होता है तब स्फोट का रूप हम समझ लेते है ।

एतदुक्तं भवति—यथा प्रत्येकमावृत्तिभिः श्लोकः स्फुटमनवभासमानोऽपि चर-

मावृत्त्या स्फुटमवभासते तावतापि न प्राथमिक्य आवृत्तयो निरर्थिका चरमावृत्त्या-श्लोकस्य स्फुटावभासे जननीये तासां सहकारितोपगमात्। एवं प्रत्येकं ध्वनिभिः स्फोटः स्फुटमनवभासमानोऽपि अन्तिमध्वनिना स्फुटमवभासते तावतापि न प्राथमिका ध्वनयो निरर्थकाः अन्तिमध्वनिना स्फोटस्य स्फुटावभासे जननीये तेषां सहकारितोपगमादिति॥

इदमत्र तत्त्वम्—प्रत्येकं ध्वनयो न पदात्मानं स्फोटमवद्योतयन्ति अप्रकाशात् अवद्योतने वा उत्तरध्वनिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् अवयवशः स्फोटाभिव्यक्तिश्चानुपपद्या स्फोटस्य निरवयवत्वात् प्रत्येकमशक्तौ च समुदायेऽप्यशक्तिः क्रमजन्मनामनवास्थयौगपद्यानां समुदायासम्भवश्चेति कथं स्फोटस्य ध्वनिभिरभिव्यक्तिरिति चेदुच्यते प्रत्येकमेव ध्वनयोऽविकलं (कृत्स्नं) स्फोटमभिव्यञ्जन्ति न चेतरध्वनिवैयर्थ्यम् अभिव्यक्तिभेदात्। तथाहि[1] सर्वान्तिमात्प्राग्भाविनो ध्वनयोऽनुपजातसंस्कारविशेषस्य प्रतिपत्तुरव्यक्त-पदग्रहणसमर्थाः सर्वान्तिमध्वनिजनिष्यमाणव्यक्ततरपदग्रहणानुगुणसंस्कारोत्पादिकाः बुद्धीः प्रादुर्भावयन्ति। सर्वान्तिमस्तु ध्वनिः प्राक्तनध्वन्युपजाताव्यक्तपदानुभवजन्य-सकलसंस्कारसहकृतः स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव[2] प्रत्ययमभिव्यक्ततरमुन्नावयति यथा रत्नपरीक्षकस्य प्रथमेन विज्ञानेनाव्यक्तम् अनुपाख्येयरूपः प्रत्ययैरुपजातसंस्कारायां बुद्धौ क्रमेण चरमे विज्ञाने प्रकाशते रत्नतत्त्वम्। एतदेव—'शब्दार्थप्रत्ययानाम्' [३ पा० १७ सू०] इति योगसूत्रे 'पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्' इति व्यासभाष्यप्रतीकमुपादाय 'यथाप्रतीतिसिद्धान् नादान् वर्णान् प्रत्येकं गृहीत्वाऽनु पश्चाद् या संहरति एकत्वमापादयति गौरित्येतदेकं पदमिति तया पदं गृह्यते यद्यपि प्राच्योऽपि बुद्धयो वर्णाकारं पदमेव प्रत्येकं गोचरयन्ति तथापि न विशदं प्रथते चरमे तु विज्ञाने त्वदतिविशदमिति नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यत्वमुक्तमिति वाचस्पतिमिश्रैरुक्तम्॥ ८३॥

जैसे बालक जब कोई सूत्र मन्त्र या श्लोक पढ़ता है। तब अपने गुरु के साथ साथ रटता है। जितनी वार गुरु जी पढ़ते हैं उतनी वार ही पढ़ता है। कुछ देर रट लेने के बाद वह बालक गुरु की सहायता के विना भी रटने लगता है और उसे श्लोक का ठीक ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान पहली दूसरी आदि आवृत्तियों में न रहने पर भी अन्तिम आवृत्ति में हो जाता है फिर भी पहले की आवृत्तियाँ निरर्थक नहीं हैं किन्तु सहायक हैं। वैसे प्रत्येक ध्वनियों से स्फोट यद्यपि स्पष्ट नहीं प्रतीत होता और अन्तिम ध्वनि से स्पष्ट प्रतीत होता है फिर भी पहले की ध्वनियाँ स्फोट की प्रतीति में सहायक हैं निरर्थक नहीं॥ ८३॥

---

१. भूषणकारास्तु—प्रत्येकमेव संयोगा व्यञ्जकाः। परन्तु केचिद्गत्वेन केचिदौत्वेन केचिद्विसर्गत्वेनेत्यनेकैः प्रकारैरित्येवं स्फोटग्रहणमाहुः।

२. स्फुटतरतया विनिविष्टः स्फोटात्मा बिम्बो यस्मिन् प्रत्यये तम्। स्फोटस्य बिम्बस्य प्रतिबिम्बरूपा वर्णाः यथा किल मुखादेर्बिम्बस्य विवर्ताः कृपाणादिगता दृश्यन्ते एवमेकस्य स्फोटात्मनो विवर्ता वर्णा इति भावः।

पूर्वोक्तं शब्दस्वरूपावधारणं स्पष्टयति—
इसे ही स्पष्ट करते हैं—

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ ८४ ॥

नादैः पूर्वपूर्वध्वनिभिः आहितबीजायाम् आहितं समर्पितं बीजं भावना यस्यां सा तस्याम् आवृत्तपरिपाकायाम् आवृत्तोऽभ्यस्तः परिपाको यस्याः सा तस्यां आवृत्तोऽवधारणविघ्नभूतस्य रागादिकषायस्य परिपाकः परिपाचनं यस्यामिति वा प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनाबीजमाहितं तेन च कश्चित् परिपाकः कार्यजननशक्तिविशेषः आहितः एवं द्वितीयेन एवं तृतीयेन ध्वनिना ततः उद्बुद्धसंकारायां बुद्धौ अन्तःकरणे अन्त्येन ध्वनिना सह अन्त्यध्वन्यवधारणसमकालं शब्दोऽवधार्यते यदाऽन्त्योध्वनिरवधार्यते तदा गौरित्येवं शब्दोऽप्यवधार्यत इत्यर्थः। उत्तरोत्तरवर्णोपलब्धिवेलायामपि पूर्वपूर्ववर्णाः स्मृत्याऽनुसंधीयन्ते तेनान्त्यवर्णोपलब्धावपि पूर्वे स्मर्यन्ते तेन येयं सद्रूपान्त्यवर्णविषये प्रत्यक्षा पूर्वेषु चातीतेषु स्मृतिरूपा इति प्रत्यक्षस्मरणात्मिका चित्ररूपा बुद्धिः सा च 'चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम्' इति श्लोकवार्तिके उक्ता तया बुद्ध्या गौरित्येवं गकारादिविलक्षणं शब्दान्तरं प्रत्यक्षमवगम्यते इति भावः।

इसी प्रकार नाद (पूर्व पूर्वध्वनि) से ध्वनि में एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है फिर आवृत्ति से उसमें कार्य उत्पन्न करने की शक्ति आती है इस प्रकार उद्बुद्ध संस्कार वाली बुद्धि में अन्त्यध्वनि के साथ शब्द का ज्ञान ठीक रूप से होता है॥

तात्पर्य यह है कि किसी वाक्य के उच्चारण में जब तक अन्तिम वर्ण नहीं उच्चरित होता तब तक वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता किन्तु अन्तिम वर्ण तक पूर्वपूर्व ध्वनियों का अदर्शन हो जाता है। अतः शब्द का अवधारण करने के लिये मानना पड़ता है कि नाद (पूर्वपूर्व ध्वनि) से एक भावना बीज उत्पन्न होता है उससे एक प्रकार का परिपाक (कार्यजनन शक्ति विशेष) उत्पन्न होता है इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय ध्वनि से भी भावना बीज और परिपाक की उत्पत्ति होती है फिर संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने पर अन्तः करण में अन्तिम ध्वनि के अवधारण के साथ साथ शब्द का भी अवधारण हो जाता है। इस प्रकार उत्तर उत्तर के वर्णों की अवधारण वेला में भी पूर्वपूर्व वर्णों की स्मृति का अनुसन्धान बना रहता है इसीलिए अन्तिम ध्वनि के उपलब्धि काल में पूर्व पूर्व ध्वनियाँ स्मृति में बनी रहती हैं। जिससे यह अन्तिम वर्ण के विषय में प्रत्यक्ष और पूर्वपूर्व वर्णों के विषय में स्मृति रूप है। अतः प्रत्यक्ष और स्मरणात्मक होने से चित्ररूपा बुद्धि से गौः इस प्रकार का गकार, औकार और विसर्ग से विलक्षण शब्दान्तर का प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ८४ ॥

यद्वा अन्त्येन ध्वनिना सह नादैः पूर्वपूर्वध्वनिभिः आहितबीजायां बुद्धौ पश्चिमध्वन्यनन्तरं शब्दः 'गौः इत्येकं पदम्' इति अवधार्यते इत्यर्थः। इदं चावधारणं समस्तवर्णविषयं स्मरणरूपम्। यदाहुः श्लोकवार्तिककाराः—'अन्त्यवर्णेऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्कारकारितम्। स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते। सर्वेषु चैवम-

र्थेषु मानसं सर्ववादिनाम् । इति परमार्थस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवेदं न स्मरणं ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजन्यत्वात् अन्यथा शब्दस्य स्फुटप्रकाशो नोपपद्येतेति मन्तव्यम् ॥ यद्यपि पूर्वं क्रमेण ज्ञानं जातं तथापि अन्तिमध्वनिज्ञानानन्तरं समुच्चयात्मकं सर्ववस्तुविषयं ज्ञानं भवति । न चैवं सरो रस इत्यादावविशेषप्रसङ्गः; उपलब्धिक्रमारोपेण क्रमवन्तो ध्वनयः प्रतीताः पश्चाद्युगपत्स्मर्यमाणा अपि तत्क्रमेण स्मृताः स्फोटमवबोधयन्तीति ।

अथवा—अन्तिमध्वनि के साथ नाद (पूर्व पूर्वध्वनि) से उत्पन्न भावना वाली बुद्धि में अन्तिमध्वनि के बाद 'गौ' इस शब्द का निश्चय होता है। इस मत में केवल स्मरण के द्वारा ही शब्द का अवधारण होता है।

नादो नाम वर्णातिरिक्तो वर्णव्यञ्जको वायवीयाः संयोगविभागाः संयोगविभागविशिष्टा वायवो वा 'वायवीयाः संयोगविभागाः शब्दमभिव्यञ्जयन्तो नादशब्दवाच्याः' इति **शाबरभाष्यात्** 'नादो वायुगुणस्तद्वान् वायुर्वा यदि कल्प्यते' इति **श्लोकवार्तिकात्** 'वायवीयास्संयोगविभागाः संयोगविभागविशिष्टो वायुर्वा नादो न तु शब्दविशेष' इति **न्यायरत्नाकराच्चावगम्यते** । न च वायोरश्रावणत्वाद्वायवीयस्य नादस्य श्रौत्रत्वं न स्यात् ततश्च शङ्खादिनादानां श्रवणं न स्यादिति वाच्यम् वायूनां नानात्वाभ्युपगमेन केषांचिद्वायूनां श्रावणत्वमभ्युपगम्य शङ्खघोषादेः श्रावणत्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं **श्लोकवार्तिके**—'मरुतामेव नानात्वाद् घोषश्रुत्युपपादनम्' इति ह्रस्वत्वादिकं च तद्गतो धर्मः वर्णेष्वारोप्यते इति **मीमांसकाः** । एतन्मतमेवानुसृत्य 'प्रत्येकमेव वायुसंयोगा व्यञ्जका' इति **भूषणसारः** ॥

नादो हि न वाय्वात्मा तत्संयोगविभागात्मा वा किंतु वायुगुणः शब्दविशेषो ध्वनिरिति चोच्यते । द्विविधो हि शब्दो वर्णो ध्वनिश्च । द्वयोरनुगतं शब्दत्वम् । वर्णत्वं ध्वनित्वं च तदवान्तरसामान्ये । वर्णविशेषा गकारादयः, ध्वनिविशेषाः शङ्खघोषादयः । ध्वन्यात्मकश्च शब्दो वायुगुणः श्रोत्रग्राह्यः । तदुक्तं **श्लोकवार्त्तिके** 'ध्वनीनां श्रोत्राग्राह्यत्वं तस्मात्केचित्प्रचक्षते' इति । स एव च वर्णात्मकानां गकारादीनामभिव्यञ्जकः प्रभारूपमिव भावान्तराणामिति **मीमांसकैकदेशिमतम्** ।

वैयाकरणा अपि नादस्य वायुगुणत्वं शब्दत्वं चातिष्ठन्ते । तत्रैतावान् विशेषः यद्वैयाकरणाः वाचकस्वरूपध्वनिसादृश्यान्नादपदेन ध्वनिपदेन च अव्यक्तं शब्दविशेषमिव वर्णानपि गृह्णते । **मीमांसकास्तु**—अव्यक्तं शब्दविशेषमेव नादपदेनाचक्षते न वर्णानिति, तथाहि—'येनोच्चारितेन' इति भाष्यव्याख्यावसरे कैयटेन 'स्फोटो नादव्यङ्ग्य' इत्युक्तम् । **उद्योतकृता** 'नादो–वर्ण' इति व्याख्यानात् 'अथ वा प्रतीतपदार्थकः' इति महाभाष्यप्रतीकमुपादाय 'लोके व्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाद्वर्णरूपध्वनिसमूह एव शब्द इत्यर्थ' इत्युद्योतात् 'पदं पुनर्वाचकं नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्' इति योगभाष्यव्याख्यावसरे 'यथा प्रतीतिसिद्धान् नादान्वर्णान् प्रत्येकं गृहीत्वा अनु पश्चाद्वा संहरत्येकत्वमापादयति गौरि-

त्येतदेकं पदमिति तया पदं गृह्यते' इति वाचस्पतिमिश्रलेखात् 'शब्दार्थप्रत्यानाम्' इति योगसूत्रव्याख्यावसरे 'स च वर्णरूपोऽव्यग्रवाचकत्वाद् ध्वनिरित्युच्यते' इति 'नादाख्यगकारादिवर्णान्' इति च नागेशभट्टलेखात् 'शब्दश्च वायुगुणो नाकाशगुणः अत एव भाष्ये आकाशदेशः शब्द इत्युक्तमिति' मञ्जूषायां निरूपितत्वाच्चावगम्यते। ध्वनिः शब्दरूपता च 'अथ वा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते' इति महाभाष्ये उक्ता। 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत' इति काव्यप्रकाशकृता। 'ननु यस्य द्वयं श्रौत्रं तस्य बुद्धिद्वयं भवेत्' इति भट्टपादकारिकाव्याख्यावसरे तत्त्वसंग्रहटीकायां पञ्जिकाख्यायां 'यस्य—वैयाकरणादेर्योपात्मको ध्वनिर्व्यञ्जको ननु वायवीयसंयोगविभागात्मक' इति कमलशीलेन चानूदिता ॥ ८४ ॥

ननु यदि ध्वनिभागाः प्रत्येकं कृत्स्नमेव शब्दं व्यञ्जयन्ति तर्हि वर्णेषु वर्णावयवाः पदे वर्णा वाक्ये पदानि च कथमवभासन्ते तत्र तेषां तदभिव्यञ्जकध्वनीनां चाभावादत आह—

यद्यपि ध्वनियाँ पूर्ण शब्द को व्यक्त करती है तथापि वर्णों में वर्णावयव, पदों में वर्ण और वाक्य में पदों की प्रतीति होती है, क्योंकि—

असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥ ८५ ॥

अन्तराले—ध्वन्युत्पत्तिस्फुटशब्दग्रहणयोर्मध्ये निर्भागेषु अक्रमेषु वर्णपदवाक्येषु ध्वनिभिरभिव्यज्यमानेषु वर्णे वर्णावयवसरूपाः पदे वर्णसरूपाः वाक्ये पदसरूपाः बुद्धयो जायन्ते ताभिश्च बुद्धिभिः प्रतिपत्ता भागभूतान् असतः वर्णे पदे वाक्ये च अविद्यमानान् यान् शब्दान् वर्णावयवान् पदानि च अस्तीति मन्यते सा प्रतिपत्तुरशक्तिः असामर्थ्यम् तैः शब्दैरनंशस्फोटग्रहणाक्षमता तद्वशाच्चान्यराले शब्दाभिमानः। न च ते वस्तुतः सन्ति किन्तु सः अन्तराले शब्दग्रहणरूपो भ्रमः अक्रमस्य सत्यस्य स्फोटस्य ग्रहणोपाय एव। यथा आराद्वनस्पतौ मिथ्याभूतहस्तिप्रत्ययप्रवाहः सत्यवनस्पतितत्त्वप्रतिपत्तिहेतुस्तथा भागावभासिन्यो वर्णपदविषया मिथ्याबुद्धयः सत्यस्फोटप्रतिपत्तिहेतव इति तत्त्वम् ॥ ८५ ॥

ध्वनि की उत्पत्ति और शब्द के स्पष्ट ग्रहण के बीच के काल में जो अवयव वर्ण, पद और वाक्य में नहीं हैं किन्तु वर्णावयव, वर्ण और पद के रूप में प्रतीत होते हैं। वह समझने वाले की अशक्ति है। जिससे वह निरंशस्फोट का ग्रहण नहीं कर पाता। वास्तव में वे वर्णावयव आदि शब्द में नहीं है। किन्तु यह बीच में जो शब्द भ्रम होता है वह स्फोट के ग्रहण में सहायक बनता है और स्फोट के ग्रहण का उपाय है। जैसे दूर के पेड़ को भ्रम से हाथी समझ लिया जाय फिर उसके ठीक रूप समझ ने के प्रयत्न करने पर यह पता चल जाता है कि यह पेड़ है। वैसे वर्णादिकों में जो विभाग की प्रतीति होती है वह असत्य है उसी असत्य से सत्य स्फोट की प्रतीति होती है ॥ ८५ ॥

ननु स्फोटस्यैकत्वे पदानां वाक्यानां च भेदः किंनिबन्धन इत्यत आह—

स्फोट एक है फिर भी वर्ण, पद, वाक्य आदि भेद उचित हैं। क्योंकि—

भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।
क्रमोपसृष्टरूपा वाग् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम् ॥ ८६ ॥

यतः अभिन्नमपि ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयं किञ्चन ज्ञेयं विषयीकृत्यैव व्यवहारविषयः यतश्च अक्रमापि स्फोटरूपा वाक् क्रमेण घटः पटः इत्यादिध्वनिगतभागक्रमेण उपसृष्टं संश्लिष्टं रूपं यस्याः सा क्रमोपसृष्टरूपा व्यञ्जकध्वनिविशेषगतक्रमेणैवोपलब्धियोग्या अतः घटज्ञानं पटज्ञानमिति ज्ञेयरूपोपग्राहितया ज्ञानस्य घट इति पट इति व्यञ्जकध्वनिगतक्रमोपग्राहितया वाचश्च भेदानुकारः भेदरूपानुगमरूपः ज्ञाने विषयावभासरूपः स्फोटे वर्णपदावभासरूप उपप्लवः उपसर्गः कल्पना ध्रुवो नियत इत्यर्थः॥ अत्र अप्रकृतज्ञानभेदनिरूपणस्यासम्बद्धत्वं माभूदिति 'ज्ञानस्येव वाचो भेदानुकाररूप उपप्लव' इति उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इति ध्येयम्।

जैसे ज्ञान एक है किन्तु व्यवहार में किसी ज्ञेय मे नियत है। वैसे अक्रमस्फोट रूपी वाक् भी व्यञ्जक ध्वनिक्रम से प्रतीत होती है अतः ज्ञेयरूपता स्वीकार करने वाले ज्ञान का और घट पट आदि व्यञ्जक ध्वनि गत क्रम वाली वाणी का भेदानुकार (अर्थात् ज्ञान में विषयावभासरूप और स्फोट में वर्णपदावभासरूप) उपसर्ग की कल्पना भी नियत है।

एतदुक्तं भवति—यथा विवादाध्यासिता संवित्स्वाभाविकभेदशून्या उपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्गगनवदिति अनुमानेन एकस्या एव संविदो गगनस्येवौपाधिभेदेन घटज्ञानं पटज्ञानमिति व्यवहारोपपत्तौ न वास्तवो भेदः। तथा एकस्यैव स्फोटस्य व्यञ्जकध्वनिगतक्रमविशेषोपाधिक एव घट इति पट इति स्फोटभेदावभासो न वास्तव इति वर्णपदवाक्यव्यपदेश्याः त्रयः स्फोटा निरवयवाः सन्तोऽपि अविद्ययोपदर्शितालीकावयवाः अन्योन्यमत्यन्तविलक्षणा एव नानाप्रकाराः प्रतीयन्ते। यदाहुः—सङ्ग्रहकाराः 'ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते। नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयत' इति॥ ८६॥

तात्पर्य यह है कि ज्ञेय के बिना ज्ञान व्यवहार में नहीं आसकता और स्फोट के एक होने पर भी उस में भेद के बिना कोई कार्य चल ही नहीं सकता॥ ८६॥

'ग्रहणोपाय एव सः' इत्यनेन ध्वनिभिर्व्यक्तेषु वर्णपदवाक्यस्फोटेषु वर्णे वर्णावयवसरूपभागाभिनिवेशिनी पदे वर्णसरूपभागाभिनिवेशिनी वाक्ये पदसरूपभागाभिनिवेशिनी बुद्धिर्जायमाना अखण्डस्फोटग्रहणोपाय इत्युक्तं तद्दृष्टान्तेनोपपादयति—

इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥ ८७॥

यथा संख्यान्तराणां शतत्वादीनाम् भेदेऽपि एकत्वादितः शतत्वादेर्भिन्नत्वेऽपि

आद्यसंख्याग्रहणम् एकत्वादीनां संख्यानां ग्रहणम् ज्ञानं प्रतिपत्तये शतत्वादीनां उपायः तथा वाक्यस्फोटप्रतिपत्तये शब्दान्तरश्रुतिः अवान्तरदेवदत्तादिपदश्रवणमुपाय इत्यर्थः। शतत्वादिसंख्याया अयमेकः अयमेक इत्येवंरूपापेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन प्रकारान्तरेण ग्रहीतुमशक्यतया तद्ग्रहणेच्छायामेकत्वादिसंख्याग्रहणं तद्ग्रहणोपायः प्रथमं गृह्यते ततश्चैकत्वप्रत्यक्षेण ततोऽत्यन्तविलक्षणायाः शतत्वादिसंख्यायाः प्रत्यक्षम् एवं वाक्यस्फोटस्य वर्णपदभिन्नत्वेऽपि वर्णपदग्रहणं अखण्डवाक्यप्रत्यक्षोपाय इति भावः ॥ ८७ ॥

जैसे सौ संख्या और एक संख्या परस्पर भिन्न है फिर एक संख्या का ज्ञान सौ संख्या के ज्ञान में सहायक है। वैसे वाक्य स्फोट और वर्ण तथा पद परस्पर भिन्न हैं फिर भी वाक्य के बीच के पदों की प्रतीति वाक्य स्फोट की प्रतीति में उपाय है ॥ ८७ ॥

इदानीं वाक्ये पदाभावे पदे वर्णाभावे वर्णे वर्णावयवाभावे च सति वाक्यादिषु पदाद्यवभासो यन्निमित्तकस्तदाह—

फिर वाक्य में पद, पद में वर्ण और वर्ण में वर्णावयव कैसे प्रतीत होते हैं ?

प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये ।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि संकीर्णा इव शक्तयः ॥ ८८ ॥

यथा भ्रमणत्वजात्यभिव्यञ्जकाः कर्मविशेषा उत्क्षेपणत्वजात्यभिव्यञ्जकाश्च कर्मविशेषाः परस्परं भिन्नाः। यथा वा गोत्वजात्यभिव्यञ्जका अवयवाः गवयत्वजात्यभिव्यञ्जकाश्च अवयवाः परस्परं भिन्नाः तथापि यथा प्रत्येककर्मग्रहकाले इदं कर्म भ्रमणत्वाभिव्यञ्जकमिदं चोत्क्षेपणत्वाभिव्यञ्जकमिति। यथा वा प्रत्येकावयवग्रहकाले अयमवयवो गोत्वाभिव्यञ्जकः अयं गवयत्वाभिव्यञ्जकः इति भेदेन प्रतिपत्तुमशक्यम् तेषामत्यन्तसादृश्यात् तथा वर्णवाक्यपदेषु व्यञ्जकाः वर्णपदवाक्यविषयकभिन्नभिन्नप्रयत्नप्रेरितवायुभिस्तत्तत्स्थानेष्वभिहत्योत्पादिताः ध्वनयः भिन्नभिन्नकारणजन्यत्वात् प्रत्येकं ये भिन्ना तेषामत्यन्तभेदेऽपि अत्यन्तसादृश्याद्भेदस्य ग्रहीतुमशक्यतया वाक्याभिव्यञ्जनशक्तिमत्सु ध्वनिषु पदाभिव्यञ्जनशक्तयः पदाभिव्यञ्जनशक्तिमत्सु च वर्णाभिव्यञ्जनशक्तयः संकीर्णा इव लक्ष्यन्ते। नच संकीर्णाः तावतैव निरवयवेषु वर्णपदवाक्येषु वर्णावयवावभासः वर्णावभासः पदावभासः काल्पनिको मिथ्येति भावः ॥

यद्यपि वर्ण, वाक्य और पदों की व्यञ्जक ध्वनियाँ भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होने के कारण सब परस्पर भिन्न है और उनका भेद सिद्ध है तथापि अत्यन्त सदृश होने के कारण वाक्य को व्यक्त करने में समर्थ ध्वनि में पद व्यञ्जक शक्तियाँ और पद को अभिव्यक्त करने की शक्ति वाली ध्वनि में वर्ण व्यञ्जक शक्तियाँ सङ्कीर्ण हैं भेद से ज्ञान नहीं करा सकती॥ ८८॥

एतदुक्तं भवति—वर्णाभिव्यञ्जकाः पदाभिव्यञ्जकाः वाक्याभिव्यञ्जकाश्च ध्वनयः प्रत्येयं भिन्नाः तथापि सादृश्याद्भिन्नतया अप्रतीयमानाः वर्णपदवाक्यान्यभिव्यञ्जन्तीति वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिसदृशध्वन्यभिव्यङ्ग्यत्वात्पदेषु वर्णाः पदाभिव्यञ्जकध्वनि-

सदृशध्वन्यभिव्यङ्ग्यत्वाद्वाक्येषु पदानि च प्रतिभासन्ते न परमार्थतस्तत्र सन्ति तदभिव्यञ्जकध्वनीनामभावात् तद्यथा सादृश्यकल्पनया गौरित्येतदभिव्यञ्जके ध्वनौ गकारस्फोटव्यञ्जकध्वनिशक्तिमुत्प्रेक्ष्य तत्र व्यज्यमानं गकारं जानन्तो गकारादिवर्णरूपाविभागेन स्फोटं जानन्ति तथा गामभ्याजेति वाक्यव्यञ्जके ध्वनौ गोस्फोटव्यञ्जकध्वनिशक्तिमुत्प्रेक्ष्य पदरूपाविभागेन स्फोटं जानन्ति। अयमेव हि शक्तीनां संकरो यत्पदव्यञ्जनशक्तिं वर्णव्यञ्जिकामपि कल्पयन्ति तत्कल्पनावशाच्च वर्णव्यञ्जका एव संहताः पदव्यञ्जकाः ते च संहता वाक्यव्यञ्जका इति भ्राम्यन्तीति ॥ ८८ ॥

ननु शब्दान्तराण्येव वर्णाः प्राक् प्रकाशन्ते न अव्यक्तं व्यक्तं वा पदरूपम् अन्याकारायाः संविदोऽन्यविषयत्वायोगादित्यत आह—

यद्यपि वर्ण स्वतन्त्र रूप से शब्दान्तर की भांति प्रतीत होते हैं वे अव्यक्त अथवा व्यक्तपदरूप नहीं है। तथापि अन्यरूप में उत्पन्न ज्ञान अन्यरूप में गृहीत होता है जैसे—

यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात्संतमसेऽपि वा।
अन्यथाकृत्य विषयमन्यथैवाध्यवस्यति ॥ ८९ ॥

यथैव चक्षुषा दूरात् आकारमात्रोपलब्धौ वृक्षादीन् हस्तीति व्यक्तालोकादेशात् सहसा संतमसे मन्दतरालोकेपि वा उपसृत्य तत्र रज्ज्वादीन् सर्प इति पूर्वैर्दर्शनैः प्राथमिकदर्शनैः विषयं वृक्षं रज्जुं च अन्यथाकृत्य हस्तित्वेन सर्पत्वेन च गृहीत्वा तद्देशस्थित एव प्रणिधानाभ्यासेन प्रकृतिस्थे[1] चक्षुषि यथावयवं वृक्षं रज्जुं चोपलभमानः परैर्दर्शनैः अन्यथैव पूर्वगृहीतधर्मातिरिक्तधर्मेण वृक्षत्वरज्जुत्वादिना अध्यवस्यति। पूर्वमव्यक्तालोचितं रज्जुवृक्षादि अन्याकारेण भासमानमपि व्यक्तालोचनदशायां स्वाकारेण रज्जुत्ववृक्षत्वादिना गृह्यते एवं पूर्वपूर्वध्वनिप्रकाशनवेलायां तिरोहितात्मस्वरूपः वाक्यस्फोटो वर्णपदाकारेण भासमानोऽपि अन्तिमध्वनिप्रकाशनवेलायां स्वरूपेण प्रकाशत इति भावः॥ एतदेवोक्तं मण्डनमिश्रैः 'आरूपालोचितेष्वस्ति ह्यन्यथात्वप्रकाशनम्' इति। आरूपालोचितेषु—अव्यक्तालोचितेषु ॥ ८९ ॥

जैसे दूर से देखने पर वृक्ष हाथी की तरह मालूम पड़ता है, प्रकाश से अन्धकार में जाने पर रस्सी में सर्पभ्रम होता है अर्थात् प्रथम दर्शन में विषय वृक्ष और रस्सी दूसरे रूप में (हाथी या सर्प रूप में) गृहीत होता है। पुनः ध्यान से मन को एकाग्र कर जब देखते हैं तब अन्यथा (दूसरे रूप में) अर्थात् वृक्ष और रस्सी के रूप में देखते हैं ॥ ८९ ॥

दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिकमुपपादयति—

उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९० ॥

१. प्रकृतिस्थे—चाञ्चल्यरहिते।

तथा वाक्ये निर्भागे वाक्ये व्यज्यमाने व्यञ्जनीये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः निर्भागवाक्याभिव्यक्तिविषयकप्रयत्नविशेषोत्पद्यमानैर्ध्वनिभिः पूर्वं प्रथमं भागावग्रहरूपेण वर्णपदाभिव्यञ्जकध्वनिभिन्नैरपि सादृश्यात्तच्छक्तिसांकर्यमिवापन्नैः वर्णपदप्रत्यवभासरूपभागावग्रहविषया बुद्धिः प्रवर्तते जायते। ततः प्रणिधानादिना वास्तवमखण्डं स्फोटं बुद्ध्या विषयीकुर्वन्ति तादृशप्रणिधानासमर्थास्त्वस्मदादयः सावयवत्वमेव सत्यतया मन्यन्ते इति तात्पर्यम्।

वैसे जब अखण्ड वाक्य की अभिव्यक्ति के प्रयत्नों से उत्पन्न ध्वनियों के द्वारा अखण्ड वाक्य व्यक्त करना है तब पहले वर्ण, पद के भाग वाली बुद्धि प्रवृत्त होती है। पुनः प्रणिधानादिवस वास्तविक अखण्ड स्फोट का ज्ञान होता है॥ ९०॥

ननु स्फोटाभिव्यञ्जकैर्ध्वनिभिः कथं वर्णपदप्रत्यवभासरूपभागावगाहिमिथ्याबुद्धिरिति चेत् कथं शुक्तिप्रमाजनकेन चक्षुषा रजतावभासा मिथ्याबुद्धिरिति पश्य। यदाहुर्मण्डनमिश्राः—'ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य हेतवः। उपलम्भकमेवेष्टं विपर्यासस्य कारणम्।' इति। उपलम्भकमेवेति। यथा दूराद्वनस्पतौ इन्द्रियसन्निकर्षो विपर्यासस्य निमित्तं स एव प्रणिधानसहायो वृक्षोपलब्धेर्निमित्तमेवं निमित्तमेवेदृशं शब्दतत्त्वोपलब्धेः यद्विपर्यासयदेव शब्दतत्त्वमुपलम्भयति। नहि शब्दान्तरविलक्षणध्वनयोऽन्ये तस्याभिव्यक्तौ सन्ति येन कदाचिदविपर्यासो भवेत् तत् एव च तुल्यरूपः सर्वप्रतिपत्तॄणां तन्निमित्तस्य समानत्वादिति भावः॥ ९०॥

ननु यदि वाक्ये असत्यान्येव वर्णाः पदानि च कल्प्यन्ते तर्हि दूरस्थवृक्षादौ पूर्वं कस्यचिन्मेघ इति कस्यचित्पर्वत इति कस्यचिद्धस्तीति कल्पना दृश्यते न तु क्रमनियमः इह तु पूर्वं वर्णावग्रहा बुद्धिः ततः पदावग्रहा ततो वाक्यावग्रहा इति क्रमनियमः किंकृत इत्यत आह—

दूरस्थवृक्ष में किसी को मेघ, कसी को हाथी, किसी को पर्वत का अनियत भ्रम होता है किन्तु शब्द में पहिले वर्ण उसके बाद पद उसके बाद वाक्य रूप में नियतक्रम प्रतीत होने में क्या कारण हैं इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—

यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः।
तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः॥ ९१॥

पदार्थानां नियतशक्तित्वात् यथा क्षीरबीजयोः विकारे दधिवृक्षभावेन परिणामे आनुपूर्वीनियमः क्रमनियमः तथैव प्रतिपत्तॄणाम् अर्वाग्दृशामस्मदादीनां स्फोटविषयासु बुद्धिषु पूर्वं वर्णविषया ततः पदविषया ततो वाक्यविषया बुद्धिरिति क्रमो नियतो वर्तते नियतक्रमत्वाद्व्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यस्यापि क्रमनियम इत्यर्थः॥

जैसे दूध और बीज का विकार दही और वृक्ष है और इन विकारों का क्रम भी नियत है (अर्थात् दूध कुछ गाढ़ा होता है तब दही बनता है। बीज में अंकुर निकलता है तब धीरे धीरे वृक्ष बनता है इस प्रकार क्रम बँधा हुआ है) वैसे ज्ञान प्राप्त करने वाले हम लोगों की

बुद्धि स्फोट को क्रम से ग्रहण करती है (उसमें भी पहले वर्ण फिर पद फिर वाक्य विषयक बुद्धि) इस तरह क्रम नियत है।

अयं भावः—यथा क्षीरस्य विकारे दध्नि जननीये प्रथमं क्षीरं किंचित्कठिनं ततोऽधिकं कठिनं ततो दधि भवतीति आनुपूर्वीनियमः, यथा वा बीजस्य विकारे वृक्षे जननीये पूर्वं बीजं द्वैधीभवति ततोऽङ्कुरः ततो द्विपत्रितः ततः पल्लवितः वृक्षो भवतीति आनुपूर्वीनियमः। तत्र च राज्ञापि प्रथमावस्था द्वितीया, द्वितीया च प्रथमा कर्तुं न पार्यते इति तयोर्विकारे नियतैवानुपूर्वी एवं प्रतिपत्तॄणां स्फोटप्रतिपत्तौ व्यञ्जकबुद्धिक्रममन्तरेण अशक्त्या बुद्धिषु नियतः क्रम इति ॥ ९१ ॥

तात्पर्य यह है कि जैसे दूध से दही बनने में पहले दूध कुछ गाढ़ा होता है फिर धीरे धीरे गाढ़ता बढ़ती जाती है और अन्त में क्रम से सुन्दर सजाव दही तयार हो जाता है अथवा जैसे बीज विकृत हो कर जब वृक्ष बनता है तब पहले बीज दो फाँक हो जाता है फिर अङ्कुर, दोपत्तियां, पल्लव और धीरे धीरे क्रम से बढ़ कर हराभरा वृक्ष बन जाता है यहाँ किसी राष्ट्रपति राज्यपाल या मंत्री का आदेश बढ़ने के क्रम में उलट फेर नहीं कर सकता। अतः इनके विकार में क्रम नियत ही है वैसे स्फोट के ग्रहण में भी व्यञ्जक बुद्धि में क्रम नियत ही मानना पड़ता है ॥ ९१ ॥

येऽपि हि मीमांसका नित्यत्वं शब्दानामभ्युपगच्छन्तः संहतवर्णानामेव पदत्वं वाक्यत्वं चातिष्ठमाना वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं वा न मन्यन्ते तैरपि अभिव्यञ्जकध्वनिक्रमकृतैव घटपटादिपदानां भेदप्रतिपत्तिर्वाच्या न प्रत्येकवर्णाभिव्यक्तिकृता पदस्वरूपानवधारणप्रसङ्गात् नापि युगपत्सर्ववर्णाभिव्यक्तिकृता नदीदीनयोरविशेषप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—

जो मीमांसक शब्द को नित्य संहत वर्णों को ही पद और वाक्य मानते हैं उन्हें भी अभिव्यञ्जक ध्वनिक्रम के द्वारा ही घट और पट आदि पदों में भेद प्रतीति माननी पड़ेगी।

भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात्।
निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम् ॥ ९२ ॥

मीमांसकाभिमतेषु भागवत्स्वपि समुदितवर्णरूपेषु तेषु सखण्डपदवाक्येषु ध्वनेः क्रमात् ध्वनिगतक्रमेण एव रूपभेदः नदीदीनशब्दयोः स्वरूपभेदः न तु वर्णगतक्रमेण तन्मते नित्यानां विभूनां च वर्णानां कालतो देशतो वा पौर्वापर्यविरहात्। यदुक्तं श्लोकवार्तिके 'वर्णाः सर्वगतत्वाद्धि न स्वतः क्रमवृत्तयः' इति किन्तु क्रमवर्तिनः ध्वनयः क्रमेण वर्णानभिव्यञ्जन्तः स्वीयं क्रमं वर्णेषु दर्शयन्तः वर्णाभेदेऽपि नदीदीनशब्दयोः परस्परं भेदमवभासयन्ति। एवं पूर्वार्द्धेन वर्णनित्यत्वमभ्युपगम्य समुदितवर्णपदरूपसखण्डपदवाक्यस्फोटवादिनां मीमांसकानां मतमुक्त्वा उत्तरार्द्धेनाखण्डस्फोटवादिनां मतमाह—निर्भागेष्विति। वा अथवा यथा सखण्डपदवाक्यस्फोटवादिनां पूर्वपूर्ववर्णानां सखण्डपदादिबोधे उपायता तथा निर्भागेषु अखण्डपदादिस्फोटेषु भागभेदप्रकल्पनम् उपायः इत्यर्थः ॥

जैसे मीमांसक के मत से समुदित वर्ण रूप अखण्ड पद और वाक्यों में ध्वनि के क्रम से ही नदी दीन आदि पदों का स्वरूप भेद है। (वर्णगत क्रम से नहीं) क्योंकि इनके मत से नित्य और विभु वर्णों का कालिक सम्बन्ध या दैशिक सम्बन्ध से पूर्वापरीभाव नहीं माना जाता) वैसे अखण्ड पद, वाक्य स्फोट में भी वर्ण, पद और वर्णावयव आदि कल्पनाएँ एक प्रकार के उपाय हैं।

सखण्डाखण्डस्फोटप्रतिपत्त्युपायस्योभयोः साम्येऽपि सखण्डस्फोटवादिमते अनन्तपदानां वाचकत्वस्य अनन्तध्वनीनां व्यञ्जकत्वस्य च कल्पनापेक्षया लाघवेन एकोऽखण्डः स्फोट एव वाचकः। स च आकाशवृत्तिः शब्दब्रह्मरूपो मध्यमानादव्यङ्ग्यः तत्राभिव्यञ्जकवायुनिष्ठं तत्तस्थानाभिघातव्यङ्ग्यं कत्वादिकं भासते। कत्वादिवैजात्याक्रान्तैः स्वरूपरूपितस्य भानम्। तदनाक्रान्तैस्तु ध्वनिरूपेण। अकारादीनामैक्यमकारककारादीनां चानेकत्वमिति मीमांसकमतं तु न युक्तम् अनन्तवर्णानामनन्तध्वनीनां च कल्पने गौरवात्। न च स्फोटस्यैक्ये ककारहकारयोरभेदव्यवहारापत्तिः। विशेष्यांशमादायाभेदेऽपि उपाध्यनालिङ्गिततत्प्रतीत्यभावेन व्यञ्जकगतवैजात्येन भेदव्यवहारादिति भावः॥

इदं त्ववधातव्यम्—वर्णा एव तु पदम् इति वादिनो मीमांसका उत्तरोत्तरवर्णोपलब्धिवेलायामपि पूर्वपूर्ववर्णाः स्मृत्यानुसंधीयन्ते तेनान्त्यवर्णोपलब्धावपि पूर्वे स्मर्यन्ते। तेन येयं सद्रूपान्त्यवर्णविषये प्रत्यक्षा, पूर्वेषु चातीतेषु स्मृतिरूपा चित्रस्वरूपा बुद्धिः सैवार्थप्रतीतौ निमित्तमिति वदन्ति; तन्न क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूतानामविशेषेणार्थबोधकत्वापत्तेः। क्षणस्यास्मदादिमनोभिरग्राह्यतया तद्घटितस्य पूर्वापरीभावरूपस्य क्रमस्यानुभवाविषयत्वेन न स्मृतिविषयता। न चायं दोषः अखण्डस्फोटवादिनोऽपि समान इति वाच्यम् प्रत्येकमेव प्रयत्नभेदभिन्नध्वनिभिः परस्परविसदृशतत्तत्पदव्यञ्जकैस्तुल्यस्थानकरणनिष्पन्नत्वेन गणगौरगौरित्यादौ गत्वेन सदृशैरेकोप्यनेक इवानवयवोपि सावयव इव व्यज्यते। तत्र यथा दूराद्वनस्पतौ पूर्वेऽव्यक्ताः प्रत्ययाः व्यक्तवनस्पतिप्रत्ययजनकाः तथा पूर्वे ध्वनयः अव्यक्तस्फोटग्रहणसमर्थाः पश्चाद्व्यक्तं स्फोटं व्यञ्जयन्ति। न चेयं विधा वर्णानामर्थप्रत्ययजनने संभवति। न हि ते पूर्वमव्यक्तमर्थधियं जानन्तीति शक्यमाख्यातुम् प्रत्यक्षज्ञान एव तथा नियमात्। वर्णाधेयस्त्वर्थप्रत्ययः न प्रत्यक्षः वर्णेभ्यो जायमानोऽर्थप्रत्ययः स्फुट एव जायेत न वा जायेत नत्वस्फुट इति विशेषादिति। यदाहुर्मण्डनमिश्राः 'प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता। मानान्तरेषु ग्रहणमथवा नैव हि ग्रहः॥ इन्द्रियं हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतुः यथा दूराद्ग्रहणे सूक्ष्मार्थनिरूपणायां च। लिङ्गशब्दादस्तु निश्चितात्मानं प्रत्ययमुपजनयन्त्येकरूपं नैव वा तत्र व्यक्तग्रहणबुद्धिभेदः अर्थश्च शाब्दप्रत्ययावसेयः स्फोटात्मा प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवद्यम्' इति॥

ननु कथमन्यगतेन भेदेनान्यत्र भेदावसाय इति चेद्यथा नान्यारूढा वेगेन

धावन्तश्च पुरुषाः पर्वतादीन् गच्छन्तः मन्यन्ते, यथा च पित्तोपहतेन्द्रियाः मधुरं तिक्तरूपेण मन्यन्ते तथेहापि भ्रान्त्या अन्यगतेन भेदेनान्यत्र भेदावसाये बाधकाभाव इति गृहाण ॥ तदुक्तं श्लोकवार्तिके—

मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया तथा ।
गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषयं भ्रान्तचेतसः ॥
तथा वेगेन धावन्तो नाव्यारूढाश्च गच्छतः ।
पर्वतादीन् विजानन्ति भ्रमेण भ्रमतश्च तान् ॥
व्यञ्जकस्थमबुध्वैव व्यङ्ग्ये भ्रान्तिर्भविष्यति ॥ इति ॥ ९२॥

इस प्रकार इतनी कारिकाओं से यह सिद्ध किया गया कि अखण्ड वाक्य स्फोट ही वाचक है और वर्ण, पद आदि भेद काल्पनिक हैं ॥ ९२ ॥

तत्र अखण्डस्फोटवादिषु शब्दानित्यत्वमभ्युपगम्य अखण्डायाः शब्दगतजातेर्वाचकत्वमभ्युगच्छतां जातिस्फोटवादिनां मतमाह—

जो लोग अखण्ड शब्दगतजाति को वाचक मानते हैं उन जातिस्फोटवादियों का मत है कि—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ।
कैश्चिद्व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥ ९३ ॥

कैश्चित् आकृतिनित्यत्वाच्छब्दनित्यत्वमाचक्षाणैः अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या अनेकाभिर्वर्णव्यक्तिभिरभिव्यङ्ग्या इदं घटपदम् इदं घटपदम् इत्यनुगतप्रतीत्या घटोपस्थितिं प्रति घटपदज्ञानत्वेन हेतुत्वेन तदवच्छेदकतया च सिद्धा घटपदत्वादिरूपा जातिः स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः बोधिका इति स्मृता लाघवात् अर्थगतजातेः शक्यत्वमिव शब्दगतजातेः शक्तत्वमिति भावः । अभिव्यक्तजातेर्बोधकत्वकथनात् जातेर्नित्यतया सर्वदार्थबोधापत्तिः परिहृता अस्या जातेः ध्वनित्वेन व्यञ्जकत्वेन व्यक्तयः जात्याश्रयीभूता उत्पत्तिमत्यः शब्दव्यक्तय एव प्रकल्पिताः स्वीकृताः । वर्णा एव ध्वनयः वर्णानां ध्वनिनैयत्येनाभेदोपचारात् । अत एव पस्पशायाम् 'अथ गौरित्यत्र कः शब्द' इति प्रश्ने लोकेऽर्थबोधकत्वेन गृहीतो ध्वनिः वर्णात्मकशब्दसमूहः इत्यर्थकम् 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द' इत्युक्तम् । अत एव च क.व्यप्रकाशे 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारकृतः' इत्युक्तमिति भावः ॥

अनेक वर्ण व्यक्तियों से अभिव्यक्त होने वाली घटत्वपटत्व आदि जाति ही स्फोट की बोधिका है। और इस जाति की व्यञ्जक जात्याश्रयीभूत उत्पन्न होनेवाली शब्द व्यक्तियाँ ही स्वीकृत हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति स्फोटवादी के अनुसार अत्व जाति न मान कर अकार व्यक्ति को ही नित्य मानेंगे तो उचित नहीं। क्योंकि अर्कः अश्वः अर्थः इत्यादि पदों में एक अकार नहीं रह सकता। अतः अकार अनेक हैं और अत्व जाति से ही सोयं अकारः यह प्रत्यभिज्ञामी बन जाती है। इसलिये जातिस्फोट ही मानना चाहिये ॥ ९३ ॥

व्यक्तिस्फोटवादिना हि अत्वादिजातिर्नाभ्युपेयते अकारादिव्यक्तेरेवैकत्वं नित्यत्वं चाभ्युपगम्यते तच्च न युक्तम् अकारादिव्यक्तेरेकत्वे दण्ड अग्रम् इत्यत्र कालव्यवायः, दण्ड इत्यत्र शब्दव्यवायः अश्वः, अर्कः, अर्थ इत्यत्र युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलम्भश्च नोपपद्येतेति अकारादीनां नानात्वमभ्युपेयम् ततश्च तद्गतजात्यैव सोऽयमकार इति प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ नाकारादिव्यक्तीनां नित्यत्वमास्थेयम् इति जातिस्फोटवादिन आकूतम् ॥९३॥

घटपदत्वादिजातिमनङ्गीकुर्वतामेकं नित्यं शब्दतत्त्वमङ्गीकुर्वतां सिद्धान्तिनां मतमाह—

जो लोग घटपदत्व रूपा जाति नहीं मानते किन्तु नित्य और एक शब्दतत्त्व मानते हैं उन सिद्धान्तवादियों का मत है कि—

अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः ।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत् ॥ ९४ ॥

प्रकाशवत् यथा प्रदीपप्रकाशः स्वानाश्रितस्य स्वसम्बद्धस्य घटादेः स्वरूपाविभागेन उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति तथा निमित्तैः तत्तद्वर्णपदवाक्यविषयकप्रयत्नप्रेरितवाय्वभिघातरूपकारणैः विकृतः प्राप्तविकारः उत्पन्न इति यावत् ध्वनिः स्वानाश्रितस्य स्वसम्बद्धस्य अविकारस्य विकाररहितस्य नित्यस्य आन्तरस्य शब्दस्य एकस्य शब्दतत्त्वस्य स्वरूपरूषितत्वेनोपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति शब्दस्येत्यत्रैकत्वं विवक्षितमिति ध्येयम् ॥ ९४ ॥

जैसे प्रदीप का प्रकाश अपने स्वरूप के साथ घट का प्रकाशक होता है। वैसे उन उन वर्णों के उच्चारण के लिए प्रयत्न से प्रेरित वायु के आघातरूपी कारणों से विकृत (उत्पन्न) ध्वनि अपने से सम्बद्ध विकार रहित नित्य आन्तर शब्दतत्त्व की उपलब्धि में निमित्त बनता है ॥९४॥

ननु नित्यः शब्दो ध्वनिनाभिव्यज्यत इति न युक्तमभिव्यङ्ग्यस्य घटादेरनित्यत्वदर्शनेन अभिव्यङ्ग्यत्वस्यानित्यत्वव्याप्यत्वावगमेन शब्दोऽनित्यः अभिव्यङ्ग्यत्वाद् घटवदित्यनुमित्या शब्दस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् अनभिव्यङ्ग्यत्वे चानभिव्यङ्ग्यस्य कादाचित्कभानविषयस्य जन्यत्वनियमेन सुतरामनित्यत्वमत आह—

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'नित्य शब्द ध्वनि से अभिव्यक्त होता है। किन्तु जो अभिव्यक्त है घट आदि वह नित्य नहीं है। इसलिए अभिव्यङ्ग्यत्व अनित्यत्व का व्याप्य है। तब ध्वनि से अभिव्यक्त शब्द नित्य नहीं हो सकता' यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि—

× नचानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता ।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते ॥ ९५ ॥

आश्रयैः जातीनामाश्रयैः घटादिभिर्नित्यानां जातीनां व्यक्तिः अभिव्यक्तिरिष्यते । अतः अनित्येषु घटादिषु नियमेन अभिव्यक्तिः न च व्यवस्थिता अनित्यमेवाभिव्यङ्ग्यमिति न नियम इति अभिव्यङ्ग्यत्वं नानित्यत्वव्याप्यमिति यावत् । नित्याया जातेरपि अभिव्यङ्ग्यत्वस्य दर्शनेन अनित्यत्वव्यभिचारि अभिव्यङ्ग्यत्वं नानित्यत्वसाधनक्षममिति भावः ॥ ९५ ॥

घटत्व आदि जातियों के आश्रय अनित्य घट आदि पदों से नित्य घटत्व जाति की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'अभिव्यक्ति अनित्य की ही होती है' ॥९५॥

ननु समानदेशस्था एव घटादयः समानदेशस्थैर्दीपादिभिरभिव्यज्यन्ते न गृहान्तरस्था गृहान्तरस्थैरिति दर्शनात्। समानदेशस्थयोरेव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव एष्टव्य इति ताल्वोष्ठादिव्यापारजन्यैः शब्दजशब्दन्यायेन श्रोत्रदेशस्थितैर्ध्वनिभिः कथमान्तरस्य स्फोटस्याभिव्यङ्ग्यता तदभावे चागतं शब्दानित्यत्वमत आह—

यद्यपि जैसे समानदेशस्थ दीप समान देशस्थ घट का प्रकाशक है किन्तु गृहान्तरस्थ दीप गृहान्तरस्थ घटका प्रकाशक नहीं होता। वैसे ओष्ठ तालु आदि स्थानों में उत्पन्न और शब्दजशब्द न्याय से श्रोत्र देश तक आई हुई ध्वनि आन्तरस्फोट को व्यक्त नहीं कर सकती क्योंकि दोनों का देश समान नहीं है। तथापि—

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः ॥ ९६ ॥

इह लोके कायवतां मूर्तानां परिच्छिन्नपरिमाणवतां घटादीनां देशादिभिः सम्बन्धः अयमेतद्देशस्थः अयमेतद्देशस्थः इत्येवंरूपो दृष्टः नामूर्तस्य शब्दस्य तस्य व्यापकत्वेन सर्वदेशस्थत्वेन देशदेशिव्यवहाराभावात्। एवं च शब्दो नाभिव्यङ्ग्यःव्यञ्जकभिन्नदेशस्थत्वादिति स्वरूपासिद्धो हेतुरिति भावः। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन ध्वनिशब्दयोः देशभेदव्यवहारमभ्युपेत्याह—देशभेदविकल्पेऽपीति। ध्वनिशब्दयोः देशभेदविकल्पेऽपि देशयोः श्रोत्रहृदयाकाशरूपयोः औपाधिकभेदवत्त्वेऽपि वस्तुत आकाशस्य एकत्वेन न देशभेदः। अथ च औपाधिको भेद आश्रीयते तर्हि सा भेदप्रतीतिर्वस्तुशून्यतया विकल्पः तस्मिन् आश्रितेऽपि न भेदः नाधिकरणदेशभेदः ध्वनेः श्रोत्रद्वारा हृदयदेशगमनेन[1] उभयोरेकदेशस्थत्वादिति भावः॥ तदुक्तं भाष्ये 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः एकं च पुनराकाशम्' इति। कायवतामपीति पाठे कायवतां परिच्छिन्नपरिमाणवतामपि सूर्यादीनामेकदेशस्थानामनेकदेशे प्रतिपात्रं प्रतिबिम्बानामभिव्यक्तिर्दृश्यते। यदाहुः—'आहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रं पृथक् पृथक्। भिन्नानि प्रतिबिम्बानि जायन्ते युगपन्मम' इति किं पुनर्विभोः शब्दस्य सर्वगतत्वेन ध्वनिदेशस्थत्वादिति भावः॥ ९६ ॥

इस लोक में मूर्त या देहवानों (घट आदिकों के ही देश आदि सम्बन्ध होते हैं, अर्थात् ऊपर लिखा नियम मूर्तों के लिये है) अमूर्त ध्वनि और शब्द तो भिन्न भिन्न (जैसे ध्वनिका

---

१. तदुक्तं परमलघुमञ्जूषायाम् 'अत्रेदं बोध्यम्—केनचिद्धटमानयेति वैखरीनादः प्रयुक्तः स केनचिच्छ्रोत्रेन्द्रियेण गृहीतः। स नाद इन्द्रियद्वारा बुद्धिहृद्गतः (बुद्ध्यान्तःकरणेन हृदयदेशं गतः) सन्नर्थबोधकं शब्दं स्वनिष्ठकत्वादिना व्यञ्जयति तस्मादर्थबोधः। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोटः। उच्चारयितस्तु युगपदेव मध्यमावैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते। तत्र वैखरीनादो बहिः फूत्कारवन्मध्यमानादोत्साहकः मध्यमानादः स्फोटं व्यञ्जयतीति शीघ्रमेव ततोऽर्थबोधः। परस्य विलम्बनानुभवसिद्धत्वात्' इति।

श्रोत्राकाश और शब्द हृदयाकाश) देश में रहता है फिर भी स्थान भेद नहीं है। क्योंकि आकाश एक है और ध्वनि भी श्रोत्र द्वारा हृदयाकाश में पहुँचती है ॥ ९६ ॥

ननु जन्यजनकयोरेव नियतत्वं दृश्यते यथा तन्तुभिरेव पटः कपालाभ्यामेव घट इत्यादिः। न तु व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः घटव्यञ्जकेनापि दीपेन पटादेरभिव्यक्तेः। किंच नाभिव्यङ्ग्यत्वेऽभिव्यञ्जकनियमः मणिप्रदीपौषधिभिरपि घटाद्यभिव्यक्तेः। एवं च यदि ध्वनिशब्दयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः स्यात् तदा कण्ठाभिघातजेन ध्वनिना अकार एव ताल्वाद्यभिघातजेन चकार एवेति नियमो न स्यात् दृश्यते तु नियमः अतो ध्वनिशब्दयोर्जन्यजनकभाव एव न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्याशङ्कायामाह—

यद्यपि जन्य और जनक (घट और कपाल, तन्तु और पट) की ही नियमितता देखी गई है व्यङ्ग्य और व्यञ्जक की नहीं। तथापि—

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ ९७ ॥

यथा गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणं चक्षुरादि, ग्राह्यं रूपादि तयोः ग्रहणग्राह्ययोः योग्यता चक्षुषि रूपग्राहकता घ्राणे गन्धग्रहकता, रूपे चक्षुर्ग्राह्यता गन्धे घ्राणग्राह्यता नियता चक्षुरेव रूपग्राहकं घ्राणमेव गन्धग्राहकमिति नियतत्वेन सिद्धा तथैव स्फोटनादयोः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन योग्यता नियता कण्ठाद्यभिघातजध्वनिरेवाकारादीनां व्यञ्जको नान्य इति ॥ ९७ ॥

जैसे ग्रहण (इन्द्रिय) और ग्राह्य (रूप आदि) की योग्यता नियत है। (अर्थात् चक्षु इन्द्रिय रूप का घ्राणेन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करती है तथा रूप चक्षु से गन्ध घ्राण से गृहीत होता है। और उन उन वस्तुओं के ग्रहण में नियत है) वैसे स्फोट और नाद की व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव से योग्यता नियत है (अर्थात् कण्ठदेश के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि ही अकारादि की व्यकञ्जक है) ॥ ९७ ॥

ननु द्विविधानीन्द्रियाणि कानिचित् स्वसजातीयद्रव्यमात्रसमवेतगुणग्राहकाणि यथा घ्राणं श्रोत्रं च, कानिचित्स्वसजातीयविजातीयद्रव्यगतगुणग्राहकाणि यथा चक्षुः रसना त्वक् च। चक्षुर्हि स्वसजातीयस्य तेजस इव विजातीयस्य पृथिव्यादेरपि रूपस्य ग्राहकम्, एवं रसनापि स्वसजातीयस्य जलस्येव पृथिव्या अपि रसस्य ग्राहिका, एवं त्वगपि स्वसजातीयस्य वायोरिव विजातीयस्य पृथिव्यादेरपि स्पर्शस्य ग्राहिका। घ्राणश्रोत्रे तु स्व[1] सजातीयपृथिव्याकाशसमवेतयोरेव गन्धशब्दगुणयोर्ग्राहके इति ते सदृशग्राहके अन्यानि विसदृशग्राहकाणि। ततश्च रूपरसस्पर्शा विसदृशेन्द्रियग्राह्याः गन्धशब्दौ सदृशेन्द्रियग्राह्यौ तत्र सदृशेन्द्रियग्राह्ये गन्धेऽभिव्यञ्जकनियमो नास्ति इति तादृशे शब्देऽपि अभिव्यञ्जकनियमेन न भवितव्यम्, भवति तु स इति शब्दस्य अभिव्यङ्ग्यतां व्यावर्तयन् उत्पाद्यतामापादयतीति शब्दस्यानित्यत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—

१. जातिरत्रासाधारणधर्मोऽभिप्रेतः तेन आकाशत्वस्य जातित्वाभावेऽपि नाकाशे श्रोत्रसजातीयत्वक्षतिः। वैयाकरणमते तु आकाशत्वमपि जातिरिति मन्तव्यम्।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो स्वसजातीय द्रव्य मात्र में समवेत गुण का ग्रहण करती हैं। जैसे घ्राण और श्रोत्र। और दूसरी स्वजातीय तथा स्वविजातीय द्रव्य समवेत गुण का ग्रहण करती हैं। जैसे चक्षु, रसना और त्वक्। तैजस आँख सजातीय तेज के और विजातीय पृथ्वी के भी रूप का, रसना सजातीय जल और विजातीय पृथ्वी के रस का और त्वक् सजातीय वायु और विजातीय पृथ्वी के स्पर्श का ग्रहण करती है। घ्राण और श्रोत्र तो स्वसजातीय पृथिवी और आकाश में समवेत गन्ध तथा शब्द गुणों के ग्राहक हैं। 'इस प्रकार सदृशेन्द्रियग्राह्य गन्ध में जब अभिव्यञ्जक का नियम नहीं है तब सदृशेन्द्रिय ग्राह्य शब्द में भी अभिव्यञ्जक नियम नहीं होगा। किन्तु जन्यजनक भाव ही मानना चाहिये।' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्॥ ९८॥

सदृशं स्वाश्रयसदृशमिन्द्रियं ग्रहणं ग्राहकं येषां तेषां **सदृशग्रहणानां गन्धादीनां प्रकाशकम्** अभिव्यञ्जकं **निमित्तं प्रतिद्रव्यं लोके नियतमवस्थितम्** कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकं गोघृतं नियतं वर्तते। एवं च सदृशेन्द्रियग्राह्ये गन्धेऽभिव्यञ्जकनियम इव तादृशे शब्देऽभिव्यञ्जकनियम आस्तां न चैतावता गन्ध इव अभिव्यङ्ग्यत्वहानिरित्यर्थः॥ ९८॥

जैसे समान इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले गन्ध आदि गुणों का प्रकाशक (व्यञ्जक) प्रत्येक द्रव्य के आधार पर कोई कोई द्रव्य नियत है। (जैसे गोघृत कुंकुम गन्ध का अभिव्यञ्जक है) वैसे सदृशेन्द्रियग्राह्य शब्द की भी अभिव्यञ्जकता बनती। ॥ ९८॥

यद्वा ननु केचिद्विसदृशग्रहणग्राह्या यथा घटादयः केचित्सदृशग्रहणग्राह्या यथा गन्धादयः। तथाहि-गन्धादीनां[1] सजातीयमेव व्यञ्जकं दृष्टं पार्थिवं घ्राणं गन्धेन गन्धान् व्यनक्ति, आप्यं रसनं रसेन रसान्, तैजसं चक्षूरूपेण रूपाणि, वायवीयं त्वगिन्द्रियं स्पर्शेन स्पर्शान् तत्र योऽयं 'ग्रहणग्राह्ययोः' इति नियमो भवतोपदर्शितः स विसदृशग्रहणग्राह्यविषयः शब्दश्च सदृशग्रहणग्राह्यः तत्र च नाभिव्यञ्जकनियमो गन्धादिष्वदर्शनात् इति गन्धादिवैधर्म्याच्छब्दो नाभिव्यङ्ग्यः स्यादित्यत—सदृशेति। सदृशं विषयसदृशमिन्द्रियगतं रूपादिकं ग्रहणं ग्राहकं येषामिति विग्रहः शेषं पूर्ववत्। अस्मिन्पक्षे सदृशग्रहणा रूपादयः विसदृशग्रहणा घटादय इति बोध्यम्॥ ९८॥

अथवा—कुछ विसदृश इन्द्रिय ग्राह्य हैं जैसे घट, और कुछ सदृशेन्द्रिय ग्राह्य हैं जैसे गन्ध आदि। क्योंकि पार्थिव घ्राण से गन्ध, जलीय रसना से रस का ग्रहण होता है। अतः जो नियम ग्रहण और ग्राह्य के बारे में बने हैं वे विसदृश इन्द्रियग्राह्य के बारे में हैं शब्द तो सदृशेन्द्रिय ग्राह्य है अतः उक्त नियम शब्द के लिए स्वीकार करना उचित नहीं है॥ ९८॥

ननु अभिव्यञ्जकानां दीपादीनां वृद्धिह्रासाभ्यामभिव्यङ्ग्यस्य घटस्य वृद्धिह्रासौ न दृष्टचरौ न वा दीपसहस्रैरभिव्यङ्ग्यस्य घटस्य नानात्वं दृष्टचरम्। इह तु अभिव्यञ्जकस्य प्राकृतध्वनेर्वृद्धिह्रासाभ्यामभिव्यङ्ग्यस्य स्फोटस्य वृद्धिह्रासौ प्राकृतध्वनिभेदेन चैकस्यैव

---

१. इयं व्याख्या न्यायरत्नाकरानुरोधिनीति वेदितव्यम्। प्रथमव्याख्यां सदृशग्रहणानामिति पदस्य न तथा स्वारस्यं यथास्याम्।

स्फोटस्य घट इति पट इति भेदश्चानुभूयते इति अभिव्यङ्ग्यधर्माभावात् स्फोटो ना-
भिव्यज्यते किन्तूत्पद्यते एवेति न स्फोटस्य नित्यता स्यादत आह—

जो लोग स्फोट की अभिव्यक्ति का खण्डन करने के लिए कहते है कि जैसे अभिव्यञ्जक
दीपक के वृद्धि और ह्रास से घट में वृद्धि और ह्रास नहीं होता तथा सैकड़ों दीपकों से
देखा गया घट भी अनेक नहीं होता। वैसे अभिव्यञ्जक प्राकृतध्वनि के वृद्धि और ह्रास से
अभिव्यङ्ग्य स्फोट में वृद्धि और ह्रास और अनेक प्राकृत ध्वनियों से घट पट आदि अनेक
स्फोटों की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु होती है। अतः स्फोट व्यङ्ग्य नहीं है'
यह कहना असङ्गत है। क्योंकि—

प्रकाशकानां भेदाँश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते ।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिविम्बके ॥ ९९ ॥

प्रकाशकानाम् अभिव्यञ्जकानां भेदान् संख्याः चाद् वृद्धिह्रासाँश्च प्रकाश्यः
अभिव्यङ्ग्यः अर्थः अनुवर्तते अभिव्यञ्जकभेदेऽभिव्यङ्ग्यभेदः अभिव्यञ्जकवृद्धौ अभि-
व्यङ्ग्यवृद्धिः अभिव्यञ्जकह्रासे अभिव्यङ्ग्यह्रासश्च दृश्यते, क्व दृश्यते इत्याह—तदिति।
तत् अभिव्यङ्ग्यस्य भेदः नानात्वं तैलोदकादिभेदे प्रतिविम्बके प्रत्यक्षं तद्यथा तैले
श्यामं जले रक्तं, वज्रमणौ लघु ततो दीर्घं दर्पणे ततो दीर्घं जले, खड्गे दीर्घं मुकुरे वर्तुलमि-
ति अभिव्यञ्जकवृद्धिह्रासयोः अभिव्यङ्ग्यस्य मुखस्य वृद्धिह्रासौ अभिव्यञ्जकस्य दर्पण-
जलपात्रादेश्च नानात्वे अभिव्यङ्ग्यस्य मुखप्रतिविम्बस्य सूर्यचन्द्रप्रतिविम्बस्य च नाना-
त्वं एकस्यैव चैतन्यस्य अन्तःकरणाद्युपाधिभेदेन नानात्वं च दृश्यते इति अभिव्यञ्जक-
वृद्धौ अभिव्यङ्ग्यवृद्धेः अभिव्यञ्जकभेदे अभिव्यङ्ग्यभेदस्य च दृष्टत्वादभिव्यञ्जक-
ध्वनेर्भेदे वृद्धौ चाभिव्यङ्ग्यस्य स्फोटस्य भेदो वृद्धिश्च न स्फोटाभिव्यङ्ग्यताविघातकौ
इति भावः। तथा च 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुग-
च्छन्' इति श्रुतिः' 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इति स्मृतिश्च ॥ ९९ ॥

अभिव्यञ्जक के भेद (संख्या, वृद्धि और ह्रास) से अभिव्यङ्ग्य का भेद (संख्या, वृद्धि और
ह्रास) भी होता है। इसका प्रत्यक्ष तेल और जल आदि के प्रतिबिम्ब में किया जा सकता है।
जैसे एक ही व्यक्ति के मुख का प्रतिबिम्ब तेल में श्याम, जल में गौर, वज्रमणि में छोटा,
दर्पण में बड़ा, जल में उससे भी बड़ा, तलवार में लम्बा, दर्पण में गोल दिखाई पड़ता है
इससे यह सिद्ध होता है कि अभिव्यञ्जक के वृद्धि और ह्रास से अभिव्यङ्ग्य का वृद्धि और ह्रास
तथा अभिव्यञ्जक के भेद में अभिव्यङ्ग्य का भेद भी होता है। इसलिए अभिव्यङ्ग्य में भेद,
वृद्धि और ह्रास नहीं होना यह कहना अनुचित है ॥ ९९ ॥

ननु चन्द्रादिभ्योऽन्यत् प्रतिबिम्बं दर्पणादिषूत्पद्यते तच्च नानैव इति नाभि-
व्यञ्जकभेदेनाभिव्यङ्ग्यभेदः प्रतिबिम्बस्थले इति दृष्टान्तासङ्गतिरत आह—

जो लोग कहते हैं कि चन्द्र और चन्द्र के प्रतिबिम्ब में भेद है। प्रतिबिम्ब अनेक
है वह ही दर्पण आदि में दिखाई पड़ता है। अतः प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त मानकर अभिव्यङ्ग्य
और अभिव्यञ्जक भेद नहीं बन सकता। उनका कहना भी असङ्गत है। क्योंकि—

विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शजलादिषु ।
पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः ॥ १०० ॥

पर्वतपरिमाणापेक्षया विरुद्धं भिन्नमल्पं परिमाणं येषां तेषु विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शजलादिषु लघुपरिमाणेषु पर्वतादिसरूपाणां महापरिमाणानां भावानां पर्वतादीनां चन्द्रादीनां च सम्भवः उत्पत्तिसम्भवः नास्ति।

अयं भावः यन्महापरिमाणानां पर्वतहस्त्यादीनां लघुपरिमाणेषु दर्पणादिषु समावेशाभावेन तदारम्भकाणां तदवयवानां भानाभावेन तत्र नोत्पत्तिसम्भवः किन्तु दर्पणादिसम्बन्धे तेषामेव पर्वतादीनां तथावभासो जायते इति न दृष्टान्तासंगतिः ॥ १०० ॥

पर्वत के परिमाण की अपेक्षा अल्पपरिमाण वाले वज्र और दर्पण आदि छोटी वस्तुओं में महापरिणाम वाले पर्वत और चन्द्र आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मानना पड़ेगा कि बड़े परिमाण वाले पर्वत आदि अल्पपरिमाण वाले दर्पण में समाविष्ट नहीं हो सकते फिर भी उनकी दर्पण में उत्पत्ति नहीं होती किन्तु बड़े परिमाण वाले पर्वत ही दर्पण में अभिव्यक्त होते हैं ॥ १०० ॥

एवं व्यञ्जकध्वनिकालकृतं स्फोटे कालभेदमुपपाद्योपसंहरति—

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु ।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभाव्यते ॥ १०१ ॥

तस्मात् व्यङ्ग्ये व्यञ्जकधर्मानुगमदर्शनात् अभिन्नकालेषु स्वतः कालभेदरहितेषु वर्णवाक्यपदादिषु तदाख्यस्फोटेषु नादभेदात् प्राकृतवैकृतध्वनिभेदात् वृत्तिकालः द्रुतादिवृत्तिकालः स्वकालः स्वीयस्य—स्वाभिव्यञ्जकस्य प्राकृतध्वनेर्मात्रादिकालश्च विभाव्यते प्रतीयते न तु तत्र वास्तवस्तादृशकालसम्बन्धोऽस्तीति भावः ॥ इयांस्तु विशेषः यत् प्राकृतः स्फोटेऽध्यस्यमानः ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदव्यवहारकारणं वैकृतस्तु शब्देऽवधारिते भवन् गृहीतभेदत्वात् नाध्यारोपनिमित्तं किन्तु वाह्यद्रुतादिकालव्यवस्थाकारणम् तावत्कालं स्फोटोपलम्भकारणमिति यावत्। तेन च न स्फोटभेद इति ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिकं च ध्वनिधर्म एवेति स्फुटमुक्तं श्लोकवार्तिके—'स्वतो ह्रस्वादिभेदस्तु नित्यवादो विरुध्यते। सर्वदा यस्य सद्भावः स कथं मात्रिकः स्वयम् ॥ तस्मादुच्चारणं तस्य मात्रं कालं प्रतीयताम्। द्विमात्रं वा त्रिमात्रं वा न वर्णो मात्रिकः स्वयम् ॥' इति ॥ १०१ ॥

इसलिए व्यङ्ग्य में व्यञ्जक धर्मों को देखकर यह मानना पड़ता है कि कालभेद रहित वर्ण, पद और वाक्य स्फोटों में नाद के (प्राकृत और वैकृतध्वनि के) भेद से द्रुतादि वृत्तियों का तथा वर्ण आदि का अभिव्यञ्जक प्राकृति ध्वनि का काल प्रतीत होता है।
किन्तु यहाँ वस्तुतः काल का सम्बन्ध नहीं है ॥ १०१ ॥

इदानीं कार्यपक्षे नादस्फोटयोः स्वरूपमाह—

जो लोग शब्द को अनित्य मानते हैं उनके मत से नाद और स्फोटका स्वरूप है—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ १०२ ॥

करणैः कण्ठताल्वादिभिः संयोगविभागाभ्यां वायुसंयोगविभागाभ्यां यः शब्दः प्रथमम् उपजन्यते स स्फोटः बोधकः उत्तरोत्तरशब्दानां कारणं च ये च शाब्दजाः स्फोटाख्यात् शब्दाज्जातास्ते ध्वनयः अन्यैः स्फोटकार्यत्ववादिभिः आचार्यैः उदाहृताः कथिताः ॥ नित्यत्वपक्षे तु संयोगविभागजध्वनिव्यङ्ग्यः संयोगविभागजध्वनिसंभूतनादाभिव्यङ्ग्यो[1] वा स्फोटः स्फोटरूपानुग्राहकाश्च यथोत्तरमपचीयमानाभिव्यक्तिसमर्थाः द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवोऽपचयात्मका ध्वनय इति ॥

स्फोट को अनित्य मानने वाले तार्किक आचार्यों ने कहा है कि कण्ठतालु आदि के संयोग और विभाग के द्वारा जो उत्पन्न होता है वह स्फोट (वाचक शब्द) है और जो शब्दज शब्द हैं वे ध्वनियाँ हैं ।

वैशेषिकाः संयोगाद्विभागाच्छब्दाद्वा शब्दोत्पत्तिरित्याहुः। तत्र यथा प्रथमं वातेनैका वीचिरुत्पद्यते अनन्तरं तयैव तरङ्गान्तरं तेनाप्यन्यदिति पूर्वपूर्वतरङ्गेभ्य उत्तरोत्तरतरङ्गाणामुत्पत्तिस्तथा भेरीदण्डसंयोगाद् वेणुदलविभागाद्वा शब्द आकाशदेशे निष्पद्यते सचासमवायिकारणतया शब्दान्तरमारभते तच्च शब्दान्तरमिति परम्परया श्रोत्रपथमवतीर्णो गृह्यते । 'भेरीशब्दो मया श्रुत' इति धीस्तु भ्रम एव । अयं वीचीतरङ्गन्यायेन शब्दोत्पत्तिपक्षः ॥

इदमत्रावधेयम्—वैयाकरणा यं प्राकृतध्वनिरिति व्यवहरन्ति तमेव तार्किकाः वाचकशब्दं मन्यते यं च ते वैकृतध्वनिरिति व्यवहरन्ति तं च तार्किकाः ध्वनिरिति व्यवहरन्तीति ॥ १०२ ॥

भेद केवल इतना है कि वैयाकरण जिसे प्राकृत-ध्वनि कहते हैं तार्किक उसे ही वाचक शब्द (स्फोट) मानते हैं और जिन्हें वैयाकरण वैकृतध्वनि कहते हैं। तार्किक उसे ध्वनि कहते हैं ॥ १०२ ॥

संयोगजो ध्वनिः स्फोटः स्फोटजास्तु ध्वनय इति पूर्वोक्तपक्षे प्रक्रियामाह—

इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते ।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः ॥ १०३ ॥

अल्पे महति वा शब्दे वैकृतध्वनौ जाते स्फोटकालो ह्रस्वाकारादिकालः न भिद्यते शब्दस्य अमूर्तत्वेन अल्पत्वमहत्त्वादिपरिमाणायोगात् किन्तु मुख्याल्पत्वमहत्त्वानां सूचीपर्वतादीनां यथा सूची अल्पदेशं पर्वतश्चाधिकदेशं व्याप्नोति तथा शब्दो-

१. नादपदेन वर्णः ।

ऽपि अल्पमहान्तौ देशौ व्याप्नुवन् अल्पो महान्वा व्यपदिश्यते। सा चाधिकाल्पदेश-व्याप्तिर्वैकृतध्वनिकृता। परः कार्यभूतः शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः अधिक-देशव्याप्तिमान् अल्पदेशव्याप्तिमांश्च भवति। प्रचयोऽधिकदेशव्याप्तिः, अपचयोऽल्पदेश-व्याप्तिः इति कार्यभूतानां वैकृतध्वनीनां वशेन कारणभूता स्फोटशब्दाः अकारादयः प्रचिता उपचिता वा न व्यह्रियन्ते उच्चैरुच्चारिते ह्रस्वाकारे केवलं ध्वनिरधिकदेशं व्याप्नोति अकारस्तु न भिद्यते इति भावः। शब्दोऽत्र ध्वनिः सच द्विविध उत्तरो-त्तरशब्दानां कारणरूपः कार्यरूपश्च। आद्यः स्फोटव्यञ्जकः स्फोट एव वा परः कार्यरूपः। तत्राद्यः प्राकृतः परो वैकृतः। तत्र कारणरूपस्य ध्वनेः कार्यजनने सामर्थ्यं भिद्यते, यथा भेरीदण्डाभिघातजस्य परम्परा दूरमनुपतति लोहकांस्याभिघातजस्य तु प्रत्यासन्नदेश-मिति ॥ १०३ ॥

शब्द (ध्वनि) चाहे छोटी हो या बड़ी किन्तु स्फोट काल (ह्रस्वादिकाल) भिन्न नहीं है। क्योंकि शब्द अमूर्त है। इसलिए अल्पत्व महत्त्व परिमाण का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी जो कार्यरूप शब्द की परम्परा है वह प्रचय (अधिक देश में व्याप्त होना) और अपचय (अल्पदेश में व्याप्त होना) रूप है।

तात्पर्य यह है कि ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत आदि व्यवहार स्फोट में नहीं हो सकते। क्योंकि अमूर्त शब्द में कोई परिमाण नहीं रह सकता। इसलिए ध्वनि का न्यूनदेश में रहना अल्पता और अधिक देश में रहना व्याप्ति महत्ता है ॥ १०३ ॥

अनित्यशब्दवादिनामेव मतान्तरमाह—

शब्द को अनित्य मानने वाले ही कुछ लोगों का मत है—

दूरात्प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते ॥ १०४ ॥

यथा प्रदीपः प्रभया सहोत्पद्यते एवं स्फोटोऽपि ध्वनिना सहोत्पद्यते, यथा प्रदीप-प्रभा दूरव्यापिनी एवं ध्वनिरपि। तत्र तथा दूरात् दीपस्य प्रभा प्रभामात्रं लक्ष्यते न दीपः एवं दूरात् ध्वनिमात्रं लक्ष्यते न स्फोटः 'घण्टादीनां च शब्देषु स्फोटनादयोः स भेदः व्यक्तो दृश्यते आदिपदेन कांस्यपात्रादिकं गृह्यते ॥

जैसे प्रभा के सहित व्यक्त दीपक को दूर से देखिए तो केवल प्रभा ही दिखाई पड़ती है, दीपक नहीं। वैसे ध्वनि के सहित व्यक्त स्फोट नहीं अनुभूत होता किन्तु ध्वनि ही अनुभूत होती है। यह भेद घण्टा आदि के शब्दों में स्पष्टरूप से दिखाई पड़ता है।

केचित् तार्किका वीचीतरङ्गन्यायेन शब्दोत्पत्तिपक्षे सर्वतः प्रसरो नास्तीति सर्वतः प्रसरः शब्दसन्तानस्य यथा स्यादित्येतदर्थं यथा कदम्बगोलके ग्रन्थिदेशः सर्वासु दिक्षु केशरान्प्रसूते तथा आद्यः शब्दो दशसु दिक्षु बहून् शब्दानुत्पादयति तेऽप्यपरान् तेऽप्यरान् उत्पादयन्तीत्याहुः। अयं च कदम्बगोलकन्यायेन दीपप्रभा-न्यायेन वा शब्दोत्पत्तिपक्षः ॥ १०४ ॥

[ये तार्किक वीचीतरङ्गन्याय से शब्द की उत्पत्ति नहीं मानते किन्तु कदम्बगोलकन्याय या

दीपप्रभान्याय मानते हैं। क्योंकि वीचीतरङ्ग में सब दिशाओं में तरङ्ग का प्रसार नहीं होता और दीपकी प्रभा का अथवा कदम्बगोलक का सब दिशा में प्रसार होता है] ॥ १०४ ॥

अव्यवहितश्लोकाभ्यामुक्तमर्थं स्पष्टयति—

इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

द्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ॥ १०५ ॥

द्रव्यं स्थानं करणं च तयोरभिघातः शब्दहेतुभूतसंयोगः कण्ठादिभिर्वायूनां संयोग इति यावत्, तस्मात् **द्रव्याभिघातात् भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि प्रचितौ** ध्वनिकारणवायुसंयोगप्रचयात् दीर्घप्लुतयोः प्रचयः विशिष्टप्रयत्नजनितेन वायुना स्थानेषु अभिघातो जायते तेन च वायौ कम्पो भवति तेनाभिघातपरम्परा भवति। यथा महता प्रयत्नेन वादितायां घण्टायामधिककालं घण्टायां कम्पोऽनुवर्तते तेन च घण्टामध्यस्थेन (लम्बेन) विजुलीपदव्यपदेश्येन पुनः। पुनरभिघातो भवति स च कम्पः शब्दस्वरूपलाभपर्यन्तमनुवर्तते तस्मिन् **कम्पे** स्पन्दे **उपरते** निवृत्ते सति **जाता नादाः** वैकृतध्वनयः **वृत्तेर्हुतावृत्तेः विशेषकाः** भेदव्यवस्थाहेतवो भवन्ति न तु दीर्घप्लुतादेरिति भावः ॥

स्थान और प्रयत्नरूपी द्रव्य में अभिघात (कण्ठादि स्थानों में वायु के संयोग) से प्रचित (बढ़े हुए) दीर्घ और प्लुत आदि भेद हैं। इस अभिघात के जनक कम्पन के समाप्त होने पर जो नाद उत्पन्न होता है उसी से द्रुता आदि वृत्तियों के भेद की स्थापना होती है। दीर्घ प्लुत आदि की नहीं।

इदमत्रावधेयम्—नित्यशब्दपक्षे ध्वनीनां मात्रिकत्वात् नित्ये शब्दे मात्रिकत्वाद्यारोप्यते इति ह्रस्वत्वादिकं नाकारादिधर्मः कार्यशब्दपक्षे तु अकारादीनामेव मात्रिकत्वाद् ध्रस्वत्वादिकं तन्निष्ठमेव वैकृतध्वनिकृतभेदाभावस्तु पक्षद्वयेपि समान इति ॥ १०५ ॥

तात्पर्य यह कि शब्द की उत्पत्ति के पहले जितने कम्प हैं वे प्राकृत ध्वनि के हैं और शब्द के उत्पन्न होने के बाद जो अनुरणन है वह वैकृत ध्वनि का विषय है। नित्यशब्द वादियों के मत से ध्वनि ही मात्रिक हैं ह्रस्वत्व और दीर्घत्व आदि धर्म ध्वनि के हैं और शब्द पर उनका आरोप होता है। कार्य शब्द वादी के मत से तो अकार ही मात्रिक है और ह्रस्वत्व आदि धर्म उसी के हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों से यह सिद्ध हुआ कि ह्रस्वत्व आदि धर्म वैकृत ध्वनि के भेद नहीं हैं ॥ १०५ ॥

मतान्तरमाह—

अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे ।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥ १०६ ॥

करणे वक्त्रादौ अनवस्थितकम्पेऽपि अनुवर्तमानकम्पेऽपि अपरे ध्वनयः

वैकृता ध्वनयः ज्वालान्तरात् ज्वला इव स्फोटादेवोपजायन्ते पूर्वं कम्पनिवृत्तौ नादाभिव्यक्तिरुक्ता इदानीं कम्पसत्त्वे एवेति विशेषः ॥ १०६ ॥

और दूसरे आचार्यों का मत है कि करण (वागिन्द्रिय) में कम्प के रहने पर भी दूसरी ध्वनि (वैकृत ध्वनि) स्फोट से ही उत्पन्न होती है जैसे एक ज्वाला से दूसरी ज्वाला।

इनके मत से प्राकृत ध्वनि की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु प्राकृत ध्वनि से व्यक्त स्फोट ही वैकृत ध्वनि को उत्पन्न करता है ॥ १०६ ॥

इदानीं शब्दविषये मतभेदानाह—

शब्द के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।
कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः ॥ १०७ ॥

कैश्चित् वायोः कैश्चित् अणूनां कैश्चिज्ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते अत्र प्रवादेषु सिद्धान्तेषु दर्शनभेदोऽनवस्थितः अव्यवस्थितः मतत्रयमिति यावत्। अयं वैखरीरूपशब्दविषये मतभेद इति मञ्जूषाकृतः ॥ १०७ ॥

कोई वायु को कोई अणु को और कोई ज्ञान को शब्द मानते हैं। इन सिद्धान्तों के विषय में अभी भी मत भेद बना हुआ है ॥ १०७ ॥

शिक्षाकाराभिमतां वायोः शब्दभावापत्तिमाह—

जिनमें शिक्षाकार का मत है कि—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥ १०८ ॥

वक्तुः इच्छानुवर्तिना शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नेन प्रयत्नेन लब्धक्रियः प्राप्तक्रियो वायुः प्राणवायुः स्थानेषु कण्ठताल्वादिषु अभिहतः शब्दजनकसंयोगाश्रयतां गतः शब्दत्वं प्रतिपद्यते इति सम्बन्धः। तथा च शिक्षा—'वायुः कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते स कण्ठगतः श्वासतां नादतां वा' इति, 'मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति स नाभेरुद्यन् मूर्ध्न्यभिहतो पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते क इति वा ख इति वा' इति च ॥

जब वक्ता को बोलने की इच्छा होती है तब वह कोई प्रयत्न करता है उस प्रयत्न से प्राण वायु में क्रिया उत्पन्न होती है और वही वायु कण्ठ, तालु आदि स्थानों में टकराकर शब्द बन जाता है ॥ १०८ ॥

वायोः शब्दत्वापत्तिः शुक्लयजुः प्रातिशाख्येऽप्युक्ता—तथाहि—'वायुः खात्" [१ अ० ६ सू०] वायुः शब्दस्य कारणं स च खादाकाशादुत्पद्यते इत्युक्त्वा वायो परिणामः शब्दः इति स्पष्टयितुं 'शब्दस्तत्' इति सूत्रान्तरमुक्तं शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मक इति तदर्थः। यदि वाय्वात्मकः शब्दस्तर्हि वायोः सर्वगतत्वात् सर्वत्र शब्दोपलब्धिः स्यादित्यशङ्क्य 'सङ्करोपहितः' इति सूत्रान्तरमुक्तं करणानि कराः समीचीनाः कराः संकराः सम्यक् करणैरुपहितो वायुर्वेणुशङ्खादिभिः शब्दी-

भवति इति तदर्थः। शब्दी-भवतीत्युक्त्या शब्दस्य वायुपरिणामत्वं स्फुटीकृतम्। ततः 'ससंघातादीन् वाक्' इति सूत्रेण शब्दीभूतस्य वायोः वर्णभावापत्तिरुक्ता। अस्यार्थः— यो वायुः वेणुशङ्खादिभिरुपहितः शब्दीभूतः स संघातः—पुरुषप्रयत्नः बाह्याभ्यन्तर-लक्षणः स आदिर्येषां स्थानादीनां ते तान् संघातादीन् प्राप्य वाक् वर्णो भवतीति।

शब्दार्थप्रत्ययानामिति [३ पा० १७ सू०] सूत्रे 'श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्र-मविषयम्' इति व्यासभाष्यप्रतीकमादाय 'श्रोत्रं पुनर्ध्वनेरुदानस्य वागिन्द्रयाभि-घातिनो यः परिणतिभेदो वर्णात्मा तेनाकारेण परिणतं तन्मात्रविषयम्' इति श्री वाचस्पतिमिश्राः। तस्मिन्नेव सूत्रे 'ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादिष्वभिहतस्योदान-वायोः परिणतिभेदः तदभिघातात्तदवच्छिन्नाकाशोपादानको वा' इति नागोजी-भट्टाश्च शब्दस्य वायुपरिणामतामाहुः॥ १०८॥

ननु सप्रतिघद्रव्यस्य पृथिव्यादेः संयोगाद् विभागोत्पत्तिर्दृष्टा नाप्रतिघद्रव्यस्या-काशादेरिति अप्रतिघद्रव्यस्य[१] वायोः कण्ठताल्वादिषु यः संयोगस्तस्य विभा-गजनकता न सम्भवति ततश्च वायुः कण्ठताल्वादेः संयोगेन विभागमुत्पाद्य शब्दभा-वेन परिणमत इत्ययुक्तम् इत्यत आह—

यद्यपि जिन द्रव्यों में परस्पर आघात हो सकता है उनमें ही एक दूसरे के संयोग के द्वारा विभाग की उत्पत्ति देखी गई है जैसे पृथ्वी के संयोग से विभाग होता है। तथापि जिन आकाश की भांति अप्रतिघ द्रव्य में संयोग से विभाग की उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे वायु का कण्ठ आदि में संयोग से विभाग नहीं उत्पन्न हो सकता। फिर कण्ठ में वायु के आघात से विभाग उत्पन्न होता है और वह शब्द रूप में परिणत हो जाता यह कहना ठीक नहीं इस शंका का समाधान करते हैं—

तस्य कारणसामर्थ्याद्वेगप्रचयधर्मणः।
सन्निपाताद्विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः॥ १०९॥

कारणसामर्थ्यात् कारणस्य वेगप्रचयकारणस्य कर्मणः सामर्थ्याद् वेगः (सं-स्कारविशेषः) प्रचयः (शिथिलः संयोगः) तौ धर्मौ यस्य तस्य वेगप्रचयधर्मणः तस्य वायोः सन्निपातात् संयोगात् सारवत्योऽपि मूर्तयः पर्वतवृक्षादयः विभज्यन्ते विभक्ता भवन्ति तर्हि का कथा कण्ठताल्वादिविभागस्येति भावः। वेग-प्रचयधर्मण इति धर्मादनिच् केवलादित्यनिच्॥

एतदुक्तं भवति वक्तुरिच्छाजन्यप्रयत्नेन प्राप्तक्रियः कोष्ठ्यो वायुः वेगप्रचयौ जनयन् ताभ्यां कण्ठताल्वादेः संयोगविभागावारभमाणः तत्सहकारेण शब्दतां प्रति-पद्यते नातः सर्वदा सर्वशब्दोपलम्भ इति एतदेव 'संकरोपहितः" इति सूत्रेण शुक्ल-यजुः प्रातिशाख्ये उक्तम्॥ १०९॥

१. द्विविधं द्रव्यं सप्रतिघमप्रतिघं च। सप्रतिघं स्वाश्रये द्रव्यान्तरस्थितिविरोधि। यथा— पृथिवीजलतेजांसि। अप्रतिघाणि वाय्वादीनि।

जैसे कारण (वायु को शब्द बनाने वाले प्रयत्न) के सामर्थ्य से वेग (एक संस्कार) और प्रचय (शिथिल संयोग) रूपी धर्म वाले वायु के संयोग बड़े बड़े पर्वतों को जब उखाड़ देते हैं तब कण्ठ तालु आदि का विभाग होना कठिन नहीं है ॥ १०९ ॥

जैनभिमतामणूनां शब्दभावापत्तिमाह—

जैनों का मत है कि—

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः ।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥ ११० ॥

सर्वशक्तित्वात् सर्वकार्यजननशक्तिमत्त्वात् भेदसंसर्गस्य शक्तिभेदमूलकारोपितभेदसंसर्गस्य वृत्तिर्येषु ते, भेदो विभागः संसर्गः संयोगः तयोर्वृत्तिर्येषु ते वा भेदसंसर्गवृत्तयः अणवः परमाणवः छायातपतमः शब्दभावेन विभक्ताः छायातपभावेन संयुक्ताश्च शब्दभावेन परिणामिनो भवन्तीति शेषः इति ॥

विभाग और संयोग जिनमें रहते हैं उन अणुओं में सब प्रकार के कार्यों को उत्पन्न कर सकने वाली एक शक्ति है जो विभक्त होने पर छाया, आतप और अन्धकार के रूप में तथा संयुक्त होने पर शब्द रूप में परिणत हो जाती है ॥ ११० ॥

एतदुक्तं भवति एकविधा एव परमाणवः छायारूपेण आतपरूपेण तमोरूपेण शब्दरूपेण च परिणमन्ते । नचैकविधस्य कथमनेकविधकार्यजनकत्वमिति वाच्यम् । तेभ्यः सर्वविधकार्यजननदर्शनेन तेषु सर्वविध कार्यजननशक्तिमत्त्वानुमानेन तत्तत्कार्यजननशक्तिभेदकृतभेदारोपेण भिन्नभिन्नपरमाणुभ्यो भिन्नभिन्नकार्यजननसम्भवात् । अणूनां छायातपरूपविरुद्धपरिणामप्रतिपादनेन विरुद्धनानाशक्तियोगः एकस्यैव वस्तुन इति सूचितम् ॥ ११० ॥

जैन मतानुयायियों का तात्पर्य यह है कि अणु में सब प्रकार के कार्य उत्पन्न करने की शक्ति होती है वे कभी छाया रूप से मेघ बनकर कभी आतपरूप से, कभी तम रूप से और कभी शब्द रूप से परिणत हुआ करते हैं । यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होना अनुचित है कि एक ही परिमाणु में अनेक प्रकार के कार्य उत्पन्न करने की शक्ति कैसे होती है । क्योंकि अणुओं में सर्व प्रकार की शक्ति है और शक्ति के भेद से कार्य में भेद हो जाना स्वाभाविक है ।

तात्पर्य यह है कि अणुओं के एक होने पर भी शक्ति का भेद उनमें मानना पड़ता है और इसी शक्ति के भेद के कारण भिन्न प्रकार की शक्तिवाले परमाणु से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है । अतः एक परमाणु का छाया, आतप, तम और शब्द रूप में परिणत हो जाना अनुचित नहीं है ।

नन्वणूनां नित्यतया सर्वदा सत्त्वात्कुतो न सर्वदा शब्दभावेन परिणाम इत्यत आह—

यद्यपि अणु नित्य है अतः सर्वदा उनकी सत्ता भी स्वीकृत है फिर भी वे सर्वदा शब्द रूप में ही परिणत नहीं होते क्योंकि—

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ॥ १११ ॥

प्रयत्नेन अर्थबोधनेच्छया समुपजातेन प्रयत्नेन **शमीरिताः** प्रेरिता शब्दाख्याः शब्दपरिणामत्वाच्छब्द इत्यख्याताः शब्दतन्मात्रारूपा वा **परमाणवः स्वशक्तौ** घटशब्दाद्याकारपरिणमनशक्तौ व्यज्यमानायां सत्याम् **अभ्राणीव** वर्षाकाले मेघपरमाणव इव **प्रचीयन्ते** संघी भवन्ति इत्यर्थः। प्रयोक्तृयत्नेन संह्रियमाणाः शब्दत्वापत्तिशक्तियुक्ताः परमाणवः शब्दभावेन परिणमन्त इति न सर्वदा शब्दभावेन परिणाम इति भावः॥

किन्तु जब किसी अर्थ को बताने की इच्छा से किये गए प्रयत्न द्वारा शब्द या शब्दतन्मात्रारूपी परमाणुओं को प्रेरणा मिलती है। तब उनकी शक्ति उन-उन शब्दों के रूप में व्यक्त होती है और वे ही परमाणु जैसे वर्षाकाल में मेघ के परमाणु आकाश में व्याप्त हो जाते हैं। वैसे शब्द के रूप में परिणत हो जाया करते हैं। इसी लिए नित्य अणुओं का सर्वदा शब्दरूप में परिणाम नहीं होता॥ १११॥

शब्दस्याणुपरिणामता च-शब्दः पौद्गलिकः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति अचेतनत्वे च सति क्रियावत्वात् बाणादिवदित्यनुमानेन शब्दस्याकाशगुणत्वखण्डनप्रकरणे प्रमेयकमलमार्तण्डे निरूपिता। मनसः आत्मनश्चापौद्गलिकत्वात् तत्र व्यभिचारवारणाय क्रमेण सत्यन्तद्वयम्। सामान्ये व्यभिचारवारणाय विशेष्यम्। न च शब्दे क्रियावत्वमसिद्धम्, शब्दस्य निष्क्रियत्वे तस्य श्रोत्रेण ग्रहणं न स्यादसम्बन्धात्। न च श्रोत्रमेव शब्ददेशं गच्छतीति साम्प्रतं धर्माधर्माभ्यां संस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोलक्षणश्रोत्रस्य निष्क्रियत्वात् शब्दोत्पत्तिदेशे श्रोत्रस्य गतिप्रतीत्यभावाच्च। किं च शब्दः पौद्गलिकः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्वादित्यनुमानेन शब्दस्य पौद्गलिकत्वसिद्धिः। न च शब्दे स्पर्शवत्वमसिद्धमिति वाच्यम् शब्दः स्पर्शवान् स्वसंबद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वाद् गुरुत्ववत् इत्यनुमानेन तत्सिद्धेः। सुप्रतीतो हि कांस्यपात्र्यादिध्वन्यभिसम्बन्धेन श्रोत्राद्यभिघातस्तत्कार्यस्य बाधिर्यादेः प्रतीतेः। स चास्यास्पर्शवत्वे न स्यात् नह्यस्पर्शवता कालादिनाऽभिसम्बन्धेऽसौ दृष्टः। न च शब्दसहचरितेन वायुना तदभिघात इति वाच्यम् शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य। न च शब्दो न पौद्गलिकः अस्मदाद्यनुपलभ्यमानरूपवत्वात् यत्पौद्गलिकं तदस्मादृयुपलभ्यमानरूपवत् यथा पट इत्यनुमानेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् द्व्यणुकादिना पौद्गलिकेन व्यभिचारेण व्यतिरेकव्याप्तिग्रहासम्भवादिति॥ १११॥

महाभाष्यकृदुक्तां ज्ञानस्य शब्दभावापत्तिमाह—

महाभाष्यकार पतञ्जलिका मत है कि—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ ११२॥ परिणमते

आन्तरः ज्ञाता वृत्तिविशिष्टमन्तः करणं **सूक्ष्मवागात्मना** सूक्ष्मशब्दाकारशक्तिमत्त्वेन **स्थितः** स एव जीवो विवरप्रसूतिरित्युक्त्या वैयाकरणमते वाच एवात्म-

त्वमिति भावः। वर्तमानः स्वस्य रूपस्य वृत्त्या एकबुद्धिविषयीभूतार्थविषयकबोधेच्छाविशिष्टस्य स्वस्य व्यक्तये प्रकाशाय श्रोतृबोधाय शब्दत्वेन स्थूलशब्दभावेन विवर्तते वृत्तिविशिष्टान्तःकरणस्य शब्दभावापत्तिरेव ज्ञानस्य शब्दभावापत्तिरित्यर्थः। प्रयोक्तृज्ञानस्य शब्देनैवाभिलापसम्भवादिति भावः। केचित्तु—सूक्ष्मे वागात्मनि स्थिति इति पाठमभिप्रेत्य ज्ञाता जीवः ज्ञानात्मकेऽपि तस्मिन् ग्रहीतृत्वव्यवहारोऽस्ति यथा शब्दतत्त्वमेवेदं वाङ्मनसाख्यप्रविभागमिति तेन ज्ञातर्यपि वाग्रूपानुषङ्गः सूक्ष्मे भेदरूपोपसंहारादतीन्द्रिये वागत्मनि स्थितिः व्यक्तये तस्यामवस्थायां शब्दरूपस्य ज्ञानस्याविवेकेनानवधारणेन शब्दरूपव्यक्त्यर्थं स्थूलेन्द्रियगम्येन रूपेण विवर्तत इत्यर्थमाहुः। अन्येतु अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितमिति पाठमभिप्रेत्य स्वस्य रूपस्य ज्ञानस्येत्यर्थं वदन्ति तत् आत्मा बुद्ध्येति शिक्षाविरुद्धम् आख्यातोपयोग इति सूत्रोस्थोद्योतविरुद्धं च।

यह शब्द ही आन्तर ज्ञाता (वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण) है। जो सूक्ष्म शब्दशक्ति रूप में स्थित है वह अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए स्थूल शब्दरूप में भासित होता है।

तात्पर्य यह कि—वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण ज्ञानरूप है। वही शब्द बन जाता है। इसलिए शब्द ज्ञान का परिणाम माना जाता है॥ ११२॥

शब्दो ज्ञानस्य परिणाम इति वैयाकरणाः। तथाहि—आख्यातोपयोग इति सूत्रे भाष्ये 'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमुपाध्यायादधीत इति। अपक्रामति तस्मात्तदध्ययनम्। यद्यपक्रामति किं नात्यन्तायापक्रामति सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' इत्युक्तम्। अत्र कैयटः-यद्यपक्रामतीति। यथाफलं वृक्षादपक्रान्तं न पुनर्वृक्षे तद्भवति एवं शब्देऽपि प्रसङ्ग इत्यर्थः। सन्ततत्वादिति। शब्दस्य व्यञ्जका ध्वनय उपाध्यायेनोत्पद्यमाना भिन्ना अपि सादृश्यात्तत्त्वेनाध्यवसीयमानाः श्रोतुः पुनः पुनः श्रोत्रप्रदेशं गच्छन्तो व्यक्तिस्फोटरूपं जातिस्फटरूपं वा शब्दमभिव्यञ्जयन्तीत्यर्थः। अथवेति। यथा ज्वालारूपं ज्योतिरविच्छेदेनोत्पद्यमानं सादृश्यात्तत्त्वेनाध्यवसीयमानं सन्ततं तथैवोपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपतामापद्यमानानि संततान्युच्यन्ते ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरितिदर्शनमत्र भाष्यकारस्य' इति॥ ११२॥

ज्ञानस्य स्थूलशब्दभावापत्तौ क्रममाह—

ज्ञान के शब्द रूप में परिणत होने की प्रक्रिया यह है—

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥ ११३॥

स ज्ञाता अन्तःकरणं मनोभावमापद्य अर्थबोधनेच्छावन्मनो भूत्वा (सांख्यमतानुसारेणेदं तन्मते इच्छादेर्मनोधर्मत्वात्। 'यदाहुः—संकल्पात्मकं मन' इति) तेजसा जाठराग्निना पाकं दाहं विलक्षणतेजःसंयोगं ज्ञातुः विषयावग्रहसामर्थ्यख्यापकम्

आगतः प्राप्तः सन् प्राणं वायुमाविशति अभिहन्ति स्वरूपं तत्र प्रत्यस्यात्मरूपतामापादयति अथ अभिघातानन्तरमसौ सवृत्तिमनोयुतः प्राणः समुदीर्यते ऊर्ध्वं गमनाय प्रेर्यते इति यावत् ॥ ११३ ॥

वही ज्ञाता (अन्तःकरण) अर्थ बताने की इच्छा होने पर मन बन जाता है और वह जठराग्नि से संयुक्त होकर पाक प्राप्त करता है तथा प्राणवायु में धक्का लगा कर बाद में वृत्ति और मन के सहित प्राण ऊपर की ओर चलता है ॥ ११३ ॥

अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते ॥ ११४ ॥

ततः अन्तःकरणतत्त्वस्य मनसः आश्रयतां गतो वायुः यत्र प्राणवायुर्नास्ति तत्र मनो नैव तिष्ठति यथा मृतशरीरे अतः प्राणवायुर्मनस आश्रय इत्युच्यते तद्धर्मेण मनोधर्मेण दाहेन ज्ञानरूपशब्देन वा समाविष्टः तेजसैव जाठराग्निसहकारेणैव विवर्तते बहिः शब्दरूपो भवति । तेजसैवेति पाके यथा इन्धनं तेज आश्रयतां प्रतिपन्नं तत्समावेशादिन्धनरूपतां विहाय तेजोरूपं भवति तथा वायुः स्वरूपहानेन मनोरूपतां प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

तब अन्तःकरणतत्त्वरूपी मन का आश्रय प्राणवायु मनोधर्म (पाक दाह—अथवा ज्ञानरूप शब्द) समाविष्ट होकर तेज (जठराग्नि) की सहायता से बाहर शब्द के रूप में भासित होता है ॥ ११४ ॥

विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः ।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ॥ ११५ ॥

दाहवशादेव प्राणः सवृत्तिकमनोरूपान्तःकरणयुतः स्वात्मनो ग्रन्थीन् कादिवर्णरूपान् विभज्य पृथगवस्थाप्य पृथग्विधैः भिन्नैः श्रुतिरूपैः श्रूयमाणैः ध्वनिभिः वर्णान् अभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते वर्णतः पृथक् न तिष्ठति किन्तु तद्रूप एव भवतीति सवृत्तिकमनोरूपान्तःकरणयुतस्य वायोर्यः शब्दभावेन परिणामः स एव ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥

और दाह के वशीभूत होकर प्राण, वृत्ति विशिष्ट मनरूपी अन्तःकरण से युक्त होकर अपनी क, ख आदि वर्णरूपी ग्रन्थिका विभाग करके अनेक प्रकार से सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों से शब्दों को अभिव्यक्त कर पुनः उन्हीं वर्णों में ही लीन होता है।

अर्थात्, वृत्ति सहित मनरूपी अन्तःकरण से युक्त जो वायु का शब्द रूप में परिणाम है। वही ज्ञान का शब्दरूप होना है ॥ ११५ ॥

अयमेव क्रम उक्तः शब्दोत्पत्तौ पाणिनिशिक्षायाम्—

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते' इति ।

अस्यार्थः—आत्मा = अन्तःकरणं न चैतन्यं तस्य निर्विकारत्वेन वृत्तिरूप-परिणामासंभवात् अन्तःकरणविशिष्टस्य तत्सम्भवेऽपि चित्सन्निधौ अन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वम् अयस्कान्तसन्निधानेऽयसः सक्रियत्वमिवेति सांख्यमतेन चेदम्। स चान्तः-करणरूप आत्मा संस्काररूपेण स्वगतानर्थात्, बुद्धया—स्ववृत्त्या, समेत्यैकबुद्धिविषयान् कृत्वा तद्बोधनेच्छया मनो युक्तं करोति तदिच्छावन्मनः कायाग्निमाहन्ति स कायाग्निः मारुतं प्रेरयति स मारुतः उदीर्णः शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयत्नाभिहताग्निना नाभिप्रदेशा-दूर्ध्वं प्रेरितः वेगान्मूर्धपर्यन्तं गत्वा प्रतिनिवृत्तः वक्त्रं प्राप्य उक्तयत्नसहायेन तत्तत्स्था नेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानान्याहत्य पराद्याख्यमन्तः स्थितं शब्दं वर्णत्वेना भिव्यञ्जयतीत्यर्थः। स्वात्मानं वर्णत्वेनाभिव्यञ्जयतीत्यर्थो वा। विषमीकारास्तु आत्मान्तः करणमित्यपव्याख्यानम् आत्मपदस्य जीवपरत्वे बाधकाभावादित्याहुः॥

मतान्तरमाह—

कुछ लोगों का मत है—

> **अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।**
> **व्यजनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात्प्रतीयते ॥ ११६ ॥**

य अजस्रवृत्तिः बहिरन्तश्च वर्तमानः अन्तः संजल्परूपः ध्वनिरूपः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते स व्यजन्त्यनेनेति व्यजनं 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः अजगतिक्षेपणयोः करणे ल्युट् 'वा यौ' इति पक्षे वीभावाभावः तस्मात् व्यजनाद्वा-युरिव यथा सर्वत्र वायुपरमाणवो व्यस्ताः सन्त व्यजनात् संहता भवन्ति एवं स्व निमित्तात् वक्तुः प्रयत्नवशात् श्रोत्रदेशं प्राप्तः प्रतीयते उपलभ्यत इत्यर्थः। तदेतद्वक्ष्यति [वा० का० २ कारि० ३०—३१] यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्। यदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ॥ शब्दभागैस्तथा येषामान्तरो-ऽर्थः प्रकाशते। एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥ इति ॥ ११६ ॥

जो बाहर और भीतर सदा रहने वाला ध्वनिरूपी शब्द अति सूक्ष्म होने के कारण सुनाई नहीं पड़ता। वह आकाश में व्याप्त वायु को जैसे पंखा एकत्र लेकर प्रकाशित करता है। वैसे वक्ता के प्रयत्न से कान तक पहुंच कर उपलब्ध होता है (सुनाई पड़ता है)॥ ११६ ॥

सिद्धान्तिमतमाह—

किन्तु सिद्धान्त पक्ष तो यह है—

> **तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता**
> **विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥ ११७ ॥**

तस्य शब्दस्य प्राणे बुद्धौ वृत्तिविशिष्टान्तःकरणे च या शक्तिः बहिः शब्दभवनशक्तिः व्यवस्थिता वर्तते सा एषा स्थानेषु कण्ठताल्वादिषु विवर्त-माना सती भेदं कादिभेदं प्रतिपद्यते इति सम्बन्धः॥

प्राण में और बुद्धि में रहने वाली अर्थ बताने वाली शब्द की एक शक्ति है जो उसमें व्यवस्थित रूप से रहती है। वह ही कण्ठ तालु आदि स्थानों से अकारादि रूप में व्यक्त होती हुई क, ख, आदि भिन्न भिन्न रूपों में परिणत होती है।

इस प्रकार शब्द की प्राण और बुद्धि में रहने वाली शक्ति ही कण्ठ आदि स्थानों से व्यक्त होकर क, ख, आदि भेदों का कारण बनती है ॥ ११७ ॥

द्विविधो हि शब्दः प्राणाधिष्ठानः बुद्ध्यधिष्ठानश्च । स प्राणबुद्धिशक्तिभ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं बोधयति । तत्र प्राणो बुद्धितत्त्वेनान्तराविष्टः ऊर्ध्वमभिप्रवृत्तः तत्तत्स्थानेषु विवर्तमानः अकारादिरूपेण भिन्नतया भासमानः अक्रमे शब्दात्मनि भेदानुरागमात्रं सन्निवेशयति ॥

शब्दविषये मतभेदो भट्टपादैः श्लोकवार्तिके उक्तः—

त्रिगुणः पौद्गलो वायमाकाशस्याथवा गुणः ।
वर्णादन्योऽथ नादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः ॥
पदवाक्यात्मकः स्फोटः सारूप्यान्यनिवर्तने ॥ इति ॥

अस्यार्थः—सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वात्त्रिगुणः शब्दः सांख्यैरिष्टः । पौद्गलो दिगम्बरैष्टिः पुद्गलाः परमाणव उच्यन्ते तेषामयः पौद्गलः तदात्मक इति यावत् । आकाशगुणः काणादैरिष्टः । वर्णव्यतिरिक्तो नादात्मा लौकिकैरिष्टः । यथोक्तं पातञ्जलभाष्ये 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द' इति वायुरूपोऽर्थवाचकः शिक्षाकारैः यथाहुः 'वायुरापद्यते शब्दताम्' इति । पदस्फोटात्मको वाक्यस्फोटात्मकश्च वैयाकरणैरिष्टः । सारूप्यं विन्ध्यवासीष्टम् । बौद्धैरन्यनिवर्तनमन्यापोहो वाचकत्वेन य इष्टः' इति ॥ ११७ ॥

इदानीं शब्दस्यैव जगन्मूलत्वं प्रपञ्चयति—

शब्द से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है यह सिद्धान्त विशद रूप से विचारते हैं।

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ ११८ ॥

व्यवहारकारणभूता शक्तिः अस्य विश्वस्य निबध्यते अनयेति निबन्धनी गवादिपदार्थैरूपेण गोशब्दादिवाच्यवाचकभावरूपा शब्देष्वेवाश्रिता सूक्ष्मं वाक्तत्त्वं गवादिपदार्थैरूपेण गोशब्दादिरूपेण च विवर्तते इति अधिष्ठानस्य वाक्तत्त्वस्य पिण्डपरिणामेनाभिव्यक्ता गोत्वादिजातयो वाच्याः गोवृक्षादिशब्दपरिणामेन गोशब्दत्वादिजातयो वाचिकाः तदेवमाश्रयस्योत्पत्तौ जातीनामभिव्यक्त्या वाच्यवाचकरूपस्य व्यवहारस्य वाक्तत्त्वं निबन्धनमिति भावः । यः शब्दो नेत्रं ज्ञापकं यस्य सः यन्नेत्रः प्रतिभात्मा प्रतिभाविषयत्वात्प्रतिभा अयं भेदरूपः व्यवहारः प्रतिपुरुषं प्रतीयते । यदाहुः—'वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति । वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥' इति वाक्तत्त्वमेव भोक्तृभोग्यभोगरूपेण विवर्तते न बाह्यं वस्तु किञ्चिदस्तीति भावः ॥

इस संसार को उत्पन्न करने वाली वाच्यवाचक भाव रूप शक्ति शब्द में ही आश्रित है और इसी शब्द से प्रतीत होने वाला प्रतिभा रूपी यह भेद रूप (घट-पट आदि) व्यवहार प्रति व्यक्तियों को प्रतीत होने लगता है।

अत्रेदं बोध्यम्—वाह्यस्य वस्तुनोऽभावात् प्रतिभैव वाक्यार्थः। तथाहि—यथावस्थिते वनितात्मनि वाह्येऽर्थे वासनानुसारेण कुणप इति कामिनीति भक्ष्यमिति प्रतिभा भवन्ति तथा असत्यपि व्याघ्रागमने व्याघ्र आगत इत्युक्ते शूराणामुत्साहः कातराणां भयं भवति इति शब्दादर्थप्रतिभा भवति इति प्रतिभामात्रं जगत्। अत एव असत्यपि वाह्येऽर्थे एष वन्ध्यासुतो याति, राहोःशिर इत्यादिवाक्यतोऽर्थप्रतिभा इति शब्द एव तत्तदाकारेण विवर्तत इति ॥ ११८ ॥

तात्पर्य यह है कि—शब्द से अतिरिक्त वाह्य वस्तु जब नहीं है तब वाक्यार्थ बोध केवल प्रतिभा ही मानना पड़ता है। जैसे किसी युवती स्त्री को देखकर कोई कुणप, कोई कामिनी, और कोई (व्याघ्र आदि) भक्ष्य रूप में मानता है यह मानना भी एक प्रतिभा है। जैसे सिंह नहीं रहता फिर भी कोई कह दे कि 'सिंह आ गया' इस वाक्य के सुनने के साथ ही शूरों में उत्साह और कातरों मे भय उत्पन्न हो जाता है। इसे भी प्रतिभा ही कहते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जगत् प्रतिभा मात्र है। इसीलिए 'वन्ध्याका पुत्र जा रहा है' यह 'राहु का शिर है' इत्यादि वाक्यों से भी अर्थ प्रतिभा होती है और यह स्वीकार करना पड़ता है कि शब्द ही उन उन रूपों में भासित होता है ॥ ११८ ॥

षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः ।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः ॥ ११९ ॥

षड्जादिभेदः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादादिः । **शब्देन व्याख्यातः** प्रतिपादितः सन् **यतः रूप्यते** उत्क्रूप्यते परिच्छिद्यते तस्मात् यतः तन्निबन्धनं षड्जादिभेदनिरूपणं तस्मात् **शब्दमात्रासु** शब्देषु **सर्वा अर्थविधाः निश्रिताः** आश्रिता शब्दतादात्म्यापन्ना इत्यर्थः । इदमेव वाचस्पतिमिश्रस्तात्पर्यटीकायां—'षड्जादिषु शब्दापकर्षे अर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे स्वर्थप्रत्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतव्योत्कर्षाधीनोत्कर्षत्वात् नामधेयोत्कर्षेणार्थोत्कर्षः अर्थस्य तादात्म्यं कथयति' इत्युक्तम् ॥

यह ही शब्द—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद स्वरों के भेद शब्द से प्रतिपादित हैं। इससे यह निश्चय हो जाता है कि समस्त अर्थ या उनके भेद शब्द से ही उत्पन्न हुए हैं।

इदमत्रावधेयम्—असमाख्येयाः षड्जादयः समाख्येया गवादयश्च सर्व एवार्थाः शब्देष्वध्यारूढाः शब्दतादात्म्यापन्ना शब्दानुविद्धधिया प्रकाश्यन्ते गोपालाविपालादयोऽपि गवामवीनां च संज्ञापदानि प्रकल्प्यैव गवादीन् आकारयन्ति तस्मात्सर्वा अर्थविधाः समाख्येया असमाख्येया वा शब्दमात्रासु निश्रिता आरूढा इति ॥ ११९ ॥

अर्थ दो प्रकार के हैं एक असमाख्येय और दूसरा समाख्येय। ये दोनों प्रकार के अर्थ

शब्दों के आश्रित हैं। षड्जादि स्वर असमाख्येय हैं तथा जितने संज्ञा पद हैं सब समाख्येय हैं और सब शब्द की मात्रा में आश्रित हैं ॥ ११९ ॥

शब्दादेव सृष्टिरित्याह—

शब्द से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ १२० ॥

अयं संसारः शब्दस्य परिणामः इति आम्नायविदः वेदविदः विदुः तमेव वेदमाह छन्दोभ्य इति। एतद्विश्वं प्रथमं सृष्ट्यादौ छन्दोभ्यः वेदेभ्यः एव व्यवर्तत वेदस्य विवर्त इत्यर्थः। तथाच श्रुतयः-'एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमो ह्यन् वैराजः पुरुषः योऽन्नमसृजत तस्मात्पशवोऽजायन्त पशुभ्यो वनस्पतयो वनस्पतिभ्योऽग्निः' 'स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः' 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' 'स भूरिति व्याहरत् भूमिमसृजत्' इति, स्मृतयः—'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इति, पुराणानि च— 'विभज्य बहुधात्मानं स च्छन्दस्यः प्रजापतिः। छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विशेषतम् ॥ साध्वी वाग्भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिताः। अधिकं वर्तते तेषु पुण्यं रूपं प्रजापतेः ॥ प्रजापत्यं महत्तेजस्तत्पात्रैरिव संभृतम्। शरीरभेदे विदुषां स्वयोनिसु-पधावति ॥ यदेतन्मण्डलं भास्वद् धाम चित्रस्य राधसः। तद्भावमभिसंभूय विद्यायां प्रविलीयते ॥' इति ॥

वेद और शास्त्रों के जानकार महर्षियों ने कहा है कि यह समस्त जगत् शब्द का परिणाम है और कल्प के आरम्भ में वेदों से ही विश्व का सृजन हुआ है ॥ १२० ॥

इदमत्र बोध्यम्—यद्यपि उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः परिणामः। यथा दुग्धस्य दधिभवनम् उभयोरपि व्यावहारिकसत्त्वात्, उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिर्विवर्तः। यथा शुक्तिकाया रजतभवनम्। शुक्तिकाया व्यावहारिकसत्त्वाद्रजतस्य च प्रातिभासिकसत्त्वात्। तथापि शब्दस्य परिणामोऽयमित्युपक्रम्य विश्वं व्यवर्तत इत्युपसंहारात् पूर्ववर्तिकाले परिणामविवर्तयोः पर्यायत्वमासीदिति प्रतीयते। अतएव शान्तरक्षितेन तत्त्वसङ्ग्रहे अनादिनिधनमिति कारिकाम् 'नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं च तत्। यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते' इति अर्थतोऽनुवदता विवर्तपदमपहाय परिणामपदं प्रयुक्तम्। अत एव च भवभूतिना 'पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्' इति जलविकारे तरङ्गादौ विवर्तपदं प्रयुक्तम्। एवं च शब्दब्रह्मणा जगत् परिणामो वा विवर्तो वा वाक्यपदीयकृतामभिमत इति निर्धारयितुं दुःशकमिति प्रतीयते। तथापि सूक्ष्मेक्षिकया शब्दब्रह्मविवर्त एव जगदित्यत्र वाक्यपदीयकृतामभिमत इति प्रतीयते। तथैव हेलाराजादिभिर्व्याख्यातत्वात् शब्दपरिणामवादपक्षोऽपि केषां चिदासीदिति न्याय-

मञ्जरीदर्शनात् 'इह तु अविसंवादात्प्रमाणं सदर्थातादात्म्यं शब्दस्य साधयत्येव' इति तात्पर्यटीकादर्शनाच्चावगम्यते ॥

विशेष—सत्ता तीन प्रकार की मानी जाती है। १, पारमार्थिक, २, व्यावहारिक, ३, प्रातिभासिक। जो कार्य उपादानकारण की सत्ता के समान सत्ता का उत्पन्न होता है उसे 'परिणाम' कहते हैं। जैसे दूध व्यवहारतः सत है वैसे दूध का परिणाम दही भी व्यवहारतः सत है। उपादान कारण की सत्ता से विषमसत्ता का कार्य जब उत्पन्न होता है तब उसे 'विवर्त' कहते हैं। जैसे शुक्तिका में रजत का भ्रम। क्योंकि शुक्तिका की सत्ता व्यावहारिक है और रजत की सत्ता प्रातिभासिक है। रजत का व्यवहार शुक्तिका में नहीं होता। इस प्रकार परिणाम और विवर्त शब्द के अर्थ में भी भेद प्रसिद्ध है। किन्तु इस कारिका में 'शब्दस्य पारिणामोऽयम्' और 'विश्वं व्यवर्तत' इन उपक्रम और उपसंहार के वाक्यों से पता चलता है कि परिणाम और विवर्त शब्द पर्याय हैं। यह परिणाम और विवर्तशब्द का एक अर्थ में प्रयोग नया नहीं है। क्योंकि **शान्तिरक्षित** ने 'तत्त्वसङ्ग्रह' में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का भावानुवाद करते हुए **अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।** के स्थान पर **नाशोत्पादासमालीढं शब्दब्रह्ममयं च यत्। यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते** यह कारिका रची है। इसमें विवर्त के पर्याय के रूप में परिणाम शब्द का प्रयोग किया है। 'भवभूति' ने भी 'उत्तररामचरित में 'पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्' लिखते हुए परिणाम शब्द के पर्याय विकार शब्द का विवर्त के पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार 'वाक्यपदीयकार'ने जगत् को शब्द का परिणाम कहा है अथवा विवर्त यह कहना कठिन है। फिर भी हेलाराज आदि टीकाकारों ने शब्द ब्रह्म का विवर्त ही जगत को स्वीकार किया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि शब्दब्रह्म का विवर्त और वैखरी ध्वनिका परिणाम जगत् है। इस प्रकार 'विवर्तते' 'परिणामोऽयम्' दोनों की व्याख्या ठीक बैठती है। यह मत मण्डनमिश्र की 'स्फोटसिद्धि' की टीका 'गोपालिका' में स्पष्ट है।

इदमत्रावधेयम्—सर्गाद्यकाले अनादिनिधनं सर्वग्राह्यग्राहकाकारवर्जितं पश्यन्तीवाग्रूपं शब्दब्रह्म सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतम् अपरिमितानिरूपितशक्तिविशेषविशिष्टमायासहितं सत् नामरूपात्मकनिखिलं प्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्य इदं करिष्यामीति संकल्पयति ततो निजया कालाख्यया स्वातन्त्र्यशक्त्या समेतः अकाशादीनि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदवाच्यान्युत्पादयति ततो भूतादय इति। यदाहुः—

यः सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थितः।
तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः॥
अन्तर्यामी स भूतानामाराद् दूरे च दृश्यते।
सोऽत्यन्तमुक्तो मोक्षाय मुमुक्षुभिरुपास्यते॥
प्रकृतिस्त्वमपि प्रासान् विकारानाकरोति सः।
ऋतुधामेव ग्रीष्मान्ते महतो मेघसंप्लवान्॥

तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।
अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम् ॥
त्रयीरूपेण तज्ज्योतिः प्रथमं परिवर्तते।
पृथक्तीर्थप्रभेदेषु दृष्टिभेदनिबन्धनम् ॥
शान्तविद्यात्मकं योऽशस्तदु हैतदविद्यया।
तया ग्रस्तमिवाजस्रं या निर्वक्तुं न शक्यते ॥
यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥
तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते ॥
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥ इति।

परिकल्पः प्रलयः। प्रकृतित्वं प्राप्तान्-प्रलये प्रकृतौ लीनान् सूक्ष्मरूपेणावस्थितान्।

नागोजीभट्टास्तु—प्रलये नियतकालपरिपाकानां सर्वप्राणिकर्मणामुपभोगेन प्रचये सर्वं जगन्मायायां[1] लीयते सा च चेतने ईश्वरे[2] लीयते लयश्चायं मायाया नात्यन्तिको नाशः उत्तरसर्गानुपपत्तेः, नापि सर्वथाऽभानम् प्रतिभासमात्रशरीरस्य मिथ्यावस्तुनोऽनवभासे तदभावस्यापत्तेः, किन्तु तदानीं कार्यप्रवृत्त्यभावात् सुप्ता इव तिष्ठति स्वप्रतिष्ठेश्वरप्रकाशस्यात्यन्तनिर्विकल्पकतया तद्बलाद् भासमानाऽप्यभातप्रायैव ततोऽपरिपक्वप्राणिकर्मभिः कालवशात्प्राप्तपरिपाकैः स्वफलप्रदानाय भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिर्मायापुरुषौ प्रादुर्भवतः ततः परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जायते ततो बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणं जायते इदमेव शक्तितत्त्वम्[3] तस्य बिन्दोरचिदंशो बीजम् चिदचिन्मिश्रोंऽशो नादः चिदंशो बिन्दुरिति अविच्छेदेन शब्दार्थोभयसंस्का

१. लयश्चान्तः करणादीनां वासनादिभिः सह सूक्ष्मरूपेणाविद्यायां कार्यप्रवृत्तितिरोधानपूर्वकमवस्थानम्। अविद्याया लयश्च ब्रह्मणि सूक्ष्मरूपेणावस्थानम्।

२. ईश्वर इति। यथा स्फटिके जपाकुसुमसन्निधानाद्रक्तत्वावभासस्तत्रैव स्फटिकांशे प्रमोषे यद्गगनत्वावभासः एवं शुद्धायां चिति मायोपाधिसान्निध्यादीश्वरत्वाध्यासः सोऽयमात्मावरणविक्षेप शक्त्या अविद्याया आश्रयः तत्रावरणांशेन शुद्धरूपतिरोधानम् विक्षेपांशेनेशादिस्थूलदेहान्तानां प्रतिभासः तयोर्निवृत्तौ शुद्धचिद्रूपेणावस्थानम्।

३. काशीखण्डे—
यदेकलो न शक्नोषि रन्तुं स्वैरं चर प्रभो।
तदिच्छा तव चोत्पन्ना सैषा शक्तिरभूत्तव ॥
त्वमेको द्वित्वमापन्नः शिवशक्तिप्रभेदतः।

इति सिसृक्षात्मिकायाः मायावृत्तेः शक्तित्वेन कथनं वृत्तिवृत्तिमतोरभेदादिति मन्तव्यम्।

रूपाविद्योच्यते। अस्माद्बिन्दोः शब्दब्रह्मापरनामधेयम् वर्णादिविशेषरहितं ज्ञानप्रधानं सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपम् चेतनमिश्रं नादमात्रमुत्पद्यते एतज्जगदुपादानमेव 'रव' 'परा' आदिशब्दैर्व्यवह्रियते। एतत्सर्वगतमपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुंसः इच्छया जातेन प्रयत्नेन योग एव मूलाधारस्थपवनसंस्कारः तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निःस्पन्दं परा वाग् इत्युच्यते। इदं च सर्वशब्दतदर्थोपादानम् 'क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्। प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माभवत् परा' इत्युक्तेः। अनादिनिधनमिति शब्दब्रह्मणो नित्यतोक्तिर्यावत्सृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया वा नेया। एवं च एकस्यैव स्फोटस्य शब्दब्रह्मरूपस्य सर्वशब्दतदर्थोभयोपादानत्वेनोभयरूपतया उभयोरपि तत्कार्ययोरुभयरूपत्वमित्याहुः।

सचायं पन्था न वाक्यपदीयकारानुगतः किन्तु तन्त्रशास्त्रानुगतः। तथाहि—प्रपञ्चसारे—प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तमः। अणोरणीयसी स्थूलात्स्थूलाव्याप्तचराचरा॥ प्रकृतिरिति शेषः। स जानाति विपाकांश्च तस्यां सम्यग्व्यवस्थितान्। सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा॥ सः—कालः। विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्। कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा॥ भिद्यमानः—स्फोटथमानः। स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते। स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते॥ बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्। स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते॥ अव्यक्तादन्तरुदितत्रिभेदगहनात्मकम्। महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहङ्कृतिस्तथा॥ भूतादिकवैकारिकतैजसभेदक्रमादहङ्कारात्। कालप्रेरितया गुणघोषयुजा शब्दसृष्टिरथ शक्त्या॥ शब्दाद्व्योम स्पर्शतस्तेन वायुस्ताभ्यां रूपाद्वह्निरेतै रसाच्च। अम्भाँस्येतैर्गन्धतो भूर्धराद्या भूताः पञ्च स्युर्गुणोनाः क्रमेण॥ सत्वं रजस्तम इति सम्प्रोक्ताश्च त्रयो गुणास्तस्याः। तत्सम्बन्धात् विकृतैर्भेदत्रितयस्ततं जगत्सकलम्॥ इति॥

अस्यार्थो ललितासहस्रनामस्थद्वात्रिंशदधिकशततमश्लोकीये भास्कररायकृते भाष्ये स्पष्टः। तथाहि—प्रलये सृज्यमानप्राणिकर्मणां परिपाकदशायां तादृशकर्माभिन्नमायावच्छिन्नं ब्रह्म घनीभूतमित्युच्यते। कालवशात् कर्मणां परिपाके सति विनश्यदवस्थः परिपाकप्रागभावो विचिकीर्षेत्युच्यते। ततः परिपाकक्षणे मायावृत्तिरुदेति तादृशं परिपक्वकर्माकारपरिणतमायाविशिष्टं ब्रह्माव्यक्तपदवाच्यम्। इदमेव कारणबिन्दुपदवाच्यम्। अस्माच्च कारणबिन्दोःसकाशात् क्रमेण कार्यबिन्दुस्ततो नादस्ततो बीजमिति त्रयमुत्पन्नम्। योऽयं कारणबिन्दुरुक्तः स यदा कार्यबिन्द्वादित्रयजननोन्मुखो भिद्यते तद्दशायामव्यक्तः शब्दब्रह्माभिधेयो रवस्तत्रोत्पद्यते। सोऽयं रवः कारणबिन्दुतादात्म्यापन्नत्वात्सर्वगतोऽपि व्यञ्जकयत्नसहकृतपवनवशात् प्राणिनां मूलाधारे व्यज्यते। तदिदं कारणबिन्द्वात्मकमव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दं परा

वागित्युच्यते। अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यविन्दुमयं सत्पश्यन्ती वागित्युच्यते। अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमागच्छताभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते। अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेषु अभिव्यज्यमानमकारादिवर्णरूपं परश्रवणयोग्यस्पष्टतरप्रकाशरूपं बीजात्मकं सद्वैखरीवागुच्यते। इत्थं चतुर्विधासु परादित्रयमजानन्तो मनुष्याः स्थूलदृशो वैखरीमेव वाचं मन्यन्ते। तथा च श्रुतिः 'तस्माद्यद्वाचोऽनाप्तं तन्मनुष्या उपजीवन्ति' इति। अनाप्तमपूर्णं तिसृभिर्विरहितमिति व्याख्यातारः। चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ यज्ञवैभवखण्डे स्कान्दे—अपदं पदमापन्नं पदं चाप्यपदं भवेत्। पदापदविभागं च यः पश्यति स पश्यति। अपदं गतिरहितं निःस्पन्दं शब्दब्रह्मैव परादिपदचतुष्टयं जातं तदिदं पदचतुष्टयमेव ज्ञातं सदपदं ब्रह्मैव भवतीति तदर्थः। इति॥

तदयं क्रमः—घनीभूतं ब्रह्म, ततो विचिकीर्षा, ततोऽव्यक्तं (कारणविन्दुपदवाच्यम्) ततो ऽव्यक्तो रवः (कारणविन्द्वात्मकः निःस्पन्दं शब्दब्रह्म मूलाधारेऽभिव्यक्तिमान् परावाग्रूपः) ततः पश्यन्ती (कार्यविन्दुरूपा स्पन्दसामन्यवती) ततो मध्यमा (नादाख्यस्पन्दविशेषवती) ततो वैखरी (बीजरूपा अकारादिवर्णरूपा) इति॥

शारदातिलकेऽपि अयमेव प्रकारः उट्टङ्कितः—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः॥

सनातनः—नित्यः। आद्यस्य स्वरूपमाह—निर्गुण इति। प्रकृतेरन्यः—प्रकृतिहित इत्यर्थः। सांख्यमते सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानापरपर्याया प्रकृतिः। वेदान्तनये अविद्या। शिवतन्त्रे शक्तिः। द्वितीयस्य स्वरूपमाह—सगुण इति। सकलः—कला प्रकृतिस्तत्सम्बन्धशून्यः।

सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥

सृष्टिमाह—सदिति। अविद्याशबलितत्वेन जडत्वे कथं तस्य स्रष्टृत्वमित्याशङ्कां वारयति-सच्चिदानन्दविभावादिति। अनेनाविद्यावत्त्वेऽपि तस्य न स्वरूपहानिरित्यर्थः। सकलाच्छक्तिसहितात्—शक्तिरासीदिति योजना। ननु शक्तिसहितादेव पुनः कथं शक्तिरासीदिति चेत्सत्यम्—या अनादिरूपा चैतन्याभासेन महाप्रलये सूक्ष्मास्थिता तस्या गुणवैषम्येन सात्त्विकराजसतामसस्रष्टव्यकार्यसाधने या उच्छूनावस्था सैवोत्पत्तिरित्यवेहि। तदुक्तं वायवीयसंहितायां—'शिवेच्छया परा शक्तिः

शिवतत्त्वैकतां गता । ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥' इति । तस्या एव नादविन्दू सृष्ट्युपयोग्यवस्थारूपौ । तदुक्तं प्रयोगसारे—'नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी । शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥ सैव सर्गक्षमा तेन' इति ।

परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
विन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः प्रकीर्तिताः ॥
विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥

परशक्तिमयः—परः शिवः ; शिवशक्तिमयः इत्यर्थः । समवायः क्षोभ्यक्षोभकभावलक्षणः सम्बन्धविशेषः । तस्मात्कारणविन्दोः कार्यविन्दुः ततो नादस्ततो बीजमुत्पन्नम् तदेवं द्विविधो विन्दुः कारणरूपः कार्यरूपश्चेति ॥

भिद्यमानात्पराद्विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ॥

पराद्विन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो विन्दुस्तस्मादव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितोऽखण्डो नादमात्रं रव उत्पन्नः स एव शब्दब्रह्म इत्युच्यते ।

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देह मध्यगम्[1] ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥
अथ विन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः ।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः ॥

कालबन्धोः कलात्मन इत्याभ्यां कालस्य प्रकृतेश्च प्रलयेऽप्यवस्थानम् ।

सदाशिवाद्भवेदीशस्ततो रुद्रसमुद्भवः ।
ततो विष्णुस्ततो ब्रह्मा तेषामेवं समुद्भवः ॥
मूलभूतात्ततोऽव्यक्ताद्विकृतात्परवस्तुनः ।
आसीत्किल महत्तत्त्वं गुणान्तःकारणात्मकम् ।
अभूत्तस्मादहङ्कारस्त्रिविधः सृष्टिभेदतः ॥

मूलभूतादिति । यस्माद्विन्दो, शब्दब्रह्मण उत्पत्तिस्तस्मादेव विन्दोः सदाशिवस्येति तत्र शब्दसृष्टौ शब्दब्रह्मेत्युक्तिः अर्थसृष्टौ सदाशिव इति परं विशेषः ।

---

१. षण्णवत्यङ्गुलो देहायामः तत्राङ्गुलार्धसहितं सप्तचत्वारिंशदङ्गुलात्मकमधः उपरि च परित्यज्यैकाङ्गुलपरिमितं मध्यं 'मूलाधार' इत्युच्यते तदुक्तं—

पायवन्तात् द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं लिङ्गाच्चाद्व्यङ्गुलादधः ।
मध्यमेकाङ्गुलं यच्च देहमध्यं प्रचक्षते ॥
गुदलिङ्गान्तरे चक्रमाधाराख्यं चतुर्दलम् ।
अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारपङ्कजे ॥ इति ।

त्रिविधः—वैकारिकः तैजसः भूतादिश्चेति । वैकारिकादहङ्कारात्—दिग्वातार्कादयो देवाः । तैजसादहङ्कारात्—कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च । भूतादिकादहङ्कारात्पञ्चभूतानि जातानि ।

पञ्चभूतात्मकं सर्वं चराचरमिदं जगत् ।
अचरा बहुधा भिन्ना गिरिवृक्षादिभेदतः ॥ इति ।

तदयं निष्कर्षः—वाक्यपदीयकारा व्याकरणागममनुसृत्य नित्यं शब्दब्रह्म शब्दभावेन विवृत्तं सदर्थभावेन विवर्तते इति अनादिनिधनमिति कारिकया वदन्तः तस्यैव सर्वजगदुपादानत्वं मन्यन्ते । नागोजीभट्टास्तु-तन्त्रशास्त्रमनुसृत्य शब्दब्रह्मणोऽनित्यत्वमास्थाय अर्थसृष्टौ तज्जन्मानुपलम्भान्नित्यत्वमिति वदन्तः अनादिनिधनमिति वाक्यपदीयकारोक्तिमन्यथयन्ति । तदिदमन्यथाकरणम् 'इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽव्ययम् । तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥' इति शिवदृष्टिग्रन्थेन 'नाशोत्पादासमालीढं शब्दब्रह्ममयं च तत् यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ॥' इति शान्तरक्षितकृततत्त्वसंग्रहेण प्रमेयप्रकरणेऽपवर्गनिरूपणप्रस्तावे 'अनादिनिधनम्' इतिकारिकामुद्धृत्य 'तत्रानादिनिधनपदनिवेदिता पूर्वापरान्तरहिता वस्तुसत्ता नित्यत्वं चे'ति न्यायमञ्जरीग्रन्थेन च विरुद्धम् । तैस्तैरत्यन्तप्राचीनैर्ग्रन्थकारैः अनादिनिधनमिति पदस्य कूटस्थनित्यत्वाभिप्रायेणैवानूदितत्वात् । न च तन्त्रागमानुरोधेन अनादिनिधनमिति पदस्य नागोजीभट्टोक्तं व्याख्यानमेव रम्यमिति वाच्यम् 'शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः । न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि ॥ चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ।' इत्यनेन तेषां वादिनां तयोः शब्दार्थयोः सिद्धिः शब्दब्रह्मत्वसिद्धिर्न उभयोर्जडत्वादित्यर्थकेन शारदातिलके तन्त्रागमानुरोधिनि वैयाकरणसिद्धान्तस्य तान्त्रिकसिद्धान्तापेक्षया भिन्नत्वावगमेन तदनुरोधेन वैयाकरणसिद्धान्तनयनस्यात्यन्तमनुचितत्वात् इति अनादिनिधनपदस्य स्वारसिकमर्थमपलप्यान्यथार्थकरणं नागोजीभट्टस्य तन्त्रागमश्रद्धया वा वैयाकरणसिद्धान्तानभिज्ञतया वेति मन्तव्यम् । ततश्च शब्दब्रह्मोत्पत्तिवादस्तन्त्रागमसिद्धोऽपि न व्याकरणागमसिद्ध इति सर्वं निर्मलम् ॥ १२० ॥

ननु यदि घटादयः शब्दस्य परिणामविशेषाः स्युस्तर्हि यथा मृत्परिणामेषु घटादिषु मृत्स्वरूपानुगमो दृश्यते तथा शब्दस्वरूपानुगमोऽपि स्यादिति शङ्कामिष्टापत्त्या परिहर्तुं शब्दस्वरूपानुगमं प्रत्ययमात्रे दर्शयितुमाह—

जैसे मिट्टी से बने हुए घट में मिट्टी की प्रतीति होती है। वैसे जितने घट पट आदि शब्द के कार्य हैं सब में शब्द रूपता भी दिखाई देनी चाहिए।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ १२१ ॥

लोके सर्वा कर्तव्यस्य प्रकारः इतिकर्तव्यता इदमित्थं कर्तव्यमिति सर्वं-

वहारः (इतिशब्दः प्रकारवचनः देवतादिवत् स्वार्थे तल्) शब्दो व्यपाश्रयो मूलमस्या इति शब्दव्यपाश्रया न हि शब्दमनुपन्यस्य कोऽपि कमपि कस्मिंश्चिदपि व्यवहारे प्रवर्तयितुं शक्नोतीति सर्वो व्यवहारः शब्दमूल एवेति भावः। ननु सर्वासामितिकर्तव्यतानां शब्दमूलत्वे बालानां शब्दाज्ञानेन तेषामितिकर्तव्यताप्रतिपत्तिः कथमत आह—यामिति। पूर्वमाहितः संस्कारः शब्दभावनाख्यो यस्येति पूर्वाहितसंस्कारः बालोऽपि यामितिकर्तव्यतां प्रतिपद्यते स्पष्टवचसामस्मदादीनां व्यवहारः शब्दपूर्वको दृष्ट इति तत्साम्येन अस्पष्टवचसां बालानामपि व्यवहारः शब्दपूर्वक एव मन्तव्यः तत्रैतज्जन्मीयशब्दपूर्वकत्वस्य प्रत्यक्षतो बाधेन जन्मान्तरशब्दपूर्वकत्वमास्थेयमिति भावः। एतदेव वक्ष्यति [वा० का० २ कारि १४८] साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा। इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥ इति॥ १२१॥

लोक में जितने कार्य करने के नियम हैं उन सबके मूल में शब्द है। (बिना शब्द का उच्चारण किए कोई कार्य हो ही नहीं सकता) बालक भी पूर्व जन्म के शब्द भावना नामक संस्कार के द्वारा ही अपना कार्य करता है।

हमारे व्यवहारों की तरह बालकों के भी व्यवहार शब्द-भावना के रूप में स्थिर जन्मान्तरीय शब्द से ही होते रहते हैं॥ १२१॥

ननु का इतिकर्तव्यता बालस्य यत्र जन्मान्तरशब्दपूर्वकत्वमास्थीयतेऽत आह—

बालक की वह इतिकर्तव्यता जिनके द्वारा जन्मान्तर के संस्कार माने जाते हैं।

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्॥ १२२॥

अशिक्षितशब्दोच्चारणस्य बालस्य यः आद्यः प्राथमिकः करणविन्यासः करणानां प्रयत्नानां विन्यासः[1] शब्दोच्चारणे विनियोगः तेन च करणविन्यासेन प्राणस्य प्राणवायोः ऊर्ध्वं समीरणम् तेन च वायुना ऊर्ध्वदेशं गत्वा मूर्धानमाहत्य प्रतिनिवृत्य स्थानानामभिघातः तत्तद्वर्णोच्चारणाय तेषु तेषु स्थानेषु शब्दहेतुभूतः संयोगविशेषः शब्दभावनां अन्तः शब्दभावनां विना भवितुं नार्हतीति शेषः॥

क्योंकि शब्द-भावना के बिना अबोध बालक करणों (प्रयत्नों) का शब्दोच्चारण के लिए विनियोग नहीं कर सकता। और बिना प्रयत्नों के प्राणवायु का ऊपर की ओर बढ़ना तथा शब्दोच्चरण के लिए शिर तथा कण्ठ आदि स्थानों में अभिघात भी नहीं हो सकता। अर्थात् शब्द का उच्चारण ही नहीं हो सकता॥ १२२॥

---

१. वाचस्पतिमिश्रास्तु न्यायकणिकायाम्—'आद्यःकरणविन्यास' इतीमां कारिकां 'जातमात्रः खल्वयं बालकः पित्रा मुखे हुते मधुसर्पिषी जिह्वया लेढि। सोऽयमाद्यः करणविन्यासः प्राणांश्चोर्ध्वं समीरयति यच्छ्वसितीति उच्यते। अपि चोदीरितेन वायुना हृदयादीनि स्थानान्यभिहन्ति यतः शब्दभेद आविरस्ति तदेतत्प्रागभवीयशब्दभावनाविजृम्भितमिति व्याचख्युः।

अयं भावः बालानामेवंविधा चेष्टा कर्तव्यतावगतिपूर्विका स्वतन्त्रचेतनप्रवृत्तित्वात् या या स्वतन्त्रचेतनप्रवृत्तिः सा सा कर्तव्यतावगतिपूर्विका यथास्मदादीनाम् तथा विवादाध्यासिता कर्तव्यतावगतिः शब्दयोनिः कर्तव्यताकारत्वात्। यो य एवमाकारः स सर्वः शब्दयोनिर्यथास्मदादीनां स च शब्दः साक्षादनुपलभ्यमानो भावनामुखेन करणभावमापद्यते, भावना च यथाकार्यदर्शनोन्नेया यावत्कार्यदर्शनं व्यवस्थाप्यते इति न जात्यन्धबधिरादीनां जन्मान्तरानुभूतरूपादिव्याख्यानप्रसङ्ग इति ॥ १२२ ॥

संप्रति ज्ञाने शब्दरूपानुपङ्गमाह—

इसलिए यह समझ रखना चाहिए कि प्राणी के समस्तज्ञानों में शब्दरूपता रहती है। क्योंकि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ १२३ ॥

सः प्रत्ययः ज्ञानं लोके नास्ति यः शब्दानुगमादृते शब्दानुगमं विनास्यात् सर्वमपि ज्ञानं शब्दविषयकमित्यर्थः, शब्दार्थयोरभेदात् अर्थस्य शब्दप्रकाश्यत्वं नियमाद्धेति भावः। अत्रानुव्यवसायरूपं प्रमाणमाह—अनुविद्धमिति। सर्वं ज्ञानं शब्देन अनुविद्धमिव संसृष्टमिव भासते यज्ज्ञानं यदाकारावग्रहं तत्तद्विषयकमिति व्याप्तेः ज्ञानमात्रस्य शब्दाकारावग्रहतया शब्दविषयकत्वनियम इति भावः।

लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो विना शब्द के अनुगम के होता हो। अतः सब ज्ञान शब्द से जुड़े हुए की भांति भासित होवे हैं ॥ १२३ ॥

अत एव शारदातिलके—

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद्।
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत् ॥
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः ॥ इत्युक्तं संगच्छते ॥

इदमत्रावधेयम् सर्वेऽर्थाः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र नामधेयान्विताः। नास्ति सोऽर्थो यः कदाचित् क्वचित् कथञ्चिन् नामधेयेन वियुज्येत। प्रतीयमानाश्चार्था नामधेयसामानाधिकरण्येनावगम्यन्ते गौरित्यर्थोऽश्व इत्यर्थ इति नामधेयतादात्म्यमर्थानां सिध्यति। न चोपायतया सामानाधिकरण्यं रूपादिप्रतिपत्त्युपाये चक्षुरादौ रूपसामानाधिकरण्याननुभवात्। न च ज्ञायमान उपाय एव उपेयसामानाधिकरण्यमनुभवति चक्षुरादि तु न तथेति वाच्यम् ज्ञायमानोपायस्य धूमस्य वह्निसामानाधिकरण्याननुभवात्। अपि चाशब्दोपायेऽनुमेयादौ न शब्दसम्भेदेनाधिगमो भवेदस्ति तु तस्मात् तैर्नामधेयैः सह समानाधिकरणस्यार्थस्य यतः प्रत्ययस्तस्मान्नामधेयात्मानोऽर्थाः। षड्जादिषु च शब्दाप-

कर्षे अर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे त्वर्थप्रत्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतव्योत्कर्षाधीनोत्कर्षत्वान्नामधेयोत्कर्षेणार्थोत्कर्षोऽर्थस्य तादात्म्यं कथयति। नन्वस्त्वर्थसम्प्रत्ययो नामधेयसामानाधिकरण्येन नत्वेतावता नामधेयात्मता सिद्धयति अस्ति हि पुरोवर्ति सामानाधिकरण्येन रजतप्रत्ययो नचैतावता शुक्ती रजतात्मिका भवति तत्र विसंवादात् शुक्ते रजतात्मकत्वाभावेऽपि इहाविसंवादात् प्रमाणं सन् सामानाधिकरण्यानुभवो नामधेयतादात्म्यं साधयत्यर्थानामिति। एवं च वैयाकरणाः निर्विकल्पके ज्ञाने घटघटत्वयोर्भानेन घटादितादात्म्यापन्नः घटशब्दोऽपि भासत इति मन्यन्ते। तथा च तात्पर्यटीकाकृतः 'नामरहितमविकल्पकं नास्तीति ये विप्रतिपद्यन्ते तन्मतमपाचिकीर्षुरुपन्यस्यति भाष्यकारः यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः' इति, 'तथा च नाविकल्पं शब्दरहितमस्तीति तात्पर्यार्थः, तथा चाहुः—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ बालमूकादीनामपि विज्ञानं शब्दानुव्याधवदेवानादिशब्दभावनावशात्' इति च वैयाकरणमतमुपन्यास्थन्। नामसंसर्गविषयकत्वं सविकल्पकलक्षणं वदद्भिः कीर्तिदिङ्नागादिभिः सविकल्पके शब्दभानमभ्युगतम् 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमि'ति प्रत्यक्षलक्षणेऽव्यपदेश्यमिति विशेषणं वदता गौतमेन, शब्दविषयकत्वेन प्रत्यक्षस्य शाब्दत्वापत्तिरिति वदता वात्स्यायनेन, तत्रैव सूत्रे शब्दविषयकत्वमेव च शाब्दत्वं न तु शब्दजन्यत्वमिति अशब्दोपायेऽनुमेयादौ न शब्दसम्भेदेनार्थाधिगमो भवेदस्ति तु इति च वदता वाचस्पतिमिश्रेण च शाब्दानुमित्योरपि शब्दभानमभ्युपगतम्। स्वं रूपमिति सूत्रे भाष्येऽपि शब्दपूर्वकश्चार्थसंप्रत्यय इत्युक्तम् शब्दविशेषणक इत्यर्थः। मन्त्रे यजुषि च यदुच्यते तत्र तन्त्रशब्दादौ कार्यासम्भवेन मन्त्रादिसंहचरितेऽर्थे भविष्यतीति भाष्यप्रतीके साहचर्यं च शब्दानुविद्धस्यैवार्थस्यावगमादिति कैयटेन स्पष्टमेवोक्तम्। युक्तं चैतत् बौद्धर्थस्य बौद्धेन शब्देनाविभागात्तन्मूलाभेदाध्यवसायेन शब्दार्थाकारबुद्धौ जायमानायां स्वाकारस्यापि समर्पणम् इति शब्दस्यापि विषयता। अत एव शब्दे ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्त्योरङ्गीकारः एवमर्थेनापि स्वाकारसमर्पणे तत एव शब्दाकारस्यापि समर्पणमिति सर्वं ज्ञानं शब्दानुविद्धमेव अत एव चक्षुषा दृश्यमानमपि अज्ञातबोधकं पदार्थं 'किमिदमिति न जानामीति' व्यवहरन्ति तदुपदेशे च 'ज्ञातमिदम्' इति व्यवहरन्ति। अत एव पिकपदशक्तिग्रहवतः 'अयं कोकिल'इति नानुव्यवसायः तव पिकत्वकोकिलत्वयोरभेदात् मम तु तत्तत्पदभानान्न दोष इति॥ १२३॥

ज्ञाने शब्दाकारानुगममनन्तरोक्तं द्रढयितुमाह—
और दूसरी बात यह है कि—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ १२४॥

यथा अग्नेः प्रकाशकत्वं स्वरूपं यथा वा अन्तर्यामिणश्चैतन्यं स्वरूपं तथा अवबोधस्य शाश्वती नित्या वाग्रूता वाग्रूपानुपङ्गः यदि उत्क्रामेत् निर्गच्छेत् चेत् तदा वाग्रूपतायामसत्यामुत्पन्नोऽपि प्रकाशः न प्रकाशेत् पररूपानङ्गीकारेण प्रकाशक्रियासाधनं न स्यात् हि यतः सा वाग्रूपता प्रत्यवमर्शिनी प्रकाशस्यापि प्रकाशिका व्यवसायप्रकाशकानुव्यवसाय इव। यदाहुः 'इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः तद्यथा योऽयं जातवेदाः यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत्सर्वमुपनिवद्धं यावत्स्थाष्णु चरिष्णु च' इति। विमर्शः प्रकाशश्चेति तत्त्वद्वयं तत्र विमर्शः प्रकाशस्य प्रकाशक इति शैवैरङ्गीक्रियते तत्रास्माभिः विमर्शस्थानीया वागभ्युपेयते इति ॥

जैसे अग्नि का प्रकाशकत्व स्वरूप है और आत्मा का स्वरूप चैतन्य है वैसे अवबोध (ज्ञान) का वाग्रूप होना भी नित्य स्वरूप है। यह यदि कहीं निकल जाय तब उत्पन्न भी प्रकाश न प्रकाशित हो। क्योंकि वह वाग्रूपता जैसे अनुव्यवशाय व्यवशायका प्रकाशक है वैसे प्रकाश का भी प्रकाशक है ॥ १२४ ॥

तद्यथा सर्वः प्रत्यय उपजायमानः नानुल्लिखितशब्दक उपजायते शब्दोल्लेखविरहिणोऽनासादितप्रकाशस्वभासस्य प्रत्ययस्यानुत्पन्ननिर्विशेषत्वात् इदमीदृशमित्यादिपरामर्शमुपितशरीरे वेदने वेदनात्मकतैव न स्यात्। येऽपि हि वृद्धव्यावहारोपयोगानासादनेनानासादितशब्दार्थसम्बन्धविशेषव्युत्पत्तयो बालदारकप्रायाः प्रमातारस्तेऽपि 'तत्' 'सत्' 'किम्' इत्यादि शब्दजातमनुल्लिखन्तः न प्रतियन्ति किमपि प्रमेयमतः शब्दोन्मेषप्रभावप्राप्तप्रकाशस्वभावता सर्वप्रत्ययानाम् इति वाग्रूपाननुगमे संविदः प्रकाशशून्यतया अनधिगतविषयः सर्व एवान्धमूकप्रायो लोकः स्यात्। नच स्वप्ने स्मृतौ च वाग्रूपानुगमो नास्तीति भ्रमितव्यम् सूक्ष्मस्य शब्दभावनाख्यस्य वाग्रूपानुगमस्य तत्राप्यङ्गीकारात्। एवं निर्विकल्पके स्मृतावपि च सूक्ष्मवाग्रूपानुगमोऽस्तीति मन्तव्यम् ॥ १२४ ॥

पुनरपि सर्वस्य वाग्रूपत्वे बीजमाह—

सब व्यवहारों के मूल में वाणी ही है क्योंकि —

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ १२५ ॥

सा वाक् सर्वविद्याशिल्पानां सर्वासां विद्यानां सर्वेषां शिल्पानां कलानां चतुःषष्टिकलानां च उपबध्यते अनया उपबन्धनी बोधिका तद्वशात् वाग्रूपतावशाद् अभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु समुत्थाप्यमानं विभज्यते अयं घटः अयं पट इति निरूप्यते। अत एव वाग्व्यवहारेणानुपगृहीतमर्थरूपमसता तुल्यम् अत्यन्तमसच्-

शशविषाणं गन्धर्वनगरं राहोः शिरः इत्यादिकं वाचा समुत्थाप्यमानं मुख्यसत्तायुक्तमिव भासते इत्यर्थः ।

और, वही वाणी सब विद्याओं, शिल्पों और कलाओं का बोध कराती है तथा इसी के द्वारा उत्पन्न घट, पट आदि समस्त वस्तुओं का विभाग भी सिद्ध होता है ॥ १२५ ॥

अयं भावः मनुष्याणां सर्वोऽपि लौकिके वैदिके वार्थे यो व्यवहारः स विद्याशिल्पकलादिभिः प्रतिबद्धः मनुष्याधीनश्च स्थावरजङ्गमस्य व्यवहारः विद्यादयश्च वाग्रूपायां बुद्धौ निबद्धाः घटादीनां निष्पादनेऽपि प्रयोजकः 'एवं क्रियताम्' इत्युपदिशति प्रयोज्यश्च 'एवं करोमि' इति समीहते स चासम्भवी वाग्रूपतामन्तरेणेति ॥

विद्याः—अष्टादश, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः इति वेदाश्चत्वारः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषम् इति वेदाङ्गानि षट्। पुराणानि न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति उपाङ्गानि चत्वारि । अत्रोपपुराणानां पुराणे वैशेषिकशास्त्रस्य न्याये वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायाम् महाभारतरामायणयोः सांख्यपातञ्जलपाशुपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रेष्वन्तर्भावः । इति मिलित्वा चतुर्दशविद्याः तदुक्तं—'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥' इति । एता एव चतुर्भिः आयुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्ववेदार्थशास्त्राख्यैरुपवेदैः सहिता अष्टादश विद्या भवन्ति । अर्थशास्त्रे—नीतिशास्त्रश्वशास्त्रगजशास्त्रशिल्पशास्त्रसूपकारशास्त्राणामन्तर्भावः विस्तरस्तु महिम्नस्तोत्रान्तर्गत'त्रयीसांख्यम्' इति श्लोकव्याख्याने मधुसूदनसरस्वतीकृते द्रष्टव्यः ।

शिल्पं—शिल्पशास्त्रं गृहादिनिर्माणप्रकारबोधकं शास्त्रम् ।

चतुः षष्टिकलाश्च—गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, नाट्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम्, तण्डुलकुसुमवलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागाः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकवादः, अद्भुतदर्शनवेदिता, मालाग्रथनकल्पः, शेखरापीडयोजनम्, नेपथ्ययोगः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, इन्द्रजालम्, कौचुमारयोगाः, हस्तलाघवम्, चित्रशाकापूपभक्तविकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवापकर्म, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिकाप्रतिमालाः, दुर्वचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटिकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः, तर्कुकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागज्ञानम्, आकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादनम्, केशमार्जनकौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितकविकल्पाः, देशभाषाज्ञानम्, पुष्पशकटिकनिमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, असंवाच्यसम्पाठ्यम्, मानसकाव्यक्रियाविकल्पाः छलितकयोगाः, अभिधानकोशच्छन्दोज्ञानम्, क्रियाविकल्पाः, ललितविकल्पाः, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषः, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि वैनयिकविद्याज्ञानम्, वैजयिकविद्याज्ञानम्, वैतालिकविद्याज्ञानम्, इति ॥ १२५ ॥

किंच—

और—

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥ १२६ ॥

सा एषा वाक् संसारिणां संज्ञा इत्युच्यते या बहिः वाह्यस्य लोकव्यवहारस्य साधनं या च अन्तः सुखदुःखादिसंविद्रूपा वर्तते यतः सर्वजन्तुषु तन्मात्रां वाङ्मात्राम् अनतिक्रान्तं चैतन्यं वर्तते न स प्राणिविषयो यस्य चैतन्ये वाग्रूपानुगमो नास्तीत्यर्थः ॥

और, यही वाणी प्राणियों में चेतना शक्ति है जो बाह्य लोक-व्यवहार का साधन है तथा अन्तःकरण के सुख-दुःख का ज्ञान कराती है। क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है जहाँ चेतन हो और वाक्‌मात्रा न हो ॥ १२६ ॥

अयं भावः यावद्वाग्रूपतानुवृत्तिस्तावदेव अन्तः संज्ञा सुखदुःखसंविन्मात्रा बहिः संज्ञा वाङ्निबन्धनो लोकव्यवहारश्च वाग्रूपानुगमाभावे नियतमुत्सीदेत्। अतः- चैतन्येनाविष्टा नहि काचिज्जातिरस्ति यस्यां स्वपरसम्बोधानुगमो वाचा न क्रियेत स च स्थावरेषु स्वसम्बोधानुगम एव भवति जङ्गमेषु मनुष्येषु स्वपरसम्बोधानुगमः। स च वाचा क्रियते इति चितिक्रिया वाक्‌परिग्रहरहिता न भवति इत्येके। वागेव चितिक्रियारूपा इत्यन्ये।

यदाहुः—

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा ।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा ॥
एकत्वमनतिक्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धनाः ।
पृथक् प्रत्यवभासन्ते वाग्विभागा गवादयः ॥
षड्द्वारां षडधिष्ठानां षड्प्रबोधां षडव्ययाम् ।
ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते ॥ इति ।

अयमर्थः—भिद्यन्त इति भेदाः गवादयः तेषामुद्ग्राहः स्वीकारः तदात्मको यो विकल्पो भेदः तेन लब्ध आकारपरिग्रहो यया यतश्च भावनाकारपरिग्रहेण परा प्रकृतिः तच्चैतन्यात्मना विवर्तत इति वाक्‌चैतन्ययोरभेदः ॥ वाचा नीयन्ते इति वाङ्नेत्राः शब्दा अर्थाश्च शब्दा अपि वाचमर्थरूपापन्नां प्रतिपादयन्ति तन्निबन्धनाः गवादय वाग्विभागाः वाचोऽभेदमनतिक्रान्ताः वर्तन्ते ॥ षड्द्वारां—स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम्। विशिष्टोपगतां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः ॥ इति षड्विधा प्रतिभाद्वारं प्राप्त्युपायो यस्या वाचश्च बहुधा शक्तयो या हि षड्विधां प्रतिभां जनयन्ति। ये हि प्रतिभायाम् अर्थाकारास्तेऽस्या अधिष्ठानम् ताश्च प्रतिभा



वाचोऽन्यतिरिक्त इति ताभिः षट्प्रबोधां षडन्ययां षडवयवाम् षोढैव च तस्याः प्रतिपादनव्यापारः। सर्वाणि चैतानि रूपाणि तस्या इति॥ १२६॥

यतः वागेव संज्ञा ततः—

प्राणियों में जो संज्ञा है वह वाणी ही है क्योंकि—

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान्समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्॥ १२७॥

सर्वान् देहिनः अर्थक्रियासु जलाहरणादिकार्येषु वाक् समीहयति जलमानयेति प्रेरयति वाग्रूपानुषङ्गे एव पदार्थादीनां समीहनं चेष्टनं भवतीति वाचैव युक्ताः प्राणिनश्चेष्टन्त इति भावः। तदुत्क्रान्तौ अयं देही व्यवहारयोग्यस्य परिच्छेदस्य अभावात् काष्ठकुड्यवत् विसंज्ञो दृश्यते विसंज्ञ इति व्यवह्रियते॥ १२७॥

क्योंकि, समस्त प्राणियों को कार्य करने के लिये वाणी ही प्रेरक है (जैसे पानी लावो) और इसी वाणी के बन्द हो जाने पर यह देह काठ और भीत की तरह विना चेतना का हो जाता है॥ १२७॥

जाग्रद्दशायां वाग्रूपानुगममुक्त्वा स्वप्नेऽपि तमाह—

जाग्रतावस्था की भाँति स्वप्नावस्था में भी वाणी का अनुगम होता है जैसे।

प्रविभागे यथा कर्ता तया कार्ये प्रवर्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते॥ १२८॥

यथा प्रविभागे जाग्रदवस्थायां तया वाचा करणभूतया कर्ता देवदत्तादिः कार्ये घटादौ प्रवर्तते तथा अविभागे स्वप्नावस्थायां सैव वागेव कार्यत्वेनावतिष्ठते वागेव भोक्तृतया भोग्यतया भोगतया च विवर्तत इत्यर्थः॥ तथा च श्रुतिः—'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्'।

आह च—

प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते॥ इति।

जैसे जाग्रत अवस्था में वाणी से प्रेरित होकर कर्ता कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वैसे स्वप्नावस्थामें भी वाणी ही भोक्ता, भोग्य और भोगरूप में परिणत हो जाती हैं॥ १२८॥

एतदुक्तं भवति जाग्रदवस्थायां कर्तृकर्मकरणविभागः सम्भवति बाह्यस्य तदानीं सत्वाद् इति सा प्रविभाग इत्युच्यते स्वप्नावस्थायां तु वाग्रूपं शब्दब्रह्मैव कर्ता कार्यं करणं च तदानीं बाह्यस्याभावात् इति सा अविभाग इत्युच्यते। यद्यपि जागरणेऽपि सैव कर्ता कार्यं करणं च तथापि प्रसिद्धत्वादेवमुक्तम् कार्यत्वेन कर्तृत्वकरणत्वे उपलक्ष्येते॥

केचित्तु–जाग्रदवस्थायां जीवपरमात्मनोः पार्थक्यात् सा प्रविभागावस्थोच्यते।

स्वप्ने तु 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' इति श्रुत्या यत्र सुप्तौ पुंसः स्वपितीति नाम भवति तदा पुरुषः सता सम्पन्नस्तेनैकीभूतः हि यतः स्वं सदात्मानमपीतो भवति लीनो भवति इत्यर्थः। मनः प्रचारोपाधिविशेषसम्बन्धादिक्रियार्थान् गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान् पश्यन् मनः शब्दवाच्यो भवति स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति स्वं ह्यपीतो भवतीत्युच्यते इति सा अविभागावस्थोच्यते इत्याहुः ॥१२८॥

सर्वो हि विकारो वाच एवेति स्वमतं समर्थयते—

समस्त जगत् वाणी का ही विकार है।

स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।
तथैव रूढतामेति तया ह्यर्थो विधीयते ॥ १२९ ॥

स्वमात्रा स्वस्वरूपं परमात्रा परस्वरूपं यथा भेदेन अभेदेन वा श्रुत्या वाचा प्रक्रम्यते प्रत्याय्यते तथैव भेदेनाभेदेन वा सः अर्थो रूढतां प्रसिद्धिमेति हि यतः तया वाचा अर्थो विधीयते बुद्धावारोप्यते इत्यर्थः ॥

जैसे स्वस्वरूप अथवा परस्वरूप भेद या अभेद रूप में वाणी से प्रतीत होता है वैसे ही भेद अथवा अभेद रूप में वह शब्द उसी अर्थ में रूढ़ हो जाता है। क्योंकि किसी भी अर्थ का ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है।

अयं भावः यथा राहोः शिरोऽभिन्नत्वेऽपि राहोः शिर इति यथा वा पुरुषस्य चैतन्याभिन्नत्वेऽपि पुरुषस्य चैतन्यमिति शब्देन भेदः प्रतिपाद्यते यथा च आदेशस्य स्थानिभिन्नत्वेऽपि स्थानिवत्सूत्रेणाभेदः प्रतिपाद्यते तथैव स रूढिं प्रसिद्धिं याति। यथाहुः खण्डनकाराः—'अत्यन्ताशब्दस्यैष महिमा यदसदर्थप्रकाशनं नाम। यथाहुः खण्डनकाराः—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च' इति। योगसूत्रेऽप्युक्तं 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति। शब्दज्ञानमात्रेण बुद्धावनुपतति वस्तुशून्यः बाह्यार्थशून्यः विकल्पः विकल्पात्मकं ज्ञानमिति तदर्थः। अत्र योगवृत्तौ नागोजीभट्टाः 'स (विकल्पः) न प्रमाणान्तर्भूतः वस्तुशून्यत्वात् नापि विपर्ययान्तर्भूतः ज्ञानस्य याथार्थ्ये सति यादृशस्तद्याथार्थ्यनिबन्धनो व्यवहारः शब्दप्रयोगरूपस्तादृशव्यवहारस्येतोऽपि दर्शनात्। विपर्ययस्तु नैवम् बाधोत्तरमिदं रजतमिति शब्दप्रत्यययोरभावात् यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति अन्यथा चितेरेव पुरुषत्वाद्भेदनियतसम्बन्धरूपस्य षष्ठ्यर्थस्याप्रतीत्यापत्तिः भवति च चैत्रस्य गौरिति यथार्थशब्दवदत्रापि षष्ठ्यर्थे वृत्तिः ततो विवेकिनामपि बोधश्च। एवं-निष्क्रयः पुरुषः, तिष्ठति बाण, इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अभावस्य अधिकरणमात्रत्वेन क्रियाभावस्य गतिनिवृत्तेश्च पुरुषेण बाणेन चानतिरेकादाधाराधेयभावानुपपत्तेः' इति ॥ १२९ ॥

लोग 'राहु का शिर, और 'पुरुष का चैतन्य' इस प्रकार व्यवहार करते हैं और 'स्थानिव-



दादेशः' भी कहते हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो शिर ही राहु है और चैतन्य ही पुरुष है। किन्तु व्यवहार अभेद में भेद मानकर होता है इसी प्रकार स्थानी और आदेश के भिन्न होने परभी स्थनिवत् सूत्र भेद में अभेद सिद्ध करता है और वह उसी प्रकार भेद में अभेद, अथवा अभेद भी भेदरूप से प्रसिद्ध (रुढ़) हो जाता ॥ १२९ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यते ऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ १३० ॥

निमित्ते बाह्ये अलातचक्रादौ अलातचक्रशशविषाणखपुष्पादिरूपेऽर्थे अत्यन्तमतथाभूते असत्येऽपि श्रुत्युपाश्रयात् शब्दबलात् वस्त्वाकारनिरूपणा खपुष्पं भवत्सिद्धान्त इत्येवं शब्दप्रयोगो दृश्यते इति अत्यन्तासन्तमप्यर्थं शब्द एव जनयतीति सन्तमपि स एव जनयतीति शब्दमूलिकैव सृष्टिः अत एव शब्दसत्ताविहीनः कोप्यर्थो न लभ्यते बाह्यसत्ताविहीनस्तु शशविषाणादिरूपो लभ्यत इति भावः ॥ १३० ॥

जैसे, बाह्यवस्तु शशविषाण, अलात चक्र, आकाश पुष्प आदि अत्यन्त असत्य हैं फिर भी शब्द के बल से किसी वस्तु के आकार को बताने में 'आपका मत खपुष्प की भाँति हैं।' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग देखा भी जाता है।

जब अत्यन्त असत्य अर्थ भी शब्द से उत्पन्न होता है तो सत् अर्थ तो शब्द से उत्पन्न होगा ही क्योंकि जगत में जितने पदार्थ हैं वे सब शब्द के विषय हैं। जो जगत् में नहीं है खपुष्प आदि उनकी भी सत्ता शब्द में विद्यमान है। अतः शब्द ही जगत् का कर्ता है या जगत् शब्द का ही विवर्त है यह मान लेना ही चाहिए ॥ १३० ॥

परमात्मनो जगत्कारणतावोधकश्रुतीनामविरोधाय शब्दस्यैव परमात्मरूपतामाह—

श्रुतियों में जगत्का कारण परमात्मा माना गया है। किन्तु वह परमात्मा भी शब्द ही है।

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १३१ ॥

प्रयोक्तुः उच्चारयितुः विवृत्तवाग्रूपस्य जीवस्य आत्मानम् अन्तर्यामिणम् तथा च श्रुतिः 'एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति अन्तः शरीरान्तः हृदयाकाशदेशे अवस्थितं प्रतिष्ठितं शालिग्रामशिलायां विष्णुरिव तत्रोपलब्धियोग्यं शब्दं महान्तं व्यापकम् ऋषभं देवं स्वप्रकाशं ब्रह्मस्वरूपमपि प्राहुः येन ब्रह्मणा अविवृत्तवाग्रूपेण ध्वनिगतक्रमोपरागाभावे सायुज्यम् ऐक्यम् इष्यते। शब्दमेव अविद्यावशं जीवमविचारहितं ब्रह्म चाहुरिति तत्त्वम्।

यही कारण है कि—महर्षियों ने शब्द का उच्चारण करने वाले की आत्मा को जो शरीर के बीच में हृदयाकाश में स्थित है (अर्थात् प्रतीत होता है) उसे ही व्यापक देव (ब्रह्म) भी माना है और उसी के साथ सायुज्य (ऐक्य) मुक्ति भी चाहते हैं।

क्योंकि अविद्या से आच्छन्न शब्द जीव और अविद्या से रहित शब्द ब्रह्म कहा गया है ॥

तथा च भागवतम्—'स एव जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण च गुहां प्रविष्टः । मनोमयं सूक्ष्ममपेत्य रूपं मात्रा स्वरा वर्ण इति प्रसिद्धः ॥' इति छाया । सः शब्द एव जीवः विवरेषु हृदयाद्याकाशेषु प्रसूतिरभिव्यक्तिर्यस्य प्राणेन प्राणवायुपरिणामरूपेण घोषेण ध्वनिना गुहां हृदयशिरःकण्ठमूर्धरूपां प्रविष्टः सूक्ष्मं रूपम् अपेत्य त्यक्त्वा मनोमयम् अन्तःकरणपरिणामरूपं विकारं प्राप्येति शेषः । मात्रा स्वरा वर्ण इति प्रसिद्धिमुपगत इत्यर्थः । शब्द एव जीवभावमापद्यते स एव च अन्तःकरणद्वारा वर्ण इत्यादिप्रसिद्धिमुपगत इति भावः ।

एतदेवाहुर्महाभाष्यकाराः—'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश' इति । चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च, त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः, द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च, सप्तहस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः, त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति वृषभो वर्षणात् रोरवीति शब्दं करोति कुत एतद्रौतिः शब्दकर्मा महो देवो मर्त्यां आविवेशेति महान्देवः शब्दः मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेशेत्यर्थः' इति । अत्रो द्योतः 'महान् परब्रह्मरूपः देवोऽन्तर्यामिरूपः शब्दो मर्त्येष्वाविष्ट इत्यर्थः' इति ।

एतदुक्तं भवति शब्दो द्विविधः नित्यः कार्यश्च नित्यः सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः सर्वेषामन्तः सन्निविष्टः सर्वविकाराणां प्रभवः शब्दब्रह्मरूपः । अयमेव अविद्यावृतः सन् घटस्थितदीप इव नाना विषयान् भासयन् जीवभावमापन्नः कर्मणामाश्रयः सुखदुःखयोरधिष्ठानं घटादिनिरुद्धः प्रकाश इव भवति । कार्यः व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही घटपटादिशब्दरूप इति ॥ १३१ ॥

शब्दब्रह्मतादात्म्यभावोपयोगिनमुपायमाह—

शब्दब्रह्म में तादात्म्य प्राप्त करने का उपाय यह है कि—

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ १३२ ॥

यस्मादुक्तं महात्म्यं शब्दस्य तस्मात् यः शब्दसंस्कारः अपभ्रंशविवेकेन ज्ञानं सा परमात्मनः नित्यस्य शब्दब्रह्मणः सिद्धिः सिद्ध्युपायः । अयं भावः व्यवस्थितसाधुत्वेन रूपेण शब्दतत्त्वे संस्क्रियमाणे अपभ्रंशरूपप्रतिबन्धकापगमे धर्मविशेष आविर्भवति ततः शब्दब्रह्मतादात्म्योपगमरूपा ब्रह्मणः प्राप्तिर्भवतीति । कथं शब्दसंस्कारः ब्रह्मप्राप्त्युपाय इत्याह—तस्य शब्दस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञः प्रवृत्तिः षड्भावविकाररूपा तस्यास्तत्त्वं प्रतिभाख्या तां यो जानाति स तत् औपनिषदममृतं ब्रह्म अश्नुते तेनैकीभवतीत्यर्थः ॥

इस लिए जो शब्द का संस्कार व्याकरण सिद्धरूप है वह ही उस परमात्मा (नित्यशब्द-ब्रह्म) की सिद्धि (प्राप्ति) का उपाय है। क्योंकि इस शब्द ब्रह्म की प्रवृत्ति (षड्भावविकार) और तत्त्व (प्रतिभा) को जो ठीक समझ सकेगा वह ही उस उपनिषद् में वर्णित अमृत ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् सायुज्य मुक्ति उसे ही मिल सकती ॥ १३२ ॥

तथा चाहुः—

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः ।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि ॥
वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च ।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ।
ज्योतिरान्तरमासाद्य च्छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः ।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥ इति ।

अयमर्थः 'तस्य प्राणेषु या शक्तिः' इति कारिकया प्राणाधिष्ठानः बुद्ध्यधिष्ठानश्च द्विविधः शब्द उक्तः तत्र शब्दः प्राणबुद्धिशक्तिभ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रकाशयति यदा च प्राणवृत्तिं प्राणवायुव्यापारमतिक्रामति तदा न वायोः तत्तत्स्थानेषु अभिघात इति शब्दे भेदरूपावभासो न भवतीति भेदरूपस्यासत्यतावबोधात् प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे बुद्धिस्थे व्यवस्थितो भवति तत्रापि शब्दात्मा प्रत्यवभासमानः सक्रमः इव भासते इति क्रमसंहारयोगेन क्रमराहित्यभावनया आत्मनि बुद्धौ आत्मानं शब्दं संहृत्य क्रमसंहारबुद्ध्या विषयीकृत्य वाचः संस्कारं ध्वन्युपरागरहित्यरूपम् आधाय कृत्वा वाचं ज्ञाने निवेश्य अस्या वाचः बन्धनानि भेदरूपाणि विभज्य पृथक् कृत्य एनां वाचं छिन्नबन्धनामविद्याहङ्काररहितां कृत्वा छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः सन् आन्तरं ज्योतिः पश्यन्तीवाग्रूपं आसाद्य ज्ञात्वा ग्रन्थीन् छित्वा परेण ज्योतिषा शब्दब्रह्मणा एकत्वं प्रतिपद्यते ॥

इदमत्रावधेयम्—सिद्धान्तशैवादिमते शिवः तस्य समवायिनी शक्तिः ज्ञानशक्त्याख्या सा निमित्तकारणम् समवायो नाम तादात्म्यमिति शिवः शक्तिश्च एकं तत्त्वम् शिवस्य परिग्रहशक्तिः बिन्द्वाख्या या क्रियाशक्तिरित्युच्यते परिग्रह उपादानकारणम् इत्येकं तत्त्वमिति रत्नत्रयम् । स च बिन्दुर्द्विविधः शुद्धोऽशुद्धश्च शुद्धबिन्दुरेव महाबिन्दुः महामाया इति अशुद्धबिन्दुश्च मायेति उच्यते बिन्दौ समवायिन्याः शक्तेः सम्बन्धः स एव विकल्पः भेदज्ञानमित्याख्यायते तं च विकल्पमाश्रित्य शिवः शुद्धबिन्दुं क्षोभयति तेन च स शब्दार्थसृष्टिधारां जनयति सा च शब्दधारा परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूपा शुद्धा ततोऽशुद्धबिन्दुः क्षुब्धः अशुद्धां शब्दार्थधारां जनयति सा च परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूपा अशुद्धा । द्विविधस्यापि बिन्दोः जडत्वेन अचिदात्मकत्वात्तत्परिणामो द्विविधापि परादिरूपा वागचिद्रूपैव तस्या अतिक्रम एव बन्धनच्छेदलक्षणो मोक्षः न तु तत्तादात्म्यम् स च दीक्षादिव्यापारेण सम्पाद्यते इति ।

यथाहुरष्टप्रकरणे—

शब्दतत्त्वमघोषा वाग्ब्रह्म कुण्डलिनी ध्रुवम् ।
विद्या शक्तिः परा नादो महामायेति दैशिकैः ॥
विन्दुरेव समाख्यातो व्योमानाहतमित्यपि ।
चतस्रो वृत्तयस्तस्या याभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः ॥
वैखरी मध्यमाभिख्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिता ।
तत्र सा वैखरी श्रोत्रग्राह्या यार्थस्य वाचिका ॥

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा । प्रयोक्तॄणामियं प्रायः प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमाद्वर्णानुपातिनी । अन्तः संजल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ॥
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य वर्तते मध्यमाह्वया । अविभागेन वर्णानां सर्वतः संहृतक्रमा ॥
स्वयं प्रकाशा पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥
यस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते । पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥

तामेव वाणीं सूक्ष्माख्यामाहुरात्मविदो जनाः ।
प्रत्यात्मनियता एता वृत्तयो बन्धनात्मिका ॥
आभ्यो विभिक्तमात्मानं न हि पश्यन्ति पुद्गलाः ।
यदा वृत्तिशेषेण विलीना चित्तसंश्रया ॥
तदा सूक्ष्मा विशुद्धेव चिदाभात्यविवेकतः ॥ इति ।

त्रिधाणवः—उत्तममध्यमाधमभेदेन ज्ञानादिमन्तः । पुद्गलाः—जीवाः । सूक्ष्मा—परा । यदा वृत्तिरिति । सूक्ष्मा तु अभिधेयबीजत्वेन सर्वभूतेष्ववस्थिता पश्यन्त्या अपि कारणभूता चिदा अत्यन्तसंश्लेषात् तद्रूपेव भातीत्यर्थः ॥

अभिनवगुप्तपादाचार्यास्तु प्रकाशः विमर्शश्चेति वस्तुद्वयम् । प्रकाश एव शिवः विमर्शस्तु तस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः उमा इति चाख्यायते । अथापि प्रकाशस्य विमर्शव्यतिरेकेण विमर्शस्य प्रकाशव्यतिरेकेणासत्त्वादेकमेव तद्द्वयमिति मन्यन्ते । तन्मतानुसारिणोऽद्वैतिन इत्युच्यन्ते । विमर्शश्च परा वाग् प्रकाशश्च अर्थ इति । यदाहुः 'शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थजातमशेषं तु धत्ते मुग्धेन्दुशेखर' इति सामरस्यमुपगतमनादिमिथुनं वागर्थयुगलं निरञ्जनं परब्रह्मपदमित्यद्वयविदां परिभाषा । विमर्श एव च पूर्णाहन्ता यदा च शिवः स्वकीयस्वातन्त्र्येण स्वातन्त्र्यशक्तिं सङ्कोचयति तदा अहमिदं जानामीति भेदमनुभवति इति स्वातन्त्र्यशक्तिरहितोंऽशो जडवर्गः स्वातन्त्र्यशक्तिसहितश्चांशः चेतनवर्गो जायते इति । अयमेव परमेश्वराद्वयवाद इत्युच्यते ॥

शङ्कराद्वैतवादिनस्तु यत् प्रकाशः शिव इति विमर्शश्च तत्प्रकाशक इति परमेश्वराद्वैतवादिभिरभ्युपेतं तत्र प्रकाशस्यैव स्वप्रकाशत्वमभ्युपेत्य प्रकाशसम्भवे विमर्शो नाङ्गीक्रियते प्रकाश एव ब्रह्म तदेव अनिर्वाच्याविद्यया नानारूपं भासत इति वदन्ति ।

शब्दब्रह्मवादिनस्तु विमर्शः (परा वाग्) एव ब्रह्म तदेव अविद्यया नानारूपं भासते इति प्राहुः ।

यद्यपि परमार्थत परमेश्वराद्वयवादस्य ब्रह्माद्वयवादस्य शब्दब्रह्माद्वयवादस्य च नात्यन्तं भेदः यतः परमेश्वराद्वयवादे प्रकाशविमर्शयोः भेदाप्रतिभासात् प्रकाश एव विमर्शः ब्रह्मवादे च प्रकाश एवैकं तत्त्वम् शब्दब्रह्मवादे च विमर्श एवेति तथापि तत्त्वनिरूपणप्रणालीनां भिन्नतया त्रयाणां भिन्नतैव ।

अयमत्र निष्कर्षः-विमर्श एव च परा वाक् शब्द ब्रह्म इति च व्यपदिश्यते वैयाकरणैः । वैयाकरणमते शब्दब्रह्मणा तादात्म्यमेव जीवस्य मोक्षः मोक्षेऽपि शब्दात्मनावस्थितिरिति यावत् । सिद्धान्तशैवमते च मोक्षदशायामशुद्धवाग्रूपबन्धनस्यातिक्रमे शुद्धवाग्रूपस्यानुगमेऽपि तस्याः शुद्धतया चित्त्वेन प्रतिभासात् चिद्रूपैव तदानीं वाग्भवति जीवस्य च न वाक्तादात्म्यमिति[1] ॥ १३२ ॥

१. अत्रेदं चिन्त्यम्—ब्रह्मवादे शब्दब्रह्मवादे च अनिर्वचनीयया मायया कथं शुद्धब्रह्मणः सङ्कीर्णता यतः मूले एकमेवाद्वैतं चैतन्यं शब्दो वा परमार्थं तत्त्वं ततो द्वैतस्य कथं कस्य सन्निधौ स्फुरणम् कश्च अविद्याश्रयः कश्च द्रष्टा एवं शुद्धब्रह्म विवर्तात्मकस्य अनादिप्रवृत्तव्यवहारस्याधिष्ठानमधिकरणमात्रं तत्र कर्तृत्वरूपं स्वातन्त्र्यं कल्पितं न वास्तवं तत्रापि कल्पनाकर्ता जीव ईश्वरो वा न ब्रह्म स्वरूपदृष्ट्या तु स्रष्टृत्वादयः सर्वेऽपि धर्मास्तत्रैवारोपिता अध्यस्ताश्च इति यद्वदन्ति तत्र ब्रह्मणो जीवभाव ईश्वरभावो वा कथं भवति अज्ञानस्य कुतः कथं प्रवृत्तिः स्वप्रकाशं चिरभास्वरं ज्ञानसूर्यमकस्मात् अज्ञानान्धकारः कथमावृणोति ब्रह्मैव अज्ञानवशं जीवभावमज्ञानाधीशं च सदीश्वरभावमाप्नोतीति तेषामुक्तिरपि न चेतश्चमत्करोति यदा अज्ञानस्य प्रथमाविर्भावो बुद्धौ नायाति तदा तदधीनं जीवत्वमीश्वरत्वं वा कथमुपपद्येत इदं सर्वं शङ्काजालं 'जीवेशौ च विशुद्धा चिदविभागस्तयोर्द्वयोः । अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः इत्यनादित्वमुक्त्वैव समाधाय सन्तुष्यन्ति । परमेश्वराद्वयवादे च नैषां चोद्यानामवकाशः तथाहि—तन्मते अज्ञानं माया च आत्मनः स्वातन्त्र्यशक्तिमूलकस्वेच्छापरीगृहीतौ रूपविशेषौ । यथा नटः ज्ञात्वैव नानाप्रकारां भूमिकां गृह्णाति एवं परमेश्वरोऽपि स्वेच्छामात्रेण नानाप्रकारां भूमिकां गृह्णाति यतः स स्वतन्त्रः स्वस्वरूपस्यावरणाय प्रकाशनाय च समर्थः परन्तु सः यदा स्वस्वरूपमावारयति तदापि अनावृतरूपं तस्य रूपं च्युतं न भवति । अज्ञानं तदीयस्वातन्त्र्यशक्तेर्विजृम्भणमात्रम् । यथा सूर्यः यदा स्वसृष्टेन मेघेन स्वमाच्छादयति तदापि सूर्यः आच्छादितोऽपि अनाच्छादितस्वरूप एवावतिष्ठते अन्यथा मेघप्रकाश एव न स्यात् एवं विश्ववैचित्र्यमपि स्वस्वरूपविमर्शमूलकम् । तदीश्वरवादिब्रह्मवादिनोरयं विशेषः यदादिमः-ईश्वरः स्वातन्त्र्यात्मककर्तृत्ववान् इति । द्वितीयस्तु ब्रह्म शुद्धः साक्षी अधिष्ठानमात्रम् अर्थात् आत्मा विश्वोत्तीर्णः सच्चिदानन्दः एकः सत्यः निर्मलः निरहङ्कारः अनादिरनन्तः शान्तः सृष्टिस्थितिसंहारकारणं भावाभावविहीनः स्वप्रकाशः नित्यमुक्तः न तत्र कर्तृत्वमस्तीति मन्यते । आगमसम्मताद्वैतमते च विमर्श एवात्मनः स्वभावः ज्ञानं क्रिया च तदर्थमेकसदृशे तस्य क्रियैव ज्ञानं यतो ज्ञातुः सा धर्मः तथा तस्य ज्ञानमेव क्रिया तस्य कर्तृस्वभावत्वात् । ज्ञानक्रिययोरौन्मुख्यस्यैव इच्छेति नाम अतः स इच्छामयः । अथवा इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः । ऐश्वर्यं विमर्शः पूर्णाहन्ता इति स्वातन्त्र्यस्यैव नामान्तराणि ।

इदं च महामहोपाध्याय एम, ए, वाराणसेयराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्ष गोपीनाथ कविराजलेखस्य कल्याणपत्रीयशिवाङ्कस्थस्यानुवादमात्रम् ।

ननु सति व्याकरणस्मृतेः प्रामाण्ये शब्दसाधुत्वज्ञानपूर्वकधर्माधिगमद्वारकः शब्द-ब्रह्मतादात्म्यलक्षणो मोक्ष उपपद्येत तदेव कुतः शब्दसाधुत्वबोधकव्याकरणस्मृतेः पौरुषेयतया स्वतः प्रामाण्यायोगादितिशङ्कां वेदमूलकत्वेन तत्प्रामाण्यबोधनेनापाकरिष्यत् पौरुषेयाणां सर्वागमानां वेदमूलकत्वात् प्रामाण्यमाह—

यद्यपि शब्दसाधुत्वज्ञान से उत्पन्न धर्म द्वारा शब्द ब्रह्म में तादात्म्यरूप मोक्ष मिलता है, शब्दों का साधुत्व व्याकरण शास्त्र बतलाता है, व्याकरण शास्त्र मनुष्य निर्मित है वह भ्रमप्रमादादि मानव दोषों से दूषित होने के कारण स्वतः प्रमाण माना नहीं जा सकता। तथापि पौरुषेय आगम वेदमूलक होने के कारण प्रमाण माने जाते हैं क्योंकि—

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता ॥ १३३ ॥

जातु कदाचिदपि कश्चित् सांख्यादिः आगमं स्वागमं कापिलादिदर्शनम् अकर्तृकम् अपौरुषेयम् न प्रतिपद्यते न स्वीकरोति सर्वागमेषु कर्तृपरिग्रहस्य दृढस्मरणात् अतः आगमानां पौरुषेयत्वात् सर्वागमापाये सर्वेषामागमानां विनाशे व्यवस्थिता नित्या त्रयी ऋग्यजुःसामवेदलक्षणा त्रिवेदी एव सर्वागमानां बीजं मूलमित्यर्थः ॥ न हि तदानीमागमान्तराणि मूलं तेषां विच्छिन्नत्वात् पौरुषेयाणामागमानां स्वतः प्रामाण्यं स्वसम्भवि प्रायेण पुंसामनृतवादित्वाद् भ्रमप्रमादादिसम्भवाच्चेति अपौरुषेयाणि वेदवाक्यान्येव आगमान्तरानुसन्धाने बीजवदतिष्ठन्त इति भावः ॥ १३३ ॥

सांख्य आदि जितने दर्शन है वे कोई भी किसी भी अवस्था में अपौरुषेय नहीं माने जा सकते। इसलिए अनित्य इन आगमों का जब विनाश हो जाता है उस अवस्था में व्यवस्थित (नित्य) और अपौरुषेय तीनों वेद सब आगमों के बीज रूप में स्थित रहते हैं। (अर्थात् वेद से ही सब आगम उत्पन्न होते हैं और आगमों के नाश होने पर भी उनका बीच वेद में सुरक्षित रहता है) ॥ १३३ ॥

नन्वागमानां विच्छेदे तन्मूलभूतश्रुतीनामस्मदाद्यप्रत्यक्षतया धर्मानुष्ठानविच्छेदोऽपि स्यादित्यत आह—

आगमों के विनाश हो जाने पर भी उन आगम मूलभूत श्रुतियों की भी अनजानी में (अज्ञान में) भी धर्मानुष्ठान में विच्छेद नहीं हो सकेंगे। क्योंकि—

अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं न लोको व्यतिवर्तते ॥ १३४ ॥

वादेषु धर्मशास्त्रेषु अस्तं यातेषु विनष्टेषु अन्येषु कर्तृषु धर्मशास्त्रप्रणेतृषु असत्सु अनुत्पन्नेषु अन्तराले लोकः शिष्टो जनः श्रुतस्मृत्युदितं धर्मं श्रुतिविहितानि कर्माणि स्मृतिविहितान् भक्ष्याभक्ष्यादिनियमांश्च न व्यतिवर्तते नातिक्रमति शाब्दमशाब्दं वा स्मरणमङ्गीकृत्य धर्मानुष्ठानपरम्परा न कदाचिदपि व्यवच्छिद्यत इति भावः ॥ १३४ ॥

जब धर्मशास्त्र विनष्ट हो जाते हैं और दूसरे धर्मशास्त्री जबतक नहीं उत्पन्न हो जाते इस अवधि के बीच में शिष्ट पुरुष श्रुति और स्मृति में वर्णित धर्मों का पालन परम्परा के आधार पर करते हैं तथा परम्पराओं का उलङ्घन नहीं करते ॥ १३४ ॥

ननु कपिलादीनां स्वभाविकमेव धर्माधर्मादिज्ञानं नागमान्तरमूलं न वा वेदमूलमिति तदीयागमप्रामाण्यं स्वत एवेति न वेदमूलापेक्षेत्यत आह—

जो लोग महर्षि कपिल आदि के ज्ञान को धर्मनिर्णय और अधर्मनिर्णय में स्वतः प्रमाण मानते हैं न कि वेदमूलक होने के कारण वे बड़ी भूल करते हैं। क्योंकि—

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते ।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तस्याम्नायो निबन्धनम् ॥ १३५ ॥

कस्यचित् कपिलादेः **स्वाभाविके** प्रमाणान्तरानपेक्षे **ज्ञाने** धर्माधर्मविषयके इष्यमाणे **शास्त्रैः** कपिलादिदर्शनैः **कश्चन अर्थः** किमपि प्रयोजनं **न विद्यते** कपिलादिवदन्येषामपि जीवानां स्वत एव धर्माधर्मावबोधसम्भवात् । अथ कपिलादीनां **ज्ञानस्य धर्मो हेतुरि**ति तेषामेव धर्मानुग्रहवशादतीन्द्रियार्थविषयकं ज्ञानं भविष्यति न गृहीतकर्मणां मन्दाववोधानामिति नागमप्रणयनवैयर्थ्यमिति चेत् तस्य अतीतार्थविषयकज्ञानहेतोर्धर्मस्य तदानीम् **आम्नायो** वेदो **निबन्धनं** मूलं नागमान्तरं तेषां विच्छिन्नत्वादिति भावः ॥ १३५ ॥

प्रमाणान्तर की अपेक्षा के बिना स्वाभाविक किसी भी व्यक्ति के धर्माधर्म विषयक ज्ञान में शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सब लोगों के स्वाभाविक ज्ञान में कोई विशेष हेतु है तो वह वेद मूलक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता ॥ १३५ ॥

ननु सर्वागमानां वेदमूलकत्वादेव प्रामाण्ये तर्काख्यं पूर्वोत्तरमीमांसाशास्त्रमनर्थकं तन्निर्णेतव्यार्थस्य अस्मदाद्युपलभ्यमानवेदादेवावगन्तुं शक्यत्वादत आह—

यद्यपि जितने आगम हैं सब वेद मूलक हैं और वेद के ज्ञान हो जाने पर इन पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि दर्शनों की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इन आगमों में वर्णित विषय वेद के द्वारा जाने जा सकते हैं तथाऽपि—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् ।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते ॥ १३६ ॥

अपश्यताम् वेदार्थनिर्णयासमर्थानां मन्दाववोधानां मादृशां **वेदशास्त्राविरोधी** वेदार्थव्यवस्थापकः **तर्कः** पूर्वोत्तरमीमांसालक्षणः **चक्षुः हि** यतः **केवलात्** तर्कासहकृतात् **रूपमात्रात्** वेदशब्दस्वरूपमात्रात् **वाच्यार्थः** श्रुतितात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः **नावतिष्ठते** न निश्चितो भवतीत्यर्थः । वेदार्थनिर्णयाय तर्काख्यं मीमांसाशास्त्रमावश्यकमत एवाहुः 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मो वेद नेतरः' इति भावः ॥ १३६ ॥

जो लोग वेद के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकते उनके लिए वेद के अर्थ का व्यवस्थापक मीमांसा और वेदान्त रूपी तर्क ही नेत्र है। क्योंकि केवल वेद के शब्दमात्र से वेद का तात्पर्यार्थरूपी वाक्यार्थ निश्चित नहीं हो सकता ॥ १३६ ॥

ननु को वेदतात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः यदर्थं तर्कापेक्षेत्यत आह—
वेद के वे तात्पर्यभूत अर्थ जिनके लिए तर्कशास्त्र की अपेक्षा की जाती हैं—

सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी ।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते ॥ १३७ ॥

ग्रहं संमार्ष्टि इत्यादौ ग्रहपदोत्तरैकवचनार्थस्यैकत्वस्य **सतोऽविवक्षा**[1] ततो बहूनां पात्राणां संमार्गः सिध्यति **पारार्थ्यं** परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वरूपमङ्गत्वं[2] 'बर्हिर्देव[3] सदनं दामि' इत्यादिमन्त्राणां बर्हिर्लवनाङ्गत्वम् **अर्थस्य** 'अक्ताः[4] शर्करा उपदधाति' इत्यादौ घृतसाधनकाञ्जनरूपस्य **लैङ्गिकी** अक्ता इति वाक्यसन्निधौ 'तेजो वै घृतम्' इति घृतस्तुतिरूपलिङ्गजन्या **व्यक्तिः** प्रतिपत्तिः इति इत्येवं रूपो बहुविधो **न्यायः** तात्पर्यनिर्णयः **तर्केण** मीमांसया **प्रविभज्यते** क्रियते ॥ १३७ ॥

वेद के तात्पर्य जानने के लिए अनेक तर्कों का प्रयोग होता है जैसे—सत् (वर्तमान) की अविवक्षता, पारार्थ्य और अर्थ की लिङ्ग द्वारा प्रतीति इस प्रकार के अनेक न्याय (तात्पर्य निर्णय) तर्क (मीमांसा) के द्वारा किये जाते हैं ।

सतः अविवक्षा—'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इस वाक्य में ग्रहपद के सामने द्वितीया का एक वचन अम् विभक्ति है । एक वचन के कारण एकत्व विभक्त्यर्थ है । यदि उक्त वाक्य में यह एकत्व भी वक्ता के तात्पर्य का विषय हो तो एक ग्रह का सम्मार्जन हो सकता है । दूसरे ग्रह (पात्र) बिना माँजे ही रह जायेंगे । अतः एकत्व की अविवक्षा कर दी जाती है । जिससे सब पात्र माँजे जा सकें ।

पारार्थ्य—पर (स्वर्ग और अग्निहोत्र) के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष की, कृति का विषय अग्निहोत्र और दही दोनों हैं । इसलिए स्वर्ग के प्रति अग्निहोत्र और अग्निहोत्र के प्रति दही अङ्ग है । जैसे 'बर्हिर्देव सदनं दामि' इस मन्त्र में 'दामि' इस पद से छेदन की प्रतीति होने के कारण यह मन्त्र लवन (छेदन) में अङ्ग हो जाता है ।

'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इस वाक्य को सुनकर शर्करा को अक्त बनाने के लिए घृत और तेल या डालडा के सदृश हानिकारक पदार्थ उपयोग में लाया जा सकता है किन्तु उसी वाक्य के आगे 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य के रहने से प्रकरणवश घी की स्तुति शर्करा को

---

१. ग्रहमिति । ग्रह इति पात्रविशेषस्य संज्ञा । ग्रहपदोत्तरद्वितीयार्थैकत्वस्य विवक्षणे ग्रहं संमृज्यात् यं संमृज्यात् स चैक इत्येवं ग्रहोद्देश्येन एकत्वसंमार्गोभयविधौ वाक्यभेदः स्यादिति एकत्वमविवक्षितम् । पशुना यजेतेत्यादौ तृतीयार्थैकत्वस्य विवक्षायामपि यागोद्देशेन एकत्वविशिष्टपशोर्विधानेन न वाक्यभेद इति न तत्रैकत्वाविवक्षा ।

२. परेति । परं स्वर्गादि अग्निहोत्रादि च तदुद्देशेन प्रवृत्तो यः पुरुषः तत्कृतिव्याप्यता अग्निहोत्रादौ दध्यादौ च इति स्वर्गं प्रति अग्निहोत्रः अग्निहोत्रं प्रति च दध्याद्यङ्गम् ।

३. बर्हिरिति । दामीत्यस्य लवनप्रकाशकत्वात् अर्थप्रकाशनं लिङ्गमिति लिङ्गेन अस्य मन्त्रस्य लवनेऽङ्गता ।

४. अक्ताः शर्करा इति । अक्ता इति पदेन सामान्यतः सर्वाञ्जनद्रव्यप्रसङ्गे घृतद्रव्यमेवाञ्जनसाधनत्वेन गृह्यते तत्सन्निधौ तेजो वै घृतमिति घृतस्तुतिरूपाल्लिङ्गात् ।

घी में ही अक्त करना चाहिए न कि घृतेतर में इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार से अर्थ की लिङ्ग द्वारा प्रतिपत्ति के लिए अनेक प्रकार का न्याय तर्क (मीमांसा) के द्वारा करते हैं ॥ १३७ ॥

अयं पूर्वोक्तस्तर्कः शब्दमूलक एव इत्याह—

यह तर्क भी शब्दमूलक ही है क्योंकि—

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः ॥ १३८ ॥

पुरुषाश्रयः पुरुषनिष्ठः यः वाक्यभेदादिज्ञानलक्षणः तर्कः स शब्दानामेव शक्तिः सामर्थ्यम् न हि शब्दशक्तिमनपेक्ष्य पुरुषैः तर्कः कर्तुं शक्यते शब्दशक्तेः एतादृशौ अर्थप्रकरणलिङ्गादिभिरनुगमं कुर्वति पुरुषे शब्दाश्रितमेव तर्कं पुरुषाश्रितं मन्यन्ते तमागमानुगृहीतं तर्कमधिकृत्यैव 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर' इति-वचनम् अनागमेषु आगमनिरपेक्षेषु पुरुषेषु वर्तमानो यः शब्दाननुगतः शब्द-शक्त्याऽपरिगृहीतो न्यायस्तर्कः स अनिबन्धनः न आगमार्थनिर्णयजनक इत्यर्थः। एतादृशं शुष्कं तर्कमधिकृत्यैव 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' इति निषेध इति भावः ॥ १३८ ॥

लोगों को जो 'अहं सम्मार्ष्टि' वाक्य के अर्थ में वाक्य भेद का तर्क होता है वह शब्दों की ही शक्ति है जो आगम को प्रमाण न मानकर केवल शब्द शक्ति से अपरिगृहीत तर्क हैं वह तो आगम के अर्थ निर्णय का कारण भी नहीं बन सकता ॥ १३८ ॥

ननु यथा अर्थबोधकत्वं साधुष्विव असाधुषु वर्तते तथा धर्मजनकत्वं साधुष्विवा-साधुष्वपि स्यादितिशङ्कामपाकर्तुं दृष्टान्तमाह—

जैसे साधुशब्दों की भाँति असाधुशब्दों में अर्थबोधकत्व है। वैसे साधुशब्दों की भाँति असाधुशब्दों में धर्मजनकत्व नहीं हैं क्योंकि—

रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः।
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥ १३९ ॥

यथा तुल्येऽपि रूपत्वे नीलं चक्षुषोऽनुग्राहकं भास्वरं तूपघातकं तुल्येऽपि रसत्वे मधुरः श्लेष्माणं जनयति कटुकः पित्तम् इति दृष्टफलाः। यथा तुल्ये रूपयोगे वायव्योऽजः श्वेतगुण एवालभ्यते तुल्येऽपि जलत्वे मद्यं पापफलं तीर्थोदकं तु पुण्यफलमिति अदृष्टफला रूपादयः प्रत्यर्थं यतशक्तयो नियतशक्तयो दृष्टाः तथैव तुल्येऽपि शब्दत्वे केचन शब्दाः दृष्टेषु विषापहरणादिषु केचन सूक्तादयोऽभ्यस्यमाना अदृष्टेषु धर्मादिषु यतशक्तयो दृश्यन्ते ॥ १३९ ॥

जैसे सब रूपों में रूपत्व एक है किन्तु नील रूप नेत्र को ठण्ढा करता है और चमकीला रूप आँखों को चकाचौंध पैदा करता है, सब रसों में रसत्व एक है किन्तु मधुर कफ पैदा करता है और कटु पित्त। इस प्रकार रूपादिकों की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न विषयों में

नियत हैं। वैसे सब शब्दों में रहने वाला शब्दत्व एक है। चाहे वह साधु हो या असाधु। फिर भी कुछ शब्द साँप का विष दूर करने के लिए नियत देखे जाते हैं। (अर्थात् उन्हीं शब्दों को पढ़ने से विष उतरता है) ॥ १३९ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम् ।
साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभिः ॥ १४० ॥

यथा येषां केषांचित् शब्दानां तत्र विषापहरणादौ सामर्थ्यं वर्तते एवं धर्मेऽपि साधूनां शब्दानां प्रतीयताम् यत एवं तस्मात् अभ्युदयार्थिभिः अदृष्टार्थिभिः पुरुषैः साधुभिर्वाच्यं नासाधुभिरित्यर्थः ॥ १४० ॥

जैसे कुछ शब्दों की शक्ति विष दूर करने में देखी गई है। वैसे साधुत्व के एक होने पर भी वायव्य याग में श्वेत अज ही मारा जाता है। सब जलों में जलत्व एक है फिर भी मद्य पापजनक और तीर्थोदक पुण्यजनक हैं। इसी प्रकार धर्म के विषय में साधु शब्दों को भी मानना चाहिए क्योंकि कल्याण चाहने वाले साधु का प्रयोग करते हैं असाधु का नहीं ॥१४०॥

ननु शब्दविशेषाणां विषापहारकत्वं प्रत्यक्षसिद्धं साधूनां तु अदृष्टजनकत्वं न प्रत्यक्षसिद्धं तत्कथं स्वीक्रियतामत आह—

जिन शब्दों का सामर्थ्य प्रत्यक्ष है उनके बारे में प्रमाणान्तर की आवश्यता नहीं किन्तु—

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते ।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे ॥ १४१ ॥

सर्वो जनः अदृष्टफलानर्थान् यागादीनागमात् यजेत स्वर्गकाम इत्येवंरूपात् प्रतिपद्यते यागः स्वर्गसाधनमिति मनुते एवम् 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति' इत्येवंरूपात् आगमात् साधूनामपि अदृष्टजनकत्वं मन्यताम्। नन्वदृष्टत्वाविशेषात् साधूनामधर्मजननसामर्थ्यमेव किं न कल्प्यते इत्यत आह विपरीतमिति। एवं सति विपरीतम् आगमेन यस्य पुण्यजनकतोक्ता तस्य पापजनकत्वं यस्य पापजनकतोक्ता तस्य पुण्यजनकत्वमिति सर्वत्र आगमे वक्तुं शक्यते तथापि कंचिदागमं प्रमाणीकृत्य तदुपोद्बलकतया कांचिद्युक्तिमुदाहरन्तो दृश्यन्ते जना इत्यागमात् साधूनां पुण्यजनकत्वमसाधूनां च पापजनकत्वमितिमन्तव्यम् नात्र विवदितव्यं तथा सति सर्वागमोच्छेद एव स्यादिति भावः ॥ १४१ ॥

जैसे जो शब्द अदृष्टजनक है उनका प्रामाण्य तो सब लोग 'यजेत स्वर्गकामः' इस प्रकार के आगम को ही मानते हैं। वैसे 'एक शब्दः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इस प्रकार के आगम से साधु शब्दों को भी अदृष्टजनक मानते हैं। यदि कोई इसके विपरीत कल्पना करे कि जो पुण्यजनक हैं वे पापजनक और जो पापजनक वे पुण्यजनक तो सब आगमों के बारे में यह विपरीत कल्पना हो सकती है। अतः लोक व्यवहार को ध्यान में रखकर आगमों को प्रमाण मानना ही पड़ता है ॥ १४१ ॥

ननु कोऽसावागमः यद्बलेन साधुत्वज्ञानं येन च साधूनां पुण्यजनकत्वमित्यत आह—
वह कौन आगम है जो साधुत्वज्ञान और उससे पुण्यजनकत्व ज्ञान करता है—

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ १४२॥

यथा भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यविषयाः स्मृतयो व्यवस्थिताः तासु निबद्धमाचारं च शिष्टा न व्यतिक्रामन्ति तथा साधुत्वज्ञानविषया वाच्यावाच्यविषया एषा व्याकरणस्मृतिर्वर्तते पारम्पर्यात् स्मृतो ह्यर्थः पुनः पुनर्निबध्यत इति इदं व्याकरणं शिष्टानामविच्छदेन पारम्पर्येण स्मृतिनिबन्धनम् अनादिरागममूला चेयं स्मृतिः स्मृत्यन्तरवदत्यन्तमादरणीयेति तात्पर्यम्॥ १४२॥

यह व्याकरण आगम शब्दों का साधुत्व बतलाता है और यह व्याकरण शिष्टों की अनादि परम्परा से चला आ रहा है अनादि है आगम (वेद) मूलक है॥ १४२॥

एवं शिष्टानुगृहीतस्मृतित्वेन व्याकरणस्मृतेः प्रामाण्यमुपपाद्य तस्याः सर्वशब्दविषयकत्वमाह—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ १४३॥

अनेकतीर्थेन अनेकस्थानेन प्राणबुद्धिहृदयाख्येन भेदो यस्यास्तस्या अनेकतीर्थभेदायाः वैखर्याः मध्यमायाः पश्यन्त्याश्च त्रय्या वाच एतदद्भुतं व्याकरणं परं पदम् परमं स्थानं व्याकरणेन त्रयी वाक् विज्ञातुं शक्येति भावः॥

और यही व्याकरण स्मृति-शिष्टों से आदृत होने से प्रमाणभूत है और समस्त शब्दों का ज्ञान इसी से होता है। क्योंकि प्राण, बुद्धि और हृदयरूपी अनेक स्थानों में वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती नाम से प्रसिद्ध तीन वाणियों का यही व्याकरण स्मृति ही उत्कृष्ट स्थान है।

तत्र परश्रोत्रविषया श्लिष्टव्यक्तवर्णा प्राप्तसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च वैखरी।

अन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता मध्यमा। क्रमसंहारभावेऽपि व्यक्तप्राणपरिग्रहेति केचित्।

प्रतिसंहृतक्रमाः सत्यप्यभेदे समावृष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती सा चलाचला प्रतिलब्धसमाधाना च आवृता विशुद्धा च सन्निविष्टज्ञेयाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा च। तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितः साध्वसाधुप्रविभागः पुरुषसंस्कारहेतुः परन्तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतं तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेन अधिगम इति। यदाह—

गौरिव प्रस्रवत्येका रसमुत्तमशालिनी।
दिव्यादिव्येन रूपेण भारती गौः शुचिस्मिता॥

एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्पन्दमानयोः ।
प्राणापानान्तरे नित्यमेका सर्वस्य तिष्ठति ॥
अन्या स्वप्रेर्यमाणेव विना प्राणेन वर्तते ।
जायते हि ततः प्राणो वाचमाप्यामयन् पुनः ॥
प्राणेनाप्यायिता सेयं व्यवहारनिबन्धना ।
सर्वस्योच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हिचित् ॥
घोषिणी जातनिर्घोषा अघोषा च प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्योर्निर्घोषैव गरीयसी ॥ इति ।

पुनश्चाह—स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥
सेयमाकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः ।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते ॥
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते ।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥
प्राप्तोपारांगरूपा सा विप्लवैरनुपङ्क्तिभिः ।
वैखरी सत्त्वमात्रेव गुणैर्न व्यवकीर्यते ॥ इति ।

विघृते अभिघातार्थं निरुद्धे
स्थानेष्वति—ताल्वादिस्थानेषु, वायौ—प्राणसंज्ञे,
सति कृतवर्णपरिग्रहेति हेतुद्वारा विशेषणं ततः ककारादिवर्णरूपस्वीकारात् वैखरी-
संज्ञा वक्तृभिर्विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरीति निरुक्तेः, केचित्तु
विखर इति देहेन्द्रियसङ्घात उच्यते तत्र भवा वैखरीति, वाक् प्रयोक्तॄणां सम्बन्धिनी।
यद्वा तेषु स्थानेषु । तस्याश्च प्राणवृत्तिरेव निबन्धनम् । तत्रैव निबद्धा सा तन्म-
यत्वात् । या पुनरन्तः सङ्कल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाभिव्यक्तिरहिता
वाक् सा मध्यमेत्युच्यते । तदुक्तं केवलं बुद्ध्यपादानेति । अस्यार्थः स्थूलां प्राणवृत्तिं
हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य केवलं बुद्धिरेवोपादानं हेतुर्यस्याः सा प्राणस्थत्वात् क्रम-
रूपमनुपतति अस्याश्च मनो भूमाववस्थानम् । वैखरीपश्यन्त्योर्मध्ये भावान्मध्यमा
वागिति । या तु ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्रूपा वाक् सा पश्यन्ती-
त्युच्यते तदुक्तम् अविभागा त्विति । अस्यार्थः पश्यन्ती यस्यां वाच्यावाचकयोर्वि-
भागेनावभासो नास्ति सर्वतश्च सजातीयविजातीयापेक्षायां संहृतो वाच्यानां

वाचकानां च क्रमो देशकालकृतो यत्र क्रमविवर्तशक्तिस्तु विद्यते। स्वरूपज्योतिः स्वप्रकाशा वेद्यवेदकभेदातिक्रमात् सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या अनपायिनी कालभेदस्पर्शाभावात्।

इदमत्रावधेयम् पश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति त्रिविधैव वाक्। त्रिविधापि सा स्थूला सूक्ष्मा परा चेति भेदत्रयेण भिद्यते इति वाचो नवभेदाः सम्पद्यन्ते। वर्णादीनां प्रविभागरहिता स्वरप्रधाना सङ्गीतरूपा वाक् स्थूला पश्यन्ती, जिगासारूपा सैव सूक्ष्मा पश्यन्ती, जिज्ञासाहीना संविद्रूपा परा पश्यन्ती। एवं चर्मावनद्धे मृदङ्गादौ करवातादिना समुद्भूता ध्वनिरूपा वाक् स्थूला मध्यमा, विवादयिषारूपा सैव सूक्ष्मा मध्यमा, तादृशेच्छारहिता निरूपाधिका सैव परा मध्यमा। एवं परस्परवैलक्षण्यापादनेन स्फुटीकृता वर्णरूपा वाक् स्थूला वैखरी, विवक्षारूपा सैव सूक्ष्मा, विवक्षारहिता परसंविद्रूपा सा परा इति। पश्यन्त्येव सूक्ष्मत्वेन परा वाक्, पश्यन्तीमतिक्रान्ता तद्भिन्नरूपा वा सा इति विचारस्तु व्यर्थ एव सगुणनिर्गुणादिभेदेन परापरभेदेन वा द्विविधतया वर्णितस्यापि ब्रह्मणे यथा एकत्वं न विरुद्धम्, तथा एकैव प्रत्यवमर्शिनी वाक् गुणभूमिमतीत्य कदाचित्पश्यन्तीति कदाचिच्च परेति संज्ञयोपवर्ण्यते। प्राचीनैर्वैयाकरणैः पश्यन्त्येव परा इति स्वीकृतमासीत्। अत एव—'इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादिं तथाक्षयम्। तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥' इति शिवदृष्टौ वैयाकरणमतानुवादावसरे पश्यन्त्येव परात्वेनोपवर्णिता। वाचां त्रित्वे एव मध्यमा वागिति व्यपदेश इत्युपपद्यते।

इदमत्र तत्त्वम्—यथा एकस्मादेव विन्दोः रेखात्रयभावेन परिणामे रेखात्रयमूलभूता विन्दवः एकत्रस्थिताः एवमेकैव वाक् परसूक्ष्मस्थूलपश्यन्ती परसूक्ष्मस्थूलमध्यमा परसूक्ष्मस्थूलवैखरीरूपेण विवर्तते इति अवस्थाभेदेन नवधा वाक् सम्पद्यते तदा सर्वावस्थाकारणं परा वाक् दशमीत्याख्यायते। पूर्वोक्ता नव कारणभूताश्च तिस्रो वाचः सम्भूय द्वादश भवन्ति ता इमा द्वादशरश्मय इत्याख्यायन्ते तदाचार्यं रविरित्याख्यायते। यदाहुः—सर्वभूतान्तरचरः शब्दब्रह्मात्मको रविः। भित्वा यं बोधखड्गेन निर्गच्छन्त्यविशङ्किताः। इति 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इति श्रुतेः। आत्मैव सूर्यः सूर्य एवचात्मा वेदितव्यः। आत्मशक्तयः चिन्मरीचय एव सूर्यरश्मयः सूर्यस्यार्थभासकत्वेव शब्दब्रह्मात्मकत्वं वेदात्मकत्वं च शास्त्रेषु प्रसिद्धम्। षोडशकले पुरुषे पञ्चदशकलानां परिणामशालित्वेऽपि षोडशीरूपैका चित्कला परिणामस्य साक्षिभूता परमामृतस्वरूपा तिष्ठति। अस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते। इयं दैवी वाक् योगिभिर्ज्ञानिभिश्च द्रष्टृत्वेन निर्दिश्यते। अमृतरूपाया अस्या निरोधोऽपि न सम्भवति कुतस्तु विनाशः तथापि वक्तुर्विवक्षावशान्निरोधे व्यपदिश्यमाने महाविन्द्वात्मकनिष्कलासनमारूढं निष्कलं परमं तत्त्वं तत्त्वोत्तीर्णमपि परतत्त्वरूपेणोपवर्ण्यमानं नित्यलीलारसोल्लासपरं स्वात्मनि साक्षात्क्रियते सामरस्यमुपगतमनादिमिथुनं वागर्थयुगलमेव निरञ्जनं परब्रह्मपदमिति।

सिद्धान्तशैवास्तु परापश्यन्त्यादयश्चतस्रो वाचः ब्रह्म च ताभ्यो व्यतिरिक्तमिति। पश्यन्त्यादयस्तिस्रोऽपि वाचः परावस्थायां परचिदात्मना परब्रह्मणा सङ्गतिं गतास्तदेकात्मतयाऽवतिष्ठन्ते। तदानीं तत्पतिः (वाचस्पतिः) परमेश्वरः स्वात्मज्योतिषा स्वाभिन्नं भावजातं नित्यं भासयते तद्भासनादेव तत्रेच्छायाः समुद्रेको भवति यदधीनः विश्वसर्गादिव्यापारः इति वदन्ति।

नागोजीभट्टास्तु—सिद्धान्तशैवानां मतं, परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा इति तन्त्रशास्त्रं चाश्रित्य-मूलाधारस्थपवनसंस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या विन्दुरूपिणी परा वागुच्यते, नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वागुच्यते, ततो हृदयपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचकशब्द-स्फोटरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या मध्यमा वागुच्यते, तत आस्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनोर्ध्वमाक्रामता च मूर्धानमाहत्य च तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या वैखरी वागुच्यते इति वाचश्चतुर्विधत्वमाहुः। तत्तु व्याकरणसिद्धान्तानवबोधनिबन्धनम्। हर्यादिभिर्वाचस्त्रित्वस्यैवोक्तत्वात्। न च चत्वारि वाक् परिमिता इति भाष्योदाहृतश्रुतिमूलकं नागोजीभट्टोक्तम् अत एव माधवेन ऋग्वेदभाष्ये चत्वारि वाक्परिमितापदानीत्यनेन वैखरीमध्यमापश्यन्तीपरारूपाणि दर्शितानि व्याख्यातं चैवमेवोद्योते इति वाच्यम्। कैयटेन उक्तश्रुतेः तत्र चतुर्णाम् (नामाख्यातोपसर्गनिपाताख्यानां) पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैयाकरणावदन्तीति व्याख्यातत्वेन माधवादिव्याख्यानस्य तन्त्रशास्त्रवासनामूलकतया वैयाकरणैरनुपादेयत्वात्। चतुरंशत्वं च वाग्ब्राह्मणः 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतिसिद्धम्॥

वाणी के तीन भेद—आचार्य भर्तृहरि ने वाणी का तीन ही भेद स्वीकार किया है वैखरी मध्यमा और पश्यन्ती। वाणी के तीन होने पर ही दूसरी का नाम मध्यमा पड़ना युक्ति संगत भी है। शिवदृष्टिकार ने वाणी का तीन भेद ही वैयाकरण सम्मत कहा है। इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथा क्षयम्। तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्।' इस कारिका से यह भी पता चलता है कि शिवदृष्टिकार अच्छी तरह जानते हैं कि पश्यन्ती और परा एक ही वस्तु है। हाँ, वैयाकरणों के यहाँ तीनों के तीन तीन भेद मान्य है स्थूला सूक्ष्मा और परा। वर्णों के विभाग से रहित स्वरप्रधान संगीत रूप वाणी स्थूला पश्यन्ती है। वही जिज्ञासा से युक्त होने पर सूक्ष्मा पश्यन्ती है और वही जिज्ञासा से रहित संवित् रूप में परा पश्यन्ती कही जाती है। इसी प्रकार मृदङ्ग में हाथ के आघात से उत्पन्न ध्वनिरूपी वाणी स्थूला मध्यमा, बजाने की इच्छारूप से स्थिर वही सूक्ष्मा मध्यमा और विवादयिषा से रहित निरूपाधिक वही परा मध्यमा कही जाती है इसी प्रकार विलक्षण रूप से प्रतीत होने वाले वर्ण रूप वाणी स्थूला वैखरी विवक्षा रूप में वही सूक्ष्मा वैखरी और विवक्षा से रहित संवित् रूप वही परा वैखरी कही जाती है। जैसे सगुण निर्गुण के भेद से ब्रह्म को पर और अपर ब्रह्म कहा

जाता है वैसे पश्यन्ती से विलक्षण परा नाम का भेद स्वीकार करना व्याकरण सिद्धान्त का मूल रूप से अज्ञान ही है।

अतः नागेश भट्ट ने अपने ग्रंथों में जो वाणी के चार भेद बताया है वह अत्यन्त अनुचित हैं। वाणी के चार भेद मानने वाले सिद्धान्त शैवों के मत से तो परा वाणी भी ब्रह्म नहीं है। फिर उनके सिद्धान्त के आधार पर व्याकरण सिद्धान्त की व्याख्या करना व्याकरण के मूल सिद्धान्त पर ही कुठाराघात हुआ है। क्योंकि आचार्य भर्तृहरि ने वाणी के तीन भेद ही स्वीकार किया है। यद्यपि 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि–' मन्त्र की व्याख्या करते हुए सायण और नागेश ने परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी आदि भेद से वाणी के चार भेद का प्रतिपादन किया है तथापि यह व्याख्या तन्त्र शास्त्र की वासना से की गई हैं। क्योंकि आचार्य कैयट ने 'चत्वारि' पद की व्याख्या में 'नामाख्यात उपसर्ग और निपात' का नाम लिया है तथा वाणी में चार अंश माने हैं। जो 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के चतुरंशत्व की भाँति शब्दब्रह्म की चतुरंशता सिद्ध करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि अवैयाकरण चतुर्थ भाग बोलते हैं और वैयाकरण शब्द के समस्त अंशों को जानते हैं ॥ १४३ ॥

शब्दसाधुत्वव्यवस्थाया आर्षज्ञानमूलकत्वमाह—

तद्विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम् ।
स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः ॥ १४४ ॥

विभागाविभागाभ्यां विभागः परप्रत्यायनाय कल्पितः प्रकृतिप्रत्ययादिभेदः यथा धातवस्तव्यदादयश्च अविभागः यत्र स्वरूपेणोच्चारणं यथा दाधर्ति दधर्ति इत्यादयः ताभ्यां **क्रियमाणम् तद्**—व्याकरणम् **अवस्थितं** व्यवस्थितम् **भावानां** पदार्थानां **स्वभावज्ञैः** सर्वज्ञेयेष्वप्रतिबद्धान्तःप्रकाशैर्ऋषिभिः **शब्दशक्तयः** शब्दसामर्थ्यानि इदं धर्मजननयोग्यमिदं धर्मजननयोग्यमित्यादिरूपाणि **दृश्यन्ते** अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः ऋषिभिः शब्दानां सामर्थ्यं दृष्ट्वा साध्वसाधुप्रविभागः कृतो व्यवस्थितो द्रष्टव्यो न केनचिदन्यथा कर्तुं शक्य इति भावः ॥ १४३ ॥

यह व्याकरण शास्त्र दूसरों की भी समझ में आ जाय इसलिए विभाग (प्रकृति प्रत्यय भेद) और अविभाग (स्वरूपोच्चारण जैसे क्षेत्रिय, श्रोत्रियः, दाधर्ति दर्धर्ति इत्यादि) के द्वारा रचा गया है और व्यवस्थित है। पदार्थों के स्वभाव को ठीक रीति से समझने वाले महर्षियों ने शब्दों की शक्तियाँ (जैसे यह शब्द धर्मजनन योग्य है यह नहीं है) देखीं। (इसलिए इन्हें कोई मिटा नहीं सकता है) ॥ १४४ ॥

कालो न लोकशून्यः कालत्वादिदानींतनकालवत् इत्यनुमानेन सृष्टिप्रलयमनङ्गीकुर्वतां मीमांसकानां मतेन श्रुतिस्मृतिपरम्पराऽविच्छेदमाह—

कालः, न लोकशून्यः, कालत्वात्, इदानींतनकालवत् इस अनुमान से जो सृष्टि का प्रलय नहीं मानते उन मीमांसकों का मत है कि—

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ॥ १४५ ॥

अकर्तृकां कर्तृरहिताम् अत एव अनादिम् अव्यवच्छिन्नामनश्वरां श्रुतिमाहुः स्मृतिस्तु शिष्टैः निबध्यमाना न व्यवच्छिद्यते। अयं भावः सृष्टिकाले गतकल्पीयां श्रुतिं स्मृत्वा परमेश्वरः ब्रह्मणे उपदिशति इति परमेश्वरकृतत्वाभावात् श्रुतिः अनादिनिधना, स्मृतिस्तु प्रतिकालं तैस्तैः शिष्टैरन्यथा अन्यथा निबध्यमाना पुरुषनिर्मितत्वेऽपि प्रवाहनित्यतया नित्येति ॥ १४५ ॥

जिसका कोई कर्ता नहीं है, जो अनादि है, प्रत्येक कल्पों में उसी रूप में जो रहता है, नित्य है वह वेद है। स्मृतियां तो समय समय पर बड़े बड़े महर्षियों से भिन्न-भिन्न रूप में रची गई हैं इसलिए उसमें भी व्यवच्छेद नहीं है। (अर्थात् प्रवाह नित्यता उनमें भी है) ॥ १४५ ॥

सृष्टिप्रलयवादिनां मतेन वेदप्रामाण्यमाह—

जो लोग सृष्टि का प्रलय मानते हुए वेद को अपौरुषेय मानते हैं, उनका मत है कि—

अविभागाद्विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ १४६ ॥

अविभागात् एकस्मात् शब्दब्रह्मणः विवृत्तानाम् ऋषीणां श्रुतौ स्वप्नवत् अभिख्या ज्ञानं ब्रह्मैव ऋषिरूपेण विवर्तते तत्र यथा स्वप्ने श्रोत्रनिरपेक्षं ज्ञानं तथा ऋषीणां बुद्धौ वेदज्ञानं न उपदेशापेक्षा ततः भावतत्त्वं वेदार्थसामर्थ्यं विज्ञाय लिङ्गेभ्यो वैदिकशब्देभ्यः स्मृतिर्विहिता।

एक और अविभक्त या निरवयव शब्द ब्रह्म के विवर्त (ऋषि रूप में व्यक्त) ऋषियों को स्वप्न की भाँति वेदज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वे ऋषि पदार्थों का सामर्थ्य समझकर लिङ्गों (वैदिक शब्दों) से स्मृति की रचना करते हैं ॥ १४६ ॥

यथाहुः—अत्राह नित्य एवायमागमः (संप्रवर्तते)

आर्षज्ञानावबुद्धो वा पूर्वं भवति कस्यचित्।
ततस्तेनापरेभ्योऽसौ शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यते ॥
तैरप्यन्येभ्य इत्येवं शिष्याचार्यपरम्परा।
प्रवृत्ता तावदेवास्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥
पुनः सृष्टौ ततः कश्चिदादावार्षाच्च दर्शनात्।
नित्यं दृष्ट्वागमं साक्षाच्छिष्येभ्यः प्रतिपादयेत् ॥
असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्तेऽपरभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन संप्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे ॥ इति।

निरुक्तकारा अपि 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य

उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' इति ॥ १४५ ॥

श्रुतिस्मृतीनां स्वरूपमुक्त्वा व्याकरणस्मृतेरन्यस्मृतितुल्यतामाह—

अन्य स्मृतियों के समान व्याकरण भी स्मृति है।

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥ १४७ ॥

कायवाग्बुद्धिविषयाः कायाश्रितोः रोगः वागाश्रितोऽपभ्रंशः बुद्ध्याश्रितो रागद्वेषादिः एते ये मलाः समवस्थिताः वर्तन्ते तेषां चिकित्सालक्षणाध्यात्म शास्त्रैः चिकित्साशास्त्रं चरकादिः लक्षणशास्त्रं व्याकरणं अध्यात्मशास्त्रं वेदान्तः तैः विशुद्धयो भवन्ति यथा आयुर्वेदशास्त्रं रोगान् आध्यात्मशास्त्रं च रागद्वेषादीन् समूलघातमुपहन्तीति संप्रतिपन्नं तथा लक्षणशास्त्रमपि वाचो मलान् अपभ्रंशानुपहन्तीति संप्रतिपत्तव्यमिति भावः ॥ १४७ ॥

(एक प्राणी के) काय, वाणी और बुद्धि के मल (रोग, अपभ्रंश, और राग द्वेष आदि) जो स्थित हैं। उनकी विशुद्धि क्रम से चिकित्सा, लक्षण, और अध्यात्म शास्त्र (वेदान्त विद्या) के द्वारा ही होती है।

तात्पर्य यह है कि जैसे चिकित्सा से कायमल—(रोग) दूर होता है, अध्यात्म शास्त्र से बुद्धिमल (राग-द्वेष) दूर होता है। वैसे वाणी का मल (अपभ्रंश) व्याकरण के द्वारा दूर किया जाता है। अतः चिकित्साशास्त्र और वेदान्त शास्त्र की भाँति व्याकरण शास्त्र भी मनुष्य के जीवन का उपयोगी शास्त्र है ॥ १४७ ॥

कः पुनरपभ्रंशो नामेत्यत आह—

संग्रहकार के मत से अपभ्रंश लक्षण—

शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥ १४८ ॥

गौरिति प्रयुयुक्षिते गौरिति प्रयोक्तुमिष्टे यः संस्कारहीनः शब्दः गाव्यादिर्निष्पद्यते विशिष्टार्थनिवेशिनम् विशिष्टे सास्नादिमत्यर्थे निविशमानं तामभ्रंशमिच्छन्ति। यथाह संग्रहकारः—'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति ॥ १४८ ॥

गौ शब्द प्रयोग करने की इच्छा होने पर जो व्याकरण-संस्कार से हीन शब्द (गोणी, गावी, अस्व आदि) उसी सास्ना वाली गौ के लिए अथवा अश्व के लिए प्रयुक्त होने लगते हैं उन्हें अपभ्रंश कहते हैं ॥ १४८ ॥

शब्दानां साधुत्वमर्थविशेषनिबन्धनमित्याह—

शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व की व्यवस्था भी अर्थ विशेष में ही है।

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥ १४९ ॥

अस्वगोण्यादयः शब्दाः विषयान्तरे नास्ति स्वं धनं यस्येत्यस्मिन्नर्थे आवपने अर्थे च साधवः निमित्तभेदात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सर्वत्र अस्वादिशब्दे साधुत्वं व्यवस्थितम् धनाभावं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय प्रयुज्यमानः अस्वशब्दः साधुः अश्वत्वजातिं प्रवृत्तिनिमित्तमादायासाधुः आपनत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय गोणीशब्दः साधुः गोत्वजातिं प्रवृत्तिनिमित्तमादाय चासाधुरिति भावः ॥ १४९ ॥

जैसे अस्व शब्द दरिद्रता का वाचक है अश्व का वाचक नहीं और गोणी शब्द एक ढंग के बोरा का वाचक है गौ का नहीं, इस प्रकार अश्व और गोणी शब्द किसी भिन्न अर्थ में साधु होने पर भी अश्व और गौ अर्थ में असाधु हैं। क्योंकि साधुत्व सर्वत्र प्रवृत्तिनिमित्त पर स्थिर है। (अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वह शब्द उन उन अर्थों में साधु है) ॥ १४९ ॥

तार्किकाद्यभिमतं साक्षाद्वाचकत्वलक्षणं साधुत्वं निर्वक्ति—

जो तार्किक असाधु शब्दों को साक्षात् वाचक मानते हैं उनका मत है कि—

ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः ।
तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥ १५० ॥

पूर्वं ते अपभ्रंशाः गाव्यादयः साधूनां शब्दानां विषये प्रयुज्यमाना साधुषु अनुमानेन साधुशब्दविषयकस्मृत्या प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः अर्थावबोधकारणानि भवन्ति पश्चात्तादात्म्यम् अर्थतादात्म्यमुपगम्य इव शब्दार्थस्य प्रकाशका भवन्ति । तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये केनचित् अशक्त्या प्रमादेन वा गावीति प्रयुक्तं ततः श्रोतुः गौरितिप्रयोक्तव्ये गावीत्येनन प्रयुक्तमिति गोपदस्मृत्या गोविषयको बोधो जातः ततः पार्श्वस्थेन गावीशब्दादेवास्य बोधो जात इति भ्रान्त्या प्रतिपन्न-मिति तेन गावीशब्दस्य गोरूपेऽर्थे तादात्म्याभावेऽपि तदात्म्यमुपगम्य गावी-शब्दादेव साक्षाद्बोधो भवतीति भावः । स्पष्टं चेदं 'तदशक्तिश्चानुरूपत्वात्' इति सूत्रे शाबरभाष्ये ॥ १५० ॥

जब कोई असाधु शब्द का प्रयोग करता है तब साधु शब्द समझने वाला विद्वान् असाधु शब्द से साधु का अनुमान कर लेता है और उसी अनुमान के द्वारा अर्थ बोध होता है। बाद में पार्श्वस्थ बालक को तो बीच के अनुमान का पता नहीं चलता, वह गावी शब्द का गोरूप अर्थ में तादात्य मान बैठता है और उसे साक्षात् गावी शब्द से ही बोध होने लगता है॥१५०॥

ननु साक्षादेवापभ्रंशानां कुतो न वाचकत्वमित्यत आह—

किन्तु वैयाकरण असाधु शब्दों को साक्षात् वाचक नहीं मानते क्योंकि—

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः ।
ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः ॥ १५१ ॥

यतः शिष्टैः पर्यायाः साधव इव ते असाधवः स्मृतिशास्त्रेण व्याकरण-स्मृतिसूत्रेण न अनुगम्यन्ते तस्मात् साक्षादवाचकाः असाधव इत्यर्थः । यदि असाधवो वाचकाः स्युस्तदा यथा पर्यायाः साधवः करः हस्त इत्यादयः अनुगम्यन्ते

तथा तेऽपि अनुगम्येरन् नानुगम्यन्ते अतो न वाचकाः करः हस्त पाणिरित्येवमादिषु अभियुक्तोपदेशादनादिरमीपामर्थेन सम्बन्धः तस्मात्साक्षाद्बोधकत्वं साधुत्वं परम्परया बोधकत्वमसाधुत्वमिति भावः ॥ १५१ ॥

बड़े बूढ़े वैयाकरण जैसे साधु (कर, हस्त और पाणि) शब्दों को पर्याय मानते हैं और उनका व्याकरण सूत्रों से साधुत्व भी मानते हैं वैसे असाधु शब्दों का व्याकरण शास्त्र द्वारा साधुत्व और पर्याय नहीं मानते। इसलिए असाधु शब्द साक्षाद् अवाचक हैं ॥ १५१ ॥

साधौ प्रयोक्तव्ये कथमसाधूच्चारणं कुतो वा ततो बोध इत्यमुमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति—

साधु शब्दों को सिखाते समय असाधु शब्द का उच्चारण तो हो जाता है—

अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते ।
अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निर्णयः ॥ १५२ ॥

यथा अम्बाम्बेति शिक्षमाणः बालः अव्यक्तं प्रभाषते तद्विदां अव्यक्तप्रकृतिं व्यक्तं जानतां तेन अव्यक्तेन व्यक्ते साधौ निर्णयो साधुविषयकं ज्ञानं भवति इति । अव्यक्तशब्दज्ञानपूर्वकव्यक्तशब्दज्ञानाद्बोध इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

जैसे बालक को अम्बा अम्बा सिखाया जा रहा है किन्तु बोलने में असमर्थ बालक अव्यक्त (वं, वं) बोलने लगता है। किन्तु इसको समझने वाले लोग उस अव्यक्त (वं, वं) से अम्बा अम्बा का ही निर्णय करते हैं। (अर्थात् साधु शब्द का अनुमान कर लेते हैं।) ॥१५२॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते ।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ १५३ ॥

एवं साधौ गौरित्यादौ प्रयोक्तव्ये प्रयोक्तुमिष्टे योऽशक्त्या प्रमादाद्वा अपभ्रंशः गावीत्यादि प्रयुज्यते तेन अपभ्रंशेन साधुव्यवहितः साधुव्यवधानेन कश्चिदर्थोऽभिधीयते न साक्षादित्यर्थः ॥ १५३ ॥

इसलिए जो साधु शब्द का प्रयोग करने के स्थान पर अशक्ति अथवा प्रमाद से असाधु (अपभ्रंश) शब्द का प्रयोग करता है उसके उस असाधु शब्द से जो कोई अर्थ प्रतीत होता है वह साधु शब्द के व्यवधान से प्रतीत होता है (अर्थात् साधुशब्दानुमान द्वारा ही प्रतीत होता है) ॥ १५३ ॥

नन्वेवं साधुशब्दमजानतां स्त्रीशूद्रचाण्डालादीनां बोधो न स्यात्तेषामसाधुशब्दश्रवणेन साधुशब्दस्मरणासंभवादत आह—

किन्तु जो साधु शब्द नहीं जानते उन्हें असाधु शब्द सुनने से साधु शब्द का स्मरण भी नहीं होता उनके लिये तो साधु ही अवाचक है। क्योंकि—

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥ १५४ ॥

अभिधातृषु शब्दप्रयोक्तृषु विगुणेषु दन्तादिभङ्गवशेन विकलेषु सत्सु जायमाना अपभ्रंशा येषु स्त्रीशूद्रचाण्डालादिषु पारम्पर्यात्प्रसिद्धिमागताः तेषां स्त्री शूद्रादीनां साधुरवाचकः किन्तु असाधव एव वाचकाः साधवश्च असाधुस्मरणद्वारा बोधका इति मतिर्भवति ॥ १५४ ॥

जब शब्दों का उच्चारण करने वाले दाँतों के टूट जाने के कारण शुद्ध शब्द नहीं बोल पाते तब वे ही अपभ्रंश जिन लिगों में परम्परा से प्रसिद्ध हो जाते हैं उनके लिए साधु ही अवाचक है ॥ १५४ ॥

स्वमतेनापभ्रंशपदार्थं निर्वक्तुं वस्तुस्थितिमाह—

अपने मत से तो अपभ्रंश का दूसरा ही लक्षण है।

दैवी वाग्व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः ।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन्वादे बुद्धिविपर्ययः ॥ १५५ ॥

पुराकल्पे यथा मनुष्याणामनृतादिभिरसंकीर्णा वागासीत्तथा सर्वैरपभ्रंशैरसंकीर्णा पश्चात्तु अनृतादिभिरिवापभ्रंशैरपि संकीर्णा जाता इयंदैवी वाग् अशक्तैरभिधातृभिः व्यवकीर्णा व्यवच्छिन्ना अपभ्रंशपङ्कमलिनीकृता अस्मिन्वादे साध्वसाधु विभागे अनित्यदर्शिनां शब्दानित्यत्ववादिनां तार्किकाणां साधूनां धर्महेतुत्वमजानतां बुद्धिविपर्ययः एते अपभ्रंशा एवार्थबोधका इति भ्रमः साधुत्वेन व्यवह्रियमाणा अपि वाह्यमलसंक्रमादपभ्रंशा एव वाचो बाह्यमलसंक्रमश्च भेदरूपावभास एवेति भावः ॥

यह दैवी वाक् असमर्थ वक्ताओं के द्वारा भ्रष्ट कर दी गई। इसी लिये इस साधु शब्द और असाधु शब्दवाद में शब्द को अनित्य मानने वाले तार्किकों की बुद्धि उलट गई हैं वे असाधु शब्द को भी वाचक मानने लगे हैं ॥ १५५ ॥

स्वमते साधूनामिवासाधूनामपि वाचकत्वमाह—

उभयेषामविच्छेदादन्यशब्दविवक्षया ।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ॥ १५६ ॥

इति वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डं समाप्तम् ।

अन्यशब्दविवक्षया योऽन्यः शब्दः प्रयुज्यते सः अस्यार्थस्य अभिधायको न भवति न हि घट इति प्रयोक्तव्ये पट इति प्रयुक्ते कस्यापि घटरूपार्थप्रतिपत्तिर्भवति इति उभयेषां साधूनामसाधूनाम् अविच्छेदादविच्छेदेन शिष्टैः स्मरणात् वाचकत्वं सममिति शेषः। तदुक्तं भाष्ये 'समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चाप-

शब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते' इति तथाच स्वमते पुण्यजनकता... ...धर्मजनकत्व वाह्यमलसंक्रमरहितत्वं वा साधुत्वम्, तद्रहितत्वं चासाधुत्वमिति भाव... ...रया

न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल प्रण... ...
भावप्रदीपे ब्रह्मकाण्डं समाप्तम् ।

...मानते हैं और
...करण शास्त्र द्वारा
...हैं ॥ १५१ ॥
...नेनोपपाद

वस्तुतः जो किसी शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर दूसरे ... करने से उस अर्थ का बोधक नहीं होता है. किन्तु साधु शब्द और असाधु शब्द ...शिष्टों ने अबाध प्रयोग किया है अतः दोनों वाचक हैं ॥ १५६ ॥

इन दोनों मतों में भेद यह है कि साधु शब्द के प्रयोग से धर्म होता है और असाधु शब्दों के प्रयोग से धर्म नहीं होता है। इसलिए साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये। साधुत्व के बारे में कुछ मतभेद है। कुछ लोग साक्षात् बोधक को साधु और परम्परया बोधक को असाधु मानते हैं। वैयाकरण लोग पुण्यजनकत्व को साधुत्व और पुण्य अजनकत्व को असाधुत्व मानते हैं।

इस प्रकार वैयाकरणों के सिद्धान्त के रूप में शब्द के दो रूप व्यक्त किए गये। एक तो जगत् का कारण ध्वनि व्यङ्ग्य स्फोट रूप ब्रह्म और दूसरा कार्य रूप में परिणत शब्द इसलिये इस काण्ड का नाम ब्रह्म काण्ड है। द्वितीय काण्ड को वाक्यकाण्ड और तृतीय काण्ड को पद काण्ड कहा गया है।

न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल द्वारा रचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की हिन्दी व्याख्या समाप्त।



...पदीय-कारिकाणामनुक्रमणिका



